श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला २, ६

वर्णी-वाणी

(तृतीय भाग)



सङ्कलयिता और सम्पादक—

विद्यार्थी नरेन्द्र

काव्यतीर्थ, शास्त्री, साहित्याचार्य, बी० ए०

प्रकाशक—

श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला

भदैनीघाट, काशी

श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला काशी

ग्रन्थमाला सम्पादक और नियामक

फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

प्रथम संस्करण वीर नि० सं० २४८१

मूल्य ३॥)

मुद्रक

भंवरलाल गुप्त,

बम्बई प्रिंटिंग काटेज

बाँस फाटक,

बनारस।

समर्पण—

पूज्य गुरुवर्य श्री पं० [illegible]
साहित्य अध्यापक [illegible]
जिन्होंने मुझ जैसे अल्पज्ञ [illegible]
साहित्य-शिक्षा का [illegible]
संरक्षण का साहित्य [illegible]
मुझ सार्पित [illegible]
पूज्य [illegible]
के
कर कमलों
में
सादर
प्रेम—
नरेन्द्र

प्रकाशकीय वक्तव्य

जैसा कि हमने "वर्णीवाणी" द्वितीय भागका प्रकाशन करते समय सूचन किया था कि "भविष्यमें वर्णीवाणीका जितना संकलन होता जायगा उसका प्रकाशन तीसरे चौथे आदि भागोंके रूपमें ग्रन्थमाला द्वारा होता जायगा" इसके अनुसार प्रसन्नताकी बात है कि वर्णीवाणी तीसरे भागके प्रकाशित करनेका सौभाग्य अति शीघ्र ग्रन्थमालाको प्राप्त हो रहा है। इस तरह आत्मकल्याणार्थी पाठकोंको पूज्यपाद वर्णीजीके उपदेशका एक और सुयोग आत्मकल्याणके लिये प्राप्त होगा।

वास्तवमें आत्मकल्याणका साधन जीवनकी पवित्रता है। लेकिन जीवनकी पवित्रता परावलम्बनवृत्तिसे उन्मुख होकर अधिक से अधिक स्वावलम्बनवृत्तिका अवलम्बन ही हो सकती है। जिसके लिये पर (पौद्गलिक) वस्तुओंमें अनासक्तिकी भावनाका अन्तःकरणमें स्थान देते हुए उनका (पर वस्तुओंका) यथाशक्ति त्याग करना आवश्यक है। वैसे तो वर्णीवाणीके प्रत्येक भागसे इसकी प्रेरणा पाठकोंको मिलती है फिर भी तीसरे भागकी विशेषता यह है कि श्रीपण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्य सागरवालोंकी सत्कृपासे उनके द्वारा संकलित और संपादित पूज्यपाद वर्णीजीका दश धर्म उपदेशामृत भी इसमें जोड़ दिया गया है जो जनसमाजको अनासक्ति भावना और त्यागकी ओर अग्रसर होनेके लिये अत्यन्त स्फूर्ति प्रदान करता है। श्रीपण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्यके इस प्रयत्न और कृपाके लिये ग्रन्थमाला उनकी अतीव आभारी है।

दश धर्म उपदेशामृतके अतिरिक्त तीसरे भागके शेष विषयोंका संकलन और संपादन प्रथम और द्वितीय भागके समान श्री विद्यार्थी

नरेन्द्रजीने किया है। पाठक श्री विद्यार्थीजीसे काफी परिचित हो चुके हैं अतः उनके विषयमें मुझे विशेष कुछ नहीं कहना है। यही बात मैं श्री पंडित फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीके विषयमें भी कहना चाहता हूँ। साथ ही इतना अवश्य कहूँगा कि वे ग्रन्थमालाके संयुक्तमंत्री पदपर आसीन अवश्य हैं परन्तु मैं तो ग्रन्थमाला और पंडितजी दोनोंको पृथक् पृथक् माननेको तैयार नहीं हूँ। वास्तवमें कार्यकी दृष्टिसे ग्रन्थमाला पंडितजीके अतिरिक्त कुछ शेष नहीं रह जाती है।

इस समय भी मैं प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सहयोगियोंके प्रति आभार प्रदर्शित किये बिना नहीं रह सकता हूँ। कारण कि उनके सहयोगके बिना इसका सुचारु रूपसे प्रकाशित होना अशक्य था।

श्री १०५ पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय गुरुदेव वर्णीजी महोदयके विषयमें मुझ जैसे व्यक्तिका प्रशंसाके रूपमें कुछ लिखना शोभा नहीं देता जब कि इस सब प्रयत्नके मूल सूत्रधार वे ही हैं। आध्यात्मिक जगत्में जो उच्चतम स्थान उनको प्राप्त है उसके कारण अन्तःकरणसे बार बार यही आवाज निकलती है—

"तव पादौ मम हृदये मम हृदय तव पदद्वये लीन।
तिष्ठतु वर्णिमहोदय "

माननीय पाठकोंसे मैं यही आशा रखता हूँ कि वे प्रथम व द्वितीय भागकी तरह इस तीसरे भागको भी समुचित रूपसे अपनावेंगे।

निवेदक—

ता० २८-८-५४
काशी

वंशीधर व्याकरणाचार्य
मंत्री श्री ग० वर्णी ग्रन्थमाला काशी।

पूज्य वर्णीजीके साहित्यसे श्रद्धालु पाठक सुपरिचित हैं। द्वितीय भागकी तरह तृतीय भागके संकलन और सम्पादन करनेमें मैंने जो आनन्दानुभव किया वह वचनातीत है। दोनों ही भागोंकी वैसी ही माँग और तृतीय भागकी उत्सुकतापूर्ण प्रतीक्षा—यह दोनों ही उसकी लोकप्रियताके प्रतीक हैं। यह लोकप्रियता मुझे इस भागकी तरह चतुर्थ और पञ्चम भागको संकलित करनेकी प्रेरणा देगी ऐसा मेरा विश्वास है।

प्रस्तुत भागमें ली गई सामग्रीमें पूज्य गुरुदेव श्रीमान् पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य वसन्त महोदय द्वारा सङ्कलित व सम्पादित पूज्य वर्णीजीके सागरमें हुए प्रवचन इस पुस्तकको साङ्गोपाङ्ग बनानेमें एक गुरु वरदानके रूपमें प्राप्त हुए हैं। बिना सङ्केत लिपिका सहारा लिये, तत्काल बिना कुछ लिखे मन्दिरसे घर आकर समय मिलनेपर, वर्णीजीके प्रवचनोंको ज्योंका त्यों लिपिबद्ध करना पूज्य गुरुदेवकी विलक्षण क्षयोपशम शक्ति द्वारा ही सम्भव था। इस पुण्य कार्यके लिये मैं उनका चिरऋणी हूँ। शेष सामग्रीमें पूज्य श्रीकी सन् १९४७, ४८, ५०, ५१ की दैनन्दिनी तथा गयामें हुए प्रवचन प्रमुख हैं।

पूज्य गुरुमण्डलकी जिसकी सत्शिक्षा एवं शुभाशीर्वादसे इस पुण्य कार्यमें सफलता मिली श्रीमान् पूज्य पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री महोदय जिनके निःस्वार्थ सहयोगसे पुस्तक सङ्कलन सम्पादनमें सभी प्रकारकी सहायता मिली तथा अन्य सभी प्रत्यक्ष, परोक्ष सहयोगियोंका आभारी हूँ और भविष्यमें इसी तरहकी कृपाका आकांक्षी एवं भूलोंके लिये क्षमा प्रार्थी हूँ।

पूज्य वर्णी सन्तकी विमलवाणी—'वर्णीवाणी' से जगजनका कल्याण हो यही भावना है।

काशी वर्णी जयन्ती वि० सं० २०११	}	विद्यार्थी नरेन्द्र

कहाँ क्या पढ़िये ?

वर्णी-वाणी

[कल्याण-कुटीर]



वर्णी-वाणी

तृतीय भाग

मङ्गलाचरण

निष्कन्दो विद्यानां, सकलनिलयो धर्मतपसाम्,
निधिः कल्याणानां गुणगणचयः पूज्यचरणः ।
यतिस्थानं वाचां कविवरगणानां श्रमहरः,
गुरुर्वर्णी पूज्यो भवतु भवतां नित्यसुखदः ॥

कल्याण कुटीर

१ मन निर्मल भावनाकी चेष्टा करो। परोपकारकी भावना भी आत्मोपकारसे अनुस्यूत रहती है। बातोंसे न स्वोपकार होता है न परोपकार होता है। कायम उत्तम करनेमें स्वोपकार होता है। आत्म गल्पवादकी अपेक्षा एक मिनट भी उपयोग को निर्मल बनाने का प्रयत्न बहु कल्याणकारक होता है। जिस दिन यह कायम परिणत हो जायगा अनायास ही आत्म कल्याण हो जायगा।

(११।१।४७)

२ जब तक मनुष्य अपने कर्तव्यसे विमुख रहता है तब तक आत्मकल्याण करनेमें असमर्थ रहता है। कल्याणका मार्ग अत्यन्त सरल और सन्निहित है परन्तु हम उसे अति दूर और कठिन मानकर निरन्तर भयभीत रहते हैं। नाना प्रकारके मनुष्योंके पास जाते हैं, उनकी सुश्रूषा करते हैं, मिलता कुछ नहीं, परन्तु आशा लगी रहती है। इस प्रकार जन्म गवाँ देते हैं।

(२१।२।४७)

३ परकी निन्दा प्रशंसामें हर्ष-विषाद करना अधम पुरुषोंका कर्तव्य है। यदि कल्याण मार्ग चाहते हो तो इन विघ्नोंको टालो।

(२५।३।४७)

४ सबसे निर्मम भाव होकर सम्पूर्ण उपयोग शास्त्र स्वाध्यायमें लगाओ, गल्पवादमें समय मत दो, यही तुम्हारे कल्याणमें सहायक होगा।

(२०।४।४७)

५ अपना कल्याण करनेमें आपही शरण हैं। अन्यको शरण मानना मोही जीवोंकी प्रणाली है। मोही जीव जो न करे सो अल्प है।

(२३।४।४७)

६ जो नियम करो पूर्वापर परामर्श करके करो। यदि कोई विवेकी बुद्धिमान उसे अनावश्यक बतलावे तो त्याग दें। सच्चा परि नियम तो यह है कि आत्माको पर पदार्थोंसे रक्षित रक्खो। कल्याणकी उपादानता व अकल्याणकी उपादानता आत्मामें ही है अतः परकी निमित्तताको निमित्तता ही जानो। इन्यके पदार्थोंका मनन करो, परको समझानेकी अपेक्षा अपनेको समझाओ। इसीमें कल्याण है।

(२५।४।४७)

७ अन्तरङ्गकी शुद्धिमें बहिरङ्ग शुद्धि कारण नहीं। बहिरङ्ग शुद्धिकी उत्पत्ति भी अन्तरङ्ग कारणोंसे होता है अतः जब अन्तरङ्ग मलिन है तब बहिरङ्गमें भी आचार मलिन रहता है। बहिरङ्गमें जो ब्रह्मचर्य पालन करना है उसको यह भय रहता है कि मेरी आत्मा निन्द्य न कहलाय। जिनको निन्दाका भय नहीं वे अनाचारसे नहीं डरते। परमार्थसे जिनको आत्मकल्याण करना है वे लोककी अपेक्षा न करके ही आत्महितमें प्रवृत्ति करते हैं।

(२७।४।४७)

८ समागममें महान दुःख है। यदि सुख चाहते हो तो इसे छोड़ो। कल्याणका मार्ग तो आत्मामें है। आत्मा स्वभावी है, इसका कोई दूसरा साथी नहीं।

(१०।५।४७)

९ कल्याणका मार्ग अति सुलभ है। न तो किसीसे प्रीति करो और न किसीसे अप्रीति करो। जब यह निश्चय हो गया कि

न तो कोई मेरा शत्रु है, न मित्र है तब उन पदार्थोंसे किसलिये सम्बन्ध रखना ?

(२।१।४७)

१० आत्माका कल्याण तो निरपेक्ष वृत्तिमें है। वह तो दूर रही, प्रत्युत मनुष्य तो श्रद्धामें भी शून्य है।

(७।६।४७)

११ यदि कल्याणकी कामना है तो निरपेक्ष रहो। अपेक्षा करना ही संसारका कारण है।

(९।६।४७)

१२ सभी आत्म कल्याण चाहते हैं परन्तु उसके अनुकूल उपदेश नहीं मिलता। कथा जो हैं व यह चाहते हैं कि विशिष्ट मनुष्य प्रसन्न हो जाय, जनता कहीं भी जाय।

(१०।६।४७)

१३ आजकल राजसी भोजन मिलता है, सात्त्विक भोजन नहीं मिलता। इसका मूल कारण हमारी दुर्बलता है, रसनेन्द्रियकी लम्पटता है। कल्याणका मार्ग तो निर्मलता है।

(११।६।४७)

१४ मनुष्य प्राय कल्याणमार्गमें जाना चाहते हैं, परिस्थिति बाधक है। यह भी हमारी दुर्बलता है। जबतक कषायोंकी जातिसे हम परिचित नहीं निरन्तर दुःखके पात्र बने रहेंगे। यदि कल्याणकी प्रबलेच्छा है तब इन कषायोंका कृश करनेकी कोशिश करो।

(२१।६।४७)

१५ परिणाम ही कल्याण (नित्य सुख) का बाधक है। विकार आत्माका स्वभाव है जिससे आत्मा कभी रागी होता है, कभी द्वेषी होता है, कभी विरक्त होता है तो कभी हर्षित होता है,

निरन्तर आकुलित रहता है। अतः ऐसी भावनाको अपनाओ जो यह विकृत भाव मिट जावे।

(२६ । ७ । ४७)

१६ जो मनुष्य परको प्रसन्न करनेकी चेष्टा करता है वह अपनेको कल्याण पथसे दूर करता है। कल्याणका पथ तो निवृत्ति में है। निवृत्ति मार्ग वही है जो पर पदार्थमें आत्मबुद्धि मिटावे। पर पदार्थकी परिणति पराधीन है, उसे अपनाने की चेष्टा करना अन्याय है। अन्यायसे आत्मकल्याण होना कठिन है।

(२४।८।४७)

१७ कल्याणका मार्ग त्यागही में है। हम लोग जो कहते हैं यदि शतांश भी उसका पालन करें तब कल्याणका मार्ग सुलभ हो जावे।

(१७।६।४७)

१८ संसार दुःखका पिण्ड है, इसमें कल्याणका मार्गप्राप्त करना सरल नहीं और यदि जगतसे पीठ फेर लें तब सहज ही है। अभिप्राय ही तो बदलना है, वह स्वाधीनताकी बात है। स्वाधीनता स्वतन्त्रताम है।

(७।१०।४७)

१९ बहुत मनुष्योंकी दृष्टिआत्मकल्याणकी ओर है परन्तु जो प्रयास है वह अनुकूल नहीं। परसे चाहते हैं यही बड़ा त्रुटि है। इसे त्याग देवें आजही कल्याण पास है।

(१०।१०।४७)

२० आत्मकल्याणकी चर्चा तो सब करते हैं और बड़े-बड़े व्याख्यान देते हैं परन्तु कल्याणमार्गमें गमन करनेवाले [illegible] ही हैं।

"अनारतनाद वाचालाः सुलभास्तुच्छयोषिताः ।
दुर्लभाह्यन्तरार्द्रास्ते जगदभ्युज्जिहीर्षवः ॥"

अर्थात् बोलनेवाले मनुष्य और गर्जनेवाले मेघ बहुत हैं परन्तु अन्तरङ्गसे आर्द्र मेघ और मनुष्य जो संसारका उद्धार करनेवाले हैं वे बहुत दुर्लभ हैं।

(२।११।४७)

७१ समयका सदुपयोग कल्याणपथका साधक है।

(१०।१।४८)

७२ यदि अपना कल्याण करनेकी वाञ्छा है तो अपनेको परसे रक्षित रक्खो। परमार्थसे तुम्हारी रक्षा करनेवाला न कोई है और न तुम किसीकी रक्षा करनेवाले हो। मनुष्य स्वयं आपही अपना घातक है, और आपही अपना रक्षक है, केवल कल्पनाएँ आकाश कुसुमोंकी तरह हैं।

(१।५।४८)

७३ कल्याणका मार्ग उसको प्राप्त हो सकता है जो प्रत्येक अवस्थामें सुखी रहता है।

(१४।५।४८)

७४ मनुष्यजन्म कल्याणका कारण है यह नियम नहीं। कल्याणका कारण तो आत्माकी रागादिरहित परिणति है। आत्माका अहित न रागादि परिणति है और न नारक पर्याय है और न तिर्यक् पर्याय है। और न मनुष्यपर्याय हितकारी है और न देवगति हितकारी है। हितकारी तो यह है कि आत्मामें रागादि परिणति न हो। वर्तमानमें जो जो रागादि हों उनमें आसक्त मत हो जिससे उनकी सन्तान परम्परा न हो।

(१७।६।४८)

२५. कल्याणका मार्ग अन्यत्र नहीं, न तो तीर्थमें है और न मन्दिरोंमें है, न पुराणोंमें है, न सत्समागममें है अपितु केवल मूर्च्छा छोड़नेमें है।

जहाँतक बने, अपनेसे जो बने, उसे करो परकी अपेक्षा छोड़ो। परसे न तो किसी का कल्याण हुआ न होगा।

(३०।७।४८)

२६. श्रोताओंको मनमानी सुना देना, अपनी प्रभुता जमाना पाण्डित्य प्रदर्शन करना तथा 'हम ही सब कुछ हैं' इत्यादि मनो विकारोंके होते आत्मकल्याणकी लिप्सा अन्धे मनुष्यके हाथमें दर्पण सदृश है। दूसरा मनुष्य उस दर्पणसे चाहे मुख देख भी सकता है परन्तु अन्धेको कोई लाभ नहीं।

(२५।८।४८)

२७. कल्याणका मार्ग तो कुछ कठिन नहीं परन्तु उसकी ओर कोई लक्ष्य नहीं। हम कल्याण मानते हैं कि अपने अभिप्रायके अनुकूल परिणमन हो परन्तु ऐसा होता नहीं क्योंकि जितने भी पदार्थ हैं वे सब अपने अपने द्रव्यादि चतुष्टयके अनुकूल परिणमते हैं। उन्हें अपने अनुकूल परिणमना सर्वथा असम्भव है।

(२८।८।४८)

२८. कल्याणका मार्ग कहीं नहीं, उसकी प्राप्तिके अर्थ किसी व्यक्ति विशेषकी आवश्यकता भी नहीं। कल्याणका बाधक केवल अकल्याण है अतः अकल्याणका जो कारण है उसे न होने देना यही कल्याणका अबाधित मार्ग है।

(१९।१०।४८)

२९. कल्याण और अकल्याण दोनों ही स्वतन्त्र आत्माकी परिणति हैं। स्वतन्त्रका अर्थ यह है कि आत्मा ही इनका कर्ता है इनमें एक पर्याय तो विकारी है और एक अविकारी है। यही

दोनोंमें अन्तर है। दोनों ही पर्याय आत्माकी हैं, इनमें एक पर्याय उपादेय और एक हेय है। इसका कारण एक पर्यायके सद्भावमें जीवमें आकुलता होती है और एकके सद्भावमें निराकुलता रहती है। आकुलता दुःखकी जननी है अतः निरन्तर उससे बचना है यह हमें ज्ञात है।

(११ । ११ । ४८)

३० संसारकी दशा जो है वही रहेगी निरन्तर आत्मकल्याण करना हो यह इस चिन्ताको त्याग तो अनायास कल्याणके पात्र हो जाओगे।

(३० । ११ । ४८)

३१ समारम्भ जिनको आत्महित करना है वे परकी समालोचना करना छोड़। वे जो आत्मामें जो विकार भाव उत्पन्न होते हैं उनका त्याग। परके उपदेशसे कोई लाभ नहीं और न परको उपदेश देनेसे आत्मलाभ होता है।

(१२ । १२ । ४८)

३२ यदि कल्याणमार्गकी इच्छा है तो सब उपद्रवोंको त्यागकर शान्त होनेका काम करो। केवल लोकपणाके जालमें मत पड़ो। कल्याणका अर्थ है जो काम करो 'उसे फिर न करना पड़े' यही भावना भाओ चाहे अच्छा काम भी क्यों न हो।

(३१ । १२ । ४८)

३३ जो कार्य होता है उसकी उत्पत्तिका उपादान कारण स्वयं वही द्रव्य होता है। प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है। हम अनादिकालसे कर्म बन्धनमें पड़े हुए हैं, नाना प्रकारके भावोंसे लिप्त हो रहे हैं। ये भाव रागादिक हैं इनका उपादान कारण आत्मा है और निमित्त कारण मोह कर्मका विपाक है। जिस कालमें रागादिक होते हैं उस समय यह पर पदार्थमें प्रीतिरूप परिणमन करता

है और जब इसका उदय आता है उस समय अर्तातिरूप परिणाम का कर्ता होता है। इन परिणामोंका मूल उत्पादक मिथ्यात्व है। मिथ्यात्वके उदयमें यह जीव पर वस्तुमें आत्मीयताको मानता है। यद्यपि पर द्रव्य न अपना हुआ और न था और न होगा किन्तु हमारी परिणति मोहवश इस असत्य मान्यताको त्यागनेमें समर्थ नहीं। अतः जिन्हें कल्याण करना हो उन्हें सर्वप्रथम मिथ्या दर्शनका त्याग करना चाहिये। इसके त्याग होते ही पर पदार्थों में रागद्वेष सुतरां पृथक् हो जाता है। (२।२।५१)

३४ यदि आत्मकल्याण करना चाहते हो तो इन बाह्याड म्बरोंको प्रमुख दृष्टि इनसे पृथक् होनेकी चेष्टा करो। व्यर्थकी प्रशंसामें पड़कर आत्माको वञ्चित करनेका ढंग मत बनो। जितने भी प्रशंसा करनेवाले हैं सभी आत्मतत्त्वसे दूर हैं। प्रशंसा कराना और प्रशंसाकी लालसा करना दोनों ही महाहरी हैं। भगवानकी आज्ञा भी यह है कि यदि कल्याण चाहते हो तो न तो झूठी प्रशंसा करो, न कराओ।

(२६।४।५१)

३५ मौन रखनेकी आवश्यकता ही नहीं, यदि परको अपना मानना छोड़ दो तो अनायास मनोव्यापार उस ओर नहीं जायगा। काय, वचन, मनके व्यापार स्वाधीन नहीं। अन्तरङ्ग कषायके अधीन इनके द्वारा आत्मप्रदेश चञ्चल होते हैं। कर्तृत्व में मुख्य इच्छा कारण है। इच्छा, प्रयत्न तथा उपादान कारणका अपरान्त ज्ञान होना चाहिये। जहाँ मोहका अभाव हो जाता है वहाँपर काय, वचन और मनका जो व्यापार होता है उसमें पूर्व का संस्कार ही कारण है। कहनेका तात्पर्य यह है कि यदि कल्याण करनेकी अभिलाषा है तो मन, वचन और कायके व्यापारोंको संसारका कारण न मानो। (१४।५।५१)

३६ जितना अधिक बाह्य संसर्ग होगा उतना ही कल्याण मार्गका निरोध होगा। कल्याण केवल आत्म पर्याय है, जहाँ परके निमित्तसे भाव होते हैं व सब स्वतत्त्व परिणतिके निर्मलत्वमें बाधक हैं।

(१५।६।५१)

३७ किसीकी कथाको सुनकर सहसा विश्वास मत करो। अन्य कथाकी बात तो दूर रहो धार्मिक सिद्धान्तोंको श्रवणकर ऊहापोह द्वारा निर्णय करो। केवल श्रवणसे कोई लाभ नहीं। श्रवण तो शब्दों द्वारा प्रत्यक्ष ही होगा उन शब्दोंका बोध ही तो होगा। घट शब्दसे घटका बोध यदि तुमको यह ज्ञान है कि इसका पान्याकार कम्बुग्रीवादिमान घट है तभी होगा अन्यथा नहीं। अथवा घट पदार्थका बोध हो गया उससे क्या लाभ हुआ? इतना ही लाभ हुआ कि घट विषयक ज्ञान होनेसे घट विषयक अज्ञान दूर हो गया। इसी प्रकार यह ज्ञान हो गया कि रागद्वेष परपदार्थमें प्रीति रूप परिणाम होनेका नाम है। यह ज्ञान हमको रागसे उत्पन्न होनेवाली आकुलताको दूर नहीं कर सकता। इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञान होना मात्र कल्याणका साधक नहीं। अन्यकी कथा छोड़ो सर्वार्थसिद्धिके देव, लौकान्तिकदेव या सौधर्म स्वर्गका इन्द्र या अन्य सभी सम्यग्दृष्टि जीव पदार्थके स्वरूपको यथार्थ जानते हैं परन्तु सम्यक्चारित्रके बिना पञ्चमगुण स्थानवर्ती तिर्यञ्चके समान शान्तिका आस्वाद नहीं पाते। अन्यकी कथा छोड़ो जिनके पूर्ण ज्ञान है क्षायिकचारित्र है, वे मनुष्य भी अभी संसारमें हैं। जब तक सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान नहीं आस्रव होता ही रहता है। अतः जिनको कल्याण करना है वे कषाय और योगको त्यागें। योग तो उतना बाधक नहीं जितना कषाय बाधक है। कषाय भी उतना बाधक नहीं जितना बाधक मिथ्यात्व है। (१९।६।५१)

३८ यह विचार दृढ़तम होता जाता है कि कल्याणका कारण अन्य नहीं, आप ही हैं क्योंकि जब हम ही पापके कर्ता होते हैं और उसका फल एकाकी भोगते हैं तब स्वयं कल्याणके कर्ता भी हम ही हैं।

(२२ । ६ । ५१)

३९ कल्याण अकल्याणका सम्बन्ध तो आत्माके शुद्ध और अशुद्ध उपयोगसे है। उपयोग नाम चैतन्यके परिणामका है। जब चेतना किसी पदार्थके जाननेका प्रयत्न करता है उसके पहिले जो उसका भान है उसही का नाम दर्शनोपयोग है। अर्थात् दर्शनोपयोगका नाम ही आत्माको जाननेका है। ज्ञानोपयोग ही का नाम पर पदार्थका जानना आता है। जो परको जाने, आपको न जाने, उससे हमका क्या लाभ ?

(२१ । ७ । ५१)

४० कल्याणका मार्ग आपमें है और अकल्याणका मार्ग भी अपने ही पास है। हम अपने द्वारा ही कल्याण और अकल्याणका मार्ग अनादिसे अनन्त मानते आये हैं। बहुतसे अर्थात् बहुसंख्यक जीवतो ईश्वरको ही अकल्याण और कल्याणका कर्ता मानते हैं। यहाँ तक कहते हुए सुना गया है कि परमात्माकी इच्छाके बिना पत्ता भी नहीं हिलता। हम जो कुछ करते हैं उसी की इच्छापर निर्भर है परन्तु जब पाप करते हैं तब हम उसे स्वतन्त्र करते हैं। ईश्वर पाप करनेकी प्रेरणा नहीं करता। बहुतसे मनुष्य कहते हैं कि जो कुछ हम करते हैं कर्म ही कराता है। कर्म ही आत्माको अज्ञानी बनाता है। जब ज्ञानावरण कर्मका उदय आता है तब आत्मा अज्ञानी हो जाता है। कर्म ही ज्ञानी बनाता है। जब ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होता है आत्मा ज्ञानी बन जाता है। कर्म सुलाता और जगाता है जब निद्रावरण कर्मका उदय

और न उनका विषय ही सिद्ध हो सकता है परन्तु न जाने कितने जन्मपरा सञ्चय अन्तरङ्गमें है जिससे उद्धार होना कठिन है।
(२१।१।४७)

३ 'किसी से विशेष परिचय मत करो' यही शास्त्र की आज्ञा है परन्तु आत्मन्! तुम इसका अनादर करते हो अतः अनन्त संसारके पात्र होगे। तुमने जानकर जो दुःख पाये उनका स्मरण शास्त्रके मन्त्र दुःखदायी हैं परन्तु तुम इतने सहिष्णु हो गये हो कि अनन्त दुःखोंके पात्र होकर भी अपने आपको सुखी मानते हो।
(२२।१।४७)

४ ममयका अपहरण करना आत्माके उत्पन्न घात करना है। इसका तात्पर्य निज परिणतिसे है। ध्यक्य और अपक्य व्यवहार मोहनिमित्तक हैं, आत्मामें तो ज्ञाकृत रूपत्व है। इसका छोड़ कर जो वैभाविक भाव आत्मामें होते हैं वे ही भाव त्यागने योग्य हैं। जो भाव हो गया उसका त्याग होना अशक्य है, वह भाव न हो यही भावना श्रेयस्करी है।
(२३।१।४७)

५ संसारमें जहाँ स्वार्थ है वहाँ उससे परोपकार होना असम्भव है। जो मिला सो स्वार्थी मिला। इसका अर्थ यह है कि हम स्वयं स्वार्थी हैं इसीसे हमारी दृष्टि में परार्थ नहीं दीखता। हम स्वयं अज्ञानी हैं अतः संसार हमारी दृष्टिमें विपरीत भासता है। जिनने आत्महित नहीं किया वे मनुष्य नहीं पशु हैं।
(२४।१।४७)

६ संसारमें बन्धनका कारण परिग्रहभाव है। धन्य हैं उन महानुभावोंको जिन्होंने परिग्रहसे ममता त्याग दी। परिणामकी

गाते विचित्र हैं, यही भाव हुए कि सब त्याग कर निर्द्वन्द्व हो जाव।

(१४ । ३ । ४७)

७ प्रातःकालका समय स्वाध्यायमें ही लगाना चाहिये और जहाँ तक बने परके सम्पर्कसे बचना चाहिये। बहुत काल बीत गया आत्मज्ञानकी कथा तो बहुतकी परन्तु वह क्या है इसकी गन्ध भी नहीं आई। कहने और करनेमें महान अन्तर है अथवा आत्मज्ञान होनेसे भी क्या लाभ यदि राग-द्वेष-मोहकी कालिमा न गयी। जानना सुखका हेतु नहीं रागहानि सुखका हेतु है।

(१३ । ४ । ४७)

८ हे आत्मन्! अब तो निज हितमें लगो। केवल इन प्रपञ्चोंमें पड़कर क्यों अपने मार्गसे च्युत हो रहे हो? जब हम अपनी परिणति पर विचार करते हैं तब सबसे बड़ा दोष यह बात है कि अपनी निन्दा सुनकर विषाद और प्रशंसा सुनकर हर्षका अनुभव करते हैं।

(१ । ६ । ४७)

९ हे प्रभो! जिसमें जगतका कल्याण हो वह भाव मेरा हो। मैं ऐसा निर्मल हो जाऊँ कि एक दिन आपसे भी निरपेक्ष रहना पड़े। मैं तो यह चाहता हूँ कि वह भाव मेरे हों जो आपके सदृश हो जाऊँ अर्थात् संसार बन्धनसे छूट जाऊँ।

(१० । ६ । ४७)

१० मोहमें मनुष्य उन्मत्त हो जाता है। तुम्हें तो व्याख्यान ही आती है पर वास्तवमें अभी तुम मोहके चक्रसे छूटना नहीं चाहते।

(२६ । ६ । ४७)

११ परिणाम ही कल्याण (नित्य सुख) का साधक है। निरन्तर आत्माका यह भाव है जिससे आत्मा कभी रागी होता है, द्वेषी होता है, कभी विकृत होता है, कभी हर्षित होता है, तो कभी निरन्तर आकुलित रहता है अतः ऐसी भावनाका अन्वेषण करो कि यह विकृत भाव मिट जावे। बहुत आयु हो गई परन्तु आत्मतत्त्वका निर्णय न किया।

(२१।७।४७)

१२ यह तो संसार है, इसमें विरले ही सत्पुरुष होते हैं जो आत्माकी ओर लक्ष्य देवें। लक्ष्य देकर भी तद्रूप रहना अति कठिन है। कोई रहे, न रहे, प्रथम तुम तो अपना लक्ष्य स्थिर करो।

(१९।८।४७)

१३ शक्तिके अनुकूल व्रत करो, वाक्य बहुत मार्मिक है। इसका भी यही उचित है परन्तु हमको आजतक पता नहीं चला कि हममें शक्ति कितनी है? शास्त्रमें प्रतिदिन पढ़ते हैं कि आत्मामें अचिन्त्य शक्ति है परन्तु हम इतने कायर हैं कि क्षणमात्र भी राग छोड़ने में असमर्थ हैं।

(१।९।४७)

१४ जिन्होंने अपनेको समझा उन्होंने सब समझा और जिन्होंने अपनेको नहीं जाना उन्होंने कुछ नहीं जाना।

"एकोभावः सर्वथा येन दृष्टः, सर्वेभावाः सर्वथा तेन दृष्टाः।"

अतः आत्मदर्शनकी परमावश्यकता है।

(२६।९।४७)

१५ आज नवीन वर्षका आरम्भ होता है, यों ही समय बीतता जाता है परन्तु हमारी प्रवृत्ति कल्याणमार्गकी ओर नहीं

ज्ञानी, केवल रूढ़िके दास बन रहे हैं और यही संस्कार हैं जो अनादिसे आत्मामें लग रहे हैं।

(१।१।४८)

१६ हम मोहीजीव निरन्तर परपदार्थोंका गुण दोष विवेचना करते हैं, अपनेको नहीं जानते, केवल वाग् व्यवहार मात्रसे सन्तुष्ट हो जाते हैं।

(२२।१।४८)

१७ अनन्तानन्त तीर्थङ्कर हो गये वे भी संसारका उद्धार नहीं कर गये तब हम शक्तिहीन अल्पज्ञ क्या कर सकते हैं?

(१९।२।४८)

१८ मनुष्योंमें वह शक्ति है कि द्रव्यादि सामग्रीके द्वारा सब परिग्रहके त्यागी हो सकते हैं परन्तु मोहके द्वारा मैं इतना अशक्त हो रहा हूँ कि गृहवास छोड़कर भी स्वात्मकल्याणके मार्गसे दूर हूँ। यद्यपि मुझे दृढ़ श्रद्धा है कि मैं चेतन द्रव्य हूँ और साथमें यह भी दृढ़ श्रद्धा है कि अन्य कोई कल्याण न करेगा।

(११।२।४८)

१९ वस्तुतः 'कोई किसीका नहीं' इस वाक्यको गल्पवादमें न लाओ, कर्तव्य पथमें लाओ। 'परायेघरका भोजन इसमें बाधक है' इस कल्पनाको त्यागो। न तो कोई बाधक है और न साधक है। आत्मीय परिणति ही बाधक और साधक है।

(९।३।४८)

२० हम लोगोंमें सबसे महान दोष यह आ गया है कि किसीका वैयावृत्त नहीं करना चाहते, ग्लानि करते हैं, सम्यक्त्वके अङ्गमें जो निर्जुगुप्सा गुण है उसका आदर नहीं करते।

(११।३।४८)

२१ हे प्रभो आत्मन्! आज क्षुल्लक दीक्षा लेता हूँ, तूँ स्वयं ही सब कुछ है, शान्तिसे कार्य करना।

(१०।३।४८)

२२ हमने आजतक अपनी दया नहीं पाली। अपनी रक्षा न करना इसका अर्थ यह है कि हम यहां कहते हैं 'जीवोंकी रक्षा करो' परन्तु जीवोंसे अपनेको पृथक् समझते हैं। अन्यथा क्रोधादिक कषायोंसे अपनी रक्षा करते। आत्माकी परिणति जब क्रोधसे सन्तप्त होती है तब इसे चैन नहीं पड़ता।

(२१।३।५१)

२३ परमार्थसे हमने स्वरूपको नहीं समझा, यदि समझा होता तो कदापि परको नहीं अपनाते। अनादिकालसे विभ्रम ज्ञानके वशीभूत होकर जैसे कोई रज्जुमें सर्पकी भ्रान्तिसे भयभीत हो जाता है इसी प्रकार हमारी भी दशा हो रही है। शरीरको निजमान, उसकी परिणतिको निजमान कर्ता बनते हैं, जहाँ कर्तापन आया वहाँ भोक्तापन अनायास ही आजाता है। अतः सर्वप्रथम परपदार्थमें कर्तापन माननेकी जो बुद्धि है उसे त्यागो। जहाँ कर्तापन नहीं वहाँ संसार नहीं।

(५।५।५१)

२४ हम इतना पुरुषार्थ कर सकते हैं कि आत्मीय अभिप्राय विशुद्ध करनेमें आनाकानी न करें। हमारे अन्तरङ्गमें एक दोष नहीं, इतने दोष हैं कि उनकी गणना हमारे ज्ञानकी विषय नहीं। एक ओर हम कहते हैं कि हमने कुछ नहीं किया परन्तु दूसरी ओर प्रशंसाकी अन्तरङ्ग वासना स्थान बनाये अपना काम कर रहा है। यदि तुम्हारे कर्तृत्व भाव न था तो फलकी इच्छा कैसे? स्वयं कहा—'हम क्या जानते हैं?' परन्तु सर्वज्ञ बननेका दावा करते हैं। संसारको तुच्छ मानते हैं, जो कुछ है हमारे पास ही है।

(१५।५।५१)

७५ परमात्माके ज्ञानमें सब पदार्थ आते हैं, इससे बहुतसे मनुष्य मन्तोषकर लेते हैं—'क्या करें, ऐसा ही होना था' यह सिद्धान्त बहुत ही सुन्दर है परन्तु इसका यथार्थ उपयोग नहीं होता। यदि ऐसी श्रद्धा है तब कार्य होनेपर पश्चात्ताप क्यों करते हो? 'क्या करें, बड़ी भूल हुई।' हम भूलको अपनी मानकर भी उसे त्यागनेकी चेष्टा नहीं करते।

(२६।५।५१)

७६ शान्तिका रस अभी तक नहीं आया, यदि आया होता तब उसकी प्राप्तिका उपाय न करते। हम केवल जगतकी निन्दा और प्रशंसामें दृष्टिदान रखते हैं। जहाँ प्रशंसा हुई वहाँ प्रसन्नता और जहाँ निन्दा हुई वहाँ अप्रसन्नताका अनुभव करते हैं अतः जहाँपर यह व्यवस्था है वहाँ शान्ति रसका आस्वाद तो दूर रहे उसकी गन्ध भी नहीं आ सकती।

(३०।७।५१)

७७ जब अपने स्वरूपका विचारते हैं तब सिवाय जाननेके कुछ भी नहीं आता। चाहे हम दुःखका वेदन करें, चाहे सुखका वेदन करें, चाहे अन्यका वदन करें, सिवाय वेदनके और कुछ नहीं आता। इससे आत्मतत्त्वको यदि ज्ञानमात्र रह देखें तब कोई क्षति नहीं। केवल ज्ञान ही पदार्थ नहीं, यदि ज्ञान ही होता तब अन्यका वेदन कैसा?

(९।१०।५१)

आत्मतत्त्व

१ आत्मा यद्यपि अमूर्तीक चेतना द्रव्य है फिर भी पुद्ग
के साथ इसकी ऐसी स्निग्धता है कि पृथक् होना कठिन है।

(१ । ५ । ४७

२ आत्मामें अचिन्त्य शक्ति है। उसके सदुपयोग औ
दुरुपयोगसे ही यह संसार और मोक्ष दोनोंके मार्ग चल रहे
सदुपयोगमें अन्यके सहायकी अपेक्षा नहीं पड़ती, दुरुपयो
पदार्थान्तरोंकी अपेक्षा पड़ती है। दुरुपयोगसे तात्पर्य शुभाशु
पयोगसे है। सदुपयोगसे तात्पर्य निज परिणतिसे है। शुद्ध द्रव्य
परिणमनकी विशेष अवस्थाका नाम ही निज परिणति है।

(५ । ५ । ४

३ आत्मापर अधिकार रखना प्रत्येकका कार्य नहीं।

(७ । ५ । ४

४ लोकमें इस विषयकी बहुत अधिक चर्चा रहती है
'आत्मतत्त्व क्या है?' इसके अर्थ बड़े-बड़े पुराण और त
शास्त्रका अध्ययन करते हैं फिर भी आत्मतत्त्वमें सन्देह रखते
मेरी तो यह समझ है कि आत्मतत्त्वकी पहिचान प्राय स
रहती है अन्यथा अनुकूल पदार्थमें हर्ष और प्रतिकूल पदार्थमें वि
नहीं होना चाहिये।

(२१ । ८ । ४

५ आत्मा एक ज्ञानवान द्रव्य है। ज्ञानमें जाननेकी श
है। उसके द्वारा हम पदार्थोंका परिचय करते हैं परन्तु मोहसे इ
निष्ट कल्पना करते हैं।

(२२ । १० । ४

६ आत्मामें अनन्त शक्ति है परन्तु उसका विकास होना चाहिये। विकासके लिये परकी आवश्यकता नहीं प्रत्युत परके त्यागकी आवश्यकता है।

(२ । ११ । ४७)

७ कोई भी शक्ति आत्मस्वभावकी घातक नहीं, तुम स्वयं घातक मत बनो।

(१५ । २ । ४८)

८ आत्मा ज्ञानगुणवाला है, यह गुण ही आत्माके अस्तित्व को जनाता है। उसकी महिमासे ही आत्मा पर पदार्थोंसे भिन्न है। यदि उस गुणकी पहिचान न हुई तब तुम कुछ नहीं कर सकते।

(१९ । ६ । ४८)

९ चतुर्थ पञ्चम कालसे कुछ तत्त्व नहीं। आत्मा जब चाहे तब इस जघन्य कालमें भी श्रेयोमार्गका पात्र हो सकता है। आत्मामें जो विभाव भाव होते हैं उन्हें अनात्मीय समझ ऐसी चेष्टा करे कि उत्तरकालमें न होवें। जिस कालमें यह होवें उन्हें रागादि भावरूप अपनानेकी चेष्टा न करे। यह भी सम्भव नहीं, रागादि परिणाम ही तो विभाव हैं।

(२२ । ६ । ४८)

१० आत्मा एक चेतन द्रव्य है। इससे अतिरिक्त तुम्हारे ज्ञानमें जो भी विषय आता है अचेतन है। इन दोनोंका अनादिसे सम्बन्ध चला आ रहा है। यह दो पदार्थ हैं, दोनों मिलकर तादात्म्य सम्बन्धसे एक नहीं होते। गुण-गुणीका तादात्म्य होता है, दो द्रव्योंका तादात्म्य आजतक न हुआ और न होगा। मोही

बना लिया जाय, उस अवस्थामें देखनेवाला दोनोंको एक पिण्ड पर्यायमें देखेगा, न उसे शुद्ध सुवर्ण कहेगा, न शुद्ध चाँदी ही कहेगा किन्तु अशुद्ध सोना ही व्यवहार करेगा। यद्यपि उस पिण्डमें जो सोना है वह सोना ही है, चाँदी नहीं हुआ और चाँदी सोना भी नहीं हुआ। एक तोला सोना और एक तोला चाँदी उस पिण्डमें है। बाजारमें उस पिण्डको बेचा जावे तब लेनेवाला जौहरी उसका मूल्य यदि २००) तोला सोनाका भाव है तब १००) तोला देगा। तब दो तोलके २००) ही तो मिलेंगे। अतः सिद्ध होता है कि द्रव्य दृष्टिसे सोना उतना ही था जितना पहिले था। यथावस्थामें चाँदीके मेलसे उसके जो स्पर्शादि गुण थे वे विकृत हो गये। इसी तरह आत्माका भी पुद्गल द्रव्यके साथ बन्ध होनेसे ज्ञाता दृष्टा जो उसका स्वभाव था वह मोहादि रूप परिणम गया।

(२५।४।५१)

११ संसारमें कोई भी शक्ति ऐसी नहीं जो आत्माको सुधार और बिगाड़कर सके। यह अपने परिणामोंसे ही अपना शत्रु और मित्र हो जाता है। आप ही आप अपना श्रेयोमार्ग और विपर्यय मार्ग बना लेता है, अन्य तो निमित्त मात्र हैं। अचेतन पदार्थमें यही प्रक्रिया है किन्तु उसमें अभिप्राय व चेतनता नहीं परन्तु परिणमन शील वह भी है। जैसे कुम्भकार निमित्तको पाकर मिट्टी घटरूप हुई। देखनेवालेको यह प्रतीत होता है कि कुम्भकार ने घट बनाया, परमार्थसे अन्तर व्याप्य-व्यापक भावकर मृत्तिका ही घट रूप परिणमी और मृत्तिका ही कलश पर्यायके साथ तादात्म्य सम्बन्धकर अनुस्यूत है। बाह्य व्याप्य-व्यापक भावके द्वारा कलशकी उत्पत्तिके अनुकूल व्यापारको कुम्भकार करता है और कलशसे जो तोयका उपयोग होता है उसको पान करनेवाला जो कुम्भकार है उसके तज्जन्य जो तृप्ति हुई उसका कुशल भोक्ता

परन्तु लोगों द्वारा ऐसा व्यवहार होता है कि कुलाल घटका कर्ता है और उसका भोक्ता भी है। ऐसी लौकिक जनोंकी रूढ़ि है, यही व्यवस्था सर्वत्र है। वास्तवमें अनादिकालसे जीव परपदार्थके सम्बन्धसे बन्धरूप अवस्थाको धारण करता है और अनादिसे मोहका सम्बन्ध है। इससे निजको परके माननेका व्यामोह है और यही मोह संसारका कारण है। इसके मेटनेके लिये इतने मत संसारमें हैं कि उसका एक पुराण बन सकता है।

(२१।४।५१)

१२. आत्मा अचिन्त्य शक्तिवाला है चाहे वह किसी पर्यायमें हो। गुणोंके विकाशमें अन्तर हो सकता है परन्तु गुणोंकी सत्ता जितनी सिद्ध भगवानमें है उतनी ही एक निगोदिया जीवमें है केवल विकाशकी विभिन्नता ही भेदका कारण है।

जिस माता पितासे बालक उत्पन्न होता है उसीको अपना मानता है। उसमें माताका तो पुत्रोत्पत्तिमें साक्षात्सम्बन्ध है क्योंकि वह मातृउदरमें ही गर्भधारण करता है और उसकी वृद्धिका मूल कारण पिता है। यद्यपि पिताके वीर्य बिना गर्भ धारण नहीं होता परन्तु गर्भधारण बाद पिताकी आवश्यकता नहीं रहती, माता ही के द्वारा उसकी वृद्धि होती है। जब तक वह गर्भमें रहता है तब तक तो अबुद्धिपूर्वक उसका पोषण होता है परन्तु जब गर्भसे निकलकर बाहर आता है तब माताके स्तनद्वय दुग्धको पीकर वृद्धिगत हो जाता है। पश्चात् अन्नादि द्वारा उसकी वृद्धि होती है। ऐसी सब बालकोंकी व्यवस्था है। जिन बालकोंको समागम अच्छा हुआ वे अच्छे हो जाते हैं, जिन्हें समागम अच्छा न मिला वे जघन्य प्रवृत्तिके हो जाते हैं।

(१।५।५१)

आत्मा अनन्त गुणोंका पिण्ड है। ज्ञान गुणको त्याग शेष गुण ज्ञान परिणमनसे शून्य हैं। ज्ञान गुण ही एक ऐसा है जो स्वपर प्रकाशक है अतः ज्ञानमें ज्ञानातिरिक्त जितने गुण हैं व प्रतिभासमान होते हैं। तथा ज्ञान भी प्रतिभासमान हो रहा है। यह सिद्धान्त सबके प्रत्यक्ष है। इसीसे आत्माको ज्ञानमात्र कहा है। यह सिद्धान्त निर्विवाद है कि आत्मा ज्ञानादि गुणोंका पिण्ड है और वे गुण परस्परमें भिन्न भिन्न स्वरूपको लिये हैं, एक गुणका परिणमन दूसरेमें नहीं मिलता। जैसे एक आममें रूपादि गुण हैं, कोई विज्ञान ऐसा नहीं जो रूप को रस, गन्ध, स्पर्शसे पृथक् कर दे किन्तु इन्द्रियजन्य ज्ञानमें वह शक्ति है जो रूपादिको पृथक् पृथक् विश्लेषण करके दिखा देता है। इसी प्रकार ज्ञानादिगुणोंको भिन्न दशा दर्शाने की शक्ति ज्ञान हीमें है। जब एक गुणका स्वरूप एक आधारमें रहकर अन्य गुणरूप नहीं होता तब जो परद्रव्य हैं वे आत्मारूप कैसे हो जावेंगी? जब वे आत्मरूप नहीं हो सकती तब शरीरको आत्मा मानना सर्वथा अनुचित है, क्योंकि शरीर तो चेतना गुणसे शून्य है, पुद्गल परमाणुओंका पिण्ड है व पर है।

(१९।५।५१)

१४ आत्मा वस्तु ज्ञान दर्शनमय है। यह इसका स्वरूप कालत्रय व्यापी है। इसके अतिरिक्त जो परिणमन है वह औदयिक परिणमन कर्मके उदयमें होता है। विकार है। जैसे कषायके उदयमें क्रोधादि भाव होते हैं व भाव होते तो आत्मामें हैं परन्तु विकारी हैं। विकारका कारण उदय है। उदय आत्मामें एक घातिकर्मोंका होता है एक अघातिकर्मोंका होता है। घातिकर्मका सम्बन्ध पाकर ही अघातिकर्म अपने कार्यमें समर्थ होते हैं। घातिया कर्मोंमें जब तक मोहका उदय है तब तक ही यह जीव ब्राह्मण

आदि वर्णका स्वामी बनता है तभी तक अनात्मीय भावोंका स्वामी बनता है, अपनेको महान् और जगत्को तुच्छ मानता है। पर पदार्थोके द्वारा मोक्ष और संसारकी उत्पत्ति मानता है। अनेक धर्मोका सृजन करता है, असंख्य देवी और देवताओंकी कल्पना करता है। परके अतिशयमें निरन्तर मुग्ध रहता है, परको प्रसन्न कर मोक्षमार्ग मानता है। परको प्रसन्न करनेमें ही शुभ बंध मानता है। कहाँ तक कहें इसी विडम्बनामें जन्म गमा देता है।

(२३। ५। ५१)

१५ श्री कुन्द कुन्द मुनी उनके समयसारसे मेरी तो यह उत्तम श्रद्धा हो गई है कि आत्मा भिन्न है और पुद्गल भिन्न है। आत्मा, पुद्गल दोनोंमें यद्यपि द्रव्य सामान्यका लक्षण जानेसे कुछ भी अन्तर नहीं। जैसे गुणका लक्षण सहभावीपना है। यह लक्षण चेतन और अचेतन सभी गुणोंमें सामान्यरूपसे विद्यमान है फिर भी चेतन गुण और अचेतनगुण भिन्न भिन्न हैं। इसी तरह जान और पुद्गल इनके लक्षण भिन्न भिन्न होनेसे ये पृथक् पृथक् हैं। जब यह निश्चय हो गया कि जीव द्रव्य पुद्गल द्रव्यसे भिन्न है तब यह जो शरीर है उसमें रूप-रस-गन्ध स्पर्श होनेसे पुद्गल द्रव्यकी यह पर्याय है। जब यह निर्णय हो गया कि आत्मा द्रव्य पुद्गलसे भिन्न है तो फिर उसे अपना मानना सर्वथा उत्तम नहीं। हाँ, इन दोनोंके सम्बन्धसे ही यह मनुष्यपर्याय उत्पन्न हुई है। जैसे स्वर्ण और रजत मिलकर एक पिण्ड हो गया। उस एकतामें हम उसे न तो रजत ही कहते हैं और न स्वर्ण ही कहते हैं किन्तु विजातीय दो द्रव्योंके सम्बन्धसे निष्पन्न पर्यायको खोटा स्वर्ण कहते हैं। तत्त्व दृष्टिसे विचारो तो जो स्वर्ण है वह खोटा (दूषित) नहीं और जो दूषितपना है वह स्वर्ण नहीं। केवल रजत के सम्बन्धसे जो मलिनता आयी है वही तो उसमें यह व्यवहार करा रही है।

मलिनता केवल रजकी भी नहीं, यदि रजकी होती तब तो शुद्ध रजमें भी होना चाहिये सो नहीं देखी जाती, अत कथञ्चित वह यह मलिनता संयोगज है। इसीतरह जीव और पुद्गलके सम्बन्धसे जो मनुष्यपर्याय निष्पन्न हुई वह केवल आत्माकी नहीं यदि आत्माकी होती तब केवल आत्मामें उसका अस्तित्व होना चाहिये सो नहीं। यदि पुद्गलमात्रकी है तब केवल पुद्गलमें होना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता अत सिद्ध हुआ कि यह मनुष्यपर्याय उभय द्रव्यके संयोगसे पैदा हुई।

ऐसा होनेपर भी यदि विलक्षण किया जाय तो दोनों द्रव्यकी सत्ता पृथक् पृथक् है। इसमें एक चेतन और एक अचेतन है। चेतन द्रव्यमें अनादिकालसे मोह लगा हुआ है। इस पुद्गल परिणमनका जो आत्मके सम्बन्धसे हुआ अपना र है। जैसे कुम्भकारके निमित्तको पाकर यह पर्याय हुई बार इसे निज मान तब इसे लोग अज्ञानी ही कहें आत्मा और पुद्गलके सम्बन्धसे उत्पन्न जो म आत्मा सर्वथा अपनी माने यह महता अ अवश्य है कि आत्माके विभाव परिणामके होता है। वर्तमान आत्मामें जो यह पर्या है उसका तादात्म्य जिस पर्यायसे आ उन परिणामोंका अभाव हो जाता नहीं। कर्मका ज्ञान जब उत्पन्न ह वरणका सर्वथा अभाव हो अत उसे कथञ्चित् नित्य म

१६ 'आत्मामें ज्ञा
नहीं। ज्ञान होनेपर जब उसे मानना न

है ? तड़पता है, दुखी होता है। अब आप ही निर्णय करो कि उसका महत्त्व कहाँ गया ? कदाचित् जाननेवाला ज्ञान है इससे उसकी पूज्यता है परन्तु यह भी तो विचार करो कि यदि अन्य पदार्थ ही न होता तब ज्ञान किसको जानता ? अतः तत्त्वदृष्टिसे विचार करो, न कोई बड़ा है, और न कोई लघु है। सब पदार्थ अपने अपने स्वरूपमें प्रवर्त रहे हैं, केवल मोही जीव किसीको महान् और किसीको जघन्य व्यवहार करते हैं। देखिए, विचारिये, अनुभवमें लाइये, जो जीव मोक्षका अभिलाषी है वह तो—

> "मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
> ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥"

जिसमें मुक्तिके कारण विद्यमान हैं उसे नमस्कार करता है। इसलिए कि उसे मुक्तिकी इच्छा है परन्तु जिसे मोक्ष जानेकी इच्छा नहीं वह उस वीतरागदेवको नमस्कार नहीं करता। इससे जो मुक्ति अभिलाषी है वह उस देवको पूज्य मानता है, जो तद् भिलाषी नहीं वह उसे पूज्य नहीं मानता। इससे सिद्ध हुआ कि वीतरागदेव न पूज्य हैं और न अपूज्य हैं। लोग अपनी कल्पनाओंके वश होकर उनमें अनेक कल्पनाएँ करते हैं। वस्तुस्थितिपर विचार करो तब सब व्यवस्था अनादिसे अपने परिणमनके अनुसार हो रही है, और पहिले थी, इसीप्रकार भविष्यमें भी होगी। अतः वस्तुस्वरूपपर दृष्टि डालो तथा सबके साथ निर्मल व्यवहार करो जैसा अपनेको समझते हो वैसा ही अन्यको भी मानो।

(२१।६।५१)

१७ आत्मा वस्तु अतीन्द्रिय है। वह इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न ज्ञान से नहीं जाना जाता। इन्द्रियोंसे जो ज्ञान होता है वह रूपीपदार्थोंके जाननेमें ही समर्थ है। यह भी उपचार है। परमार्थसे ज्ञान अपने

परिणमनको जानता है परन्तु जो ज्ञान रूपीपदार्थोंके सम्बन्धसे होता है उसीमें रूपादिकके प्रतिभासमान हैं। आत्माके जाननेमें पर ज्ञान समर्थ नहीं। आत्माका मानस प्रत्यक्ष होता है।

(२१।७।५१)

१८ जिस भावको आत्मा करता है उस आत्माका वह भाव कर्म होता है और वह आत्मा उसका कर्ता होता है, चाहे भाव शुभ हो, चाहे अशुभ हो। जिस समय आत्मा जिस भावका परिणमन करता है उस रूप हो जाता है। जैसे लोहेका गोला जिसकालमें अग्निमें तप्तायमान हो जाता है उस कालमें तन्मय ही है। इसीप्रकार जब आत्मा शुभभाव रूप परिणमता है उस कालमें तन्मय हो जाता है। अतः जो यह कथन है कि—

"ण वि होदि पमत्तो ण अपमत्तो जाणओदु जो भावो।
एव भणंति सुद्ध णाओ जो सो उसो चेव॥"

सो यह केवल द्रव्यकी अपेक्षासे कहा है। केवल जीव द्रव्य न तो प्रमत्त है, और न अप्रमत्त है। प्रमत्त व्यवहार प्रथमगुणस्थानसे लेकर छठवें गुणस्थान पर्यन्त होता है। अनन्तानुबन्धी कषायसे लेकर जहाँतक संज्वलन कषायका विशिष्ट उदय रहता है वहाँतक आत्मामें प्रमादका व्यवहार होता है। सप्तम गुणस्थानमें कषायका उदय है परन्तु उसे प्रमाद शब्द वाच्यतासे व्यवहार नहीं करते। सप्तम गुणस्थानसे लेकर आत्मामें अप्रमत्तका व्यवहार होता है। यह दोनों व्यवहार सापेक्ष हैं। केवल द्रव्यका विचार किया जावे तब न प्रमत्त है और न अप्रमत्त है। इसका अर्थ यह नहीं कि जो प्रमत्त और अप्रमत्त अवस्थाएँ हैं वे आत्मद्रव्यकी नहीं और जो आत्मद्रव्य है वह इन अवस्थाओंसे सर्वथा शून्य है।

(५।८।५१)

१९ परमार्थसे सब द्रव्य भिन्न भिन्न हैं। कोई द्रव्य किसीके साथ तन्मय नहीं होता। फिर दो द्रव्योंमें परस्पर इतना निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है कि आज जो यह अखिलविश्व दृष्टिपथ हो रहा है वह न केवल पौद्गलिक है और न केवल चैतन्यका ही विकार है अपितु यह दोनोंका ही परिणाम है। आज जो यह तुम्हारा मानवीय शरीर है, जिसकी उपमा दूसरे शरीरसे नहीं दी जा सकती। देव शरीर भी इसके सामने अपनी प्रभुता नहीं दिखा सकता, तिर्यञ्च और नरक शरीरोंकी कथा तो दूर रहो। इस शरीरके साथ आत्मामें यह योग्यता आ जाती है कि आत्मा अनन्त संसारके बन्धनोंका उच्छेदकर सिद्धगतिका पात्र हो जाता है। यद्यपि यह परिणाम आत्माहीका है परन्तु यह परिणाम मानव शरीर विशिष्ट आत्माके ही होता है। अतः हमें उचित है कि अपनी परिणतिको इतनी निर्मल बनानेकी चेष्टा करें कि घर घरके भिखारी न बनें। कायरता ही दुःखकी जननी है, किसीकी आशा मत करो, आशासे मिलता भी कुछ नहीं। अतिरिक्तपदार्थोंका तो कभी भी मोह मत करो, तुम्हारा जो गुण [illegible] है उसको प्राप्त करो, उसकी प्राप्तिके लिये स्वयं संयमी बनो।

(१५।८।५१)

२० वेदान्ती अद्वैतवादको मानते हैं—

"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।
आरामं तस्य पश्यन्ति न तत् पश्यति कश्चन॥"

इस संसारमें अद्वितीय ब्रह्म एक ही है। यह जो नानापन आप लोगोंकी दृष्टिमें आ रहा है, कुछ नहीं है, उसका विवर्त मात्र है। उसको आप लोग देखते हैं पर उस ब्रह्मको कोई नहीं देखता, यही संसार है।

यह देह या जो ये दृश्यमान पदार्थ हैं वे हमारे नहीं हैं, यह बात तो दूर रहा, जिस द्रव्येन्द्रियके द्वारा आत्मा देख रहा है वह भी इसकी नहीं। यह भी जाने दो, जिस भावेन्द्रियके द्वारा जानता है वह भी आत्माका नहीं, क्योंकि वह भी एक क्षयोपशम जनित पर्याय है। इसको भी छोड़ो, अवधि और मनःपर्यय ज्ञानभी आत्माके हैं, उनका भी केवलज्ञानके समयमें अभाव हो जाता है तब आत्माका निज लक्षण केवल जो ज्ञान है वही तो शेष रह जाता है अतः ऐसी चेष्टा करो कि वही रह जावे, वह तो सर्वदा शक्ति रूपसे है, उसमें जो विकार आ गया है वही पृथक् करो, व्यर्थके उपद्रवोंमें मत पड़ो।

(३०।८।५१)

२१ जो आत्माकी यथार्थतासे अनभिज्ञ हैं वे आत्म स्वरूपसे वञ्चित हैं। परम निजत्वका व्यामोहकर निरन्तर दुःखके पात्र रहते हैं।

(३।९।५१)

'न त्वं विप्रादिको वर्णो नाश्रमी नाक्षगोचरः।
असङ्गोऽस्मि निराकारो विश्वसाक्षी सुखी भव॥'

२२ वास्तवमें विचारकर देखा जावे, तब आत्मा न तो ब्राह्मण है, न क्षत्रिय है, न वैश्य है और न शूद्र है। यह जो मनुष्य पर्याय है असमान जातीय जीव और पुद्गल द्रव्यके परस्पर सम्बन्धसे है। फिर भी इन दोनों द्रव्योंका परस्परमें तादात्म्य नहीं है। जीव चेतन लक्षणको लिये हुए भिन्न है, पुद्गल अपने लक्षणको लिये हुए भिन्न है। किन्तु दोनोंका बन्ध होनेसे दोनों अपने स्वरूपसे च्युत हो गये हैं। द्रव्य दृष्टिसे तो द्रव्यमें कोई विकार नहीं किन्तु पर्याय दृष्टिसे विकार हो गया है। जैसे चाँदी और

सोना दोनों मिलकर एक पिण्डावस्थाको प्राप्त हो गये। फिर भी सोना जितना पहिले था उतना ही है और चाँदी भी उतनी ही है किन्तु पिण्डावस्थामें सोना अपने स्वरूपसे च्युत हो रहे हैं। यही अवस्था आत्मा और पुद्गलकी है किन्तु यहाँ विजातीय दो द्रव्य हैं अतः आत्माका जो विभाव परिणमन होता है वह आत्मामें होता है। जिस कालमें आत्मामें पुद्गल कर्मके विपाकसे रागादिक होते हैं वे पुद्गल कर्मके विपाकसे भिन्न ही हैं और रागादि अज्ञान परिणत आत्माको निमित्त पाकर पुद्गलमें जो ज्ञानावरणादि पर्याय होती है वह रागादि अज्ञान परिणाम हेतुसे भिन्न ही पुद्गलद्रव्यका परिणमन है अतः वस्तु मर्यादा जानकर अकरण किसीके कर्ता मत बनो।

(८।१।५१)

'अविनाशिनमात्मानमेकं विज्ञाय तत्त्वतः।
तदात्मज्ञस्य धीरस्य कथमर्थार्जने रतिः॥'

२३ आत्मा अविनाशी है, एक है, उसे परमार्थसे जिसने जान लिया है उस आत्मज्ञानी के जो जड़ है, विनाशी है, पुद्गल की पर्याय है, उसके अर्जन करनेमें रति क्या होती है? इसका मूल कारण अज्ञान है। यदि वह तत्त्वतः आत्माको जानता तब आत्मा का स्वरूप उसे ज्ञाता द्रष्टा ही दिखाई देता, जिससे आभ्यन्तरमें अन्यपदार्थोंका अंश भी नहीं जाता, केवल ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध परके साथ होता है फिर भी मोहके द्वारा उन्मत्त होकर परको आत्मीय मानकर उन पदार्थोंके संग्रह करनेमें निरन्तर पुरुषार्थ करता है। फल उसका अनन्त संसार होता है। संसारके समस्त अनर्थोंका मूल यही परपदार्थोंमें आत्मीयता है। जिसको आत्मीय मान लिया उसका रक्षा करना अपना कर्तव्य मान लेता है। यही कारण है कि

आवश्यक कार्योंमें भी अपना व्यय करनेमें संकोच करता है। संसारमें अनेक प्राणी आपत्तिमें पड़े हैं यदि उनको धनादि द्रव्यकी सहायता मिल जावे तब वह अपने प्राणोंकी रक्षा कर सकते हैं परन्तु जिसने धनको अपना सर्वस्व मान लिया है वह अन्यकी कथा त्यागो अपने प्राण भी संकटमें आ जावें तब भी उसे व्यय नहीं करता। अतः जिन्हें आत्मकल्याण करना इष्ट है वह इस धनसे ममता त्यागें।

'आत्माऽज्ञानाद् जगद्भाति आत्मज्ञानान्न भासते।
रज्ज्वज्ञानादहिर्भाति तज्ज्ञानाद् भासते नहि॥'

आत्माके अज्ञानसे यह संसार प्रतिभासता है और आत्माके ज्ञान होनेपर नहीं प्रतिभासता है। अर्थात् परमें विपर्यय ज्ञान है तभी तक संसार है। संसारमें मोहके द्वारा यह आत्मा स्वस्वरूपसे अपरिचित है, शरीरको ही आत्मा मानता है। अतः निरन्तर उसीके अर्थ व्यापार करता है। इसीके अनुकूल जो पदार्थ होते हैं उनके संग्रह करने और इसके प्रतिकूल जो पदार्थ होते हैं उनके निग्रह करनेमें आत्मशक्तिका उपयोग करता है। पदार्थ न तो अनुकूल हैं, न प्रतिकूल हैं। यह कल्पना मोही प्राणीकी है जो पदार्थ आत्मीय रुचिके अनुकूल हुए उन्हें अपनानेका प्रयत्न करता है। और जो रुचिके प्रतिकूल हुए उन्हें पृथक् करनेके लिये प्राणपनसे प्रयत्न करता है। यद्यपि कोई भी परवस्तु वर्तमानमें इसके अभिप्रायके अनुकूल नहीं देखी जाती परन्तु फिर भी मोही जीव निरन्तर अपनानेका प्रयत्न करता है। यदि अपनेको किसी कारणसे व्यग्रता है तो उस कालमें इष्टतम पदार्थ भी उसको प्रसन्न करनेमें समर्थ नहीं, अथवा हमारा जो इष्ट पदार्थ है वह रोगग्रस्त है, हमारे अनेक यत्न करनेपर भी उसका रोग नहीं जाता।

(१८।९।५१)

२४ आत्मा ज्ञाता द्रष्टा है। जो पदार्थ उसके समक्ष आता है वह उसे जानता है इसके पहिले स्वकीय स्वरूपका द्रष्टा है, जो द्रष्टा है वही ज्ञाता है। आत्मा एक है जैसे आत्मा द्रष्टा है वैसे ही ज्ञाता भी है।

(२१।९।५१)

२५ यद्यपि आत्माका शुद्धरूप निर्मान है, यही आत्माका असाधारण धर्म है, यही शुद्ध आत्माका स्वरूप है। इस स्वच्छतामें जगत प्रतिभासमान होता है। जैसे दर्पणरूपी पदार्थ है, उसमें स्वच्छता है, उसके समक्ष जो भी पदार्थ आवेगा प्रतिभासित हो जावेगा अर्थात् पदार्थ तो पदार्थके क्षेत्रमें है किन्तु उस पदार्थके निमित्तको पाकर दर्पणमें उसी पदार्थके सदृश परिणमन हो जाता है किन्तु उस पदार्थके गुण, धर्म उसमें नहीं आते। जैसे दर्पणके समक्ष यदि अग्नि हो तब दर्पणमें अग्नि सदृश आकार प्रतिभासता है किन्तु अग्निमें जो उष्णता और ज्वाला है वह अग्निमें है दर्पणमें नहीं।

(२।१०।५१)

२६ हे आत्मन! शरीरके साथ तुम्हारा अनादि सम्बन्ध है, तब तुम इसे अपना मानते हो। इसकी रक्षा करना ही अपना कर्तव्य है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उसकी रक्षाके लिये अनुचित प्रयत्न करो। शरीर पुद्गल पिण्डसे निष्पन्न है, उसका आहार पुद्गल है, ज्ञान उसका आधार नहीं। अतः जो चेतन पदार्थ हैं उन सहित जो पुद्गल है उसका त्याग करो। जिससे चेतन निकल गया ऐसा जो पुद्गल है उसे उपयोगमें लाओ। यही कारण है कि मुनिगण प्रासुक पदार्थोंका ही उपयोग करते हैं तथा श्रावकोंमें भी पञ्चमी प्रतिमासे सचित्त वस्तुका त्याग भी हो

जाता है। नीचे ४ प्रतिमावाले त्रस जीवका तो सर्वथा त्याग कर देते हैं। एकेन्द्रियमें प्रयोजनीभूत अतिरिक्त शेष जीवोंकी हिंसाका त्यागकर देते हैं। परमार्थसे तो सभी पदार्थ अपने अपने चतुष्टयके अनुसार परिणमन कर रहे हैं। हम अनादिसे मोहके वशीभूत होकर उन्हें अपने अनुकूल परिणमन कराना चाहते हैं, यद्यपि ऐसा होता नहीं। हम कल्पनामें कुछ मानें, रज्जुमें सर्प भ्रान्ति हो सकती है, परन्तु रज्जु सर्प नहीं हो सकता। हमारी कल्पना जो चाहे हो परन्तु पदार्थ उस रूप नहीं होता। हम शरीरको आत्मा मान लेवें यह असम्भव नहीं परन्तु शरीर आत्मा नहीं होता।

जहाँतक पुरुषार्थ कर सकते हो आत्म दोष निवारण करनेमें ही लगाओ। अपनी परिणति यदि यथार्थ मार्गपर आ गई तो संसार तट निकट आ गया। परकी समालोचना प्रायः अधिकांशमें मोही जीवों द्वारा ही होती है, परके गुण और दोष प्रायः मोही जीवोंके ही ज्ञानमें आते हैं, निर्मोही जीवके ज्ञानमें प्रायः वस्तु विषय पड़ती है। यह उत्कृष्ट है, यह निकृष्ट है, यह कल्पना मोहके द्वारा होती है। ज्ञानका कार्य स्वपर प्रकाशकत्व है। जैसे दर्पणरूपी पदार्थ है, उसके समक्ष जो पदार्थ आता है वह उस दर्पणकी स्वच्छतामें झलकता है। जैसे मयूरमें नील, हरित, पीतवर्ण हैं, जब वह मयूर दर्पणके समक्ष नाचता है तब दर्पणमें उसका प्रतिबिम्ब पड़ता है, तब दर्पणमें उसी तरहका आकार दीखता है। यद्यपि दर्पण स्थिर है किन्तु दर्शकोंको यह प्रत्यय होता है कि दर्पणमें मयूर नृत्य कर रहा है परन्तु दर्पणमें न तो नृत्य है, और न मयूरके नील पीत हरितवर्ण ही हैं। दर्पणमें जो नील पीत हरितवर्ण दिखाई देता है वह दर्पणकी स्वच्छताका विकार है। इसीप्रकार ज्ञानमें जो आया वह ज्ञानका ही परिणमन है। ज्ञानके परिणमनका ज्ञानके साथ ही सम्बन्ध है। ऐसा नियम है—

"परिणमदि जेणदव्व, तकाल तन्मयत्ति पण्णत्त ।
तम्हाधम्म परणदो, आदा धम्मो मुणेयव्वो ॥"
(४ । १० । ५१)

२७ आत्मा एक चेतन गुणवाला पदार्थ है, उसका गुण चेतना है। सभी आत्माकी, सभी अवस्थाओंमे यह लक्षण रहता है। उसकी अपेक्षा देखा जाय तब सभी आत्माएँ समकक्ष हैं किन्तु जब अवस्थाओंको लेकर विचार किया जाता है तब भिन्नता भी पायी जाती है और अभिन्नता भी पायी जाती है। इसी अवस्थाके भेदसे आत्माके दो भेद आगममे कहे हैं—

'ससारिणो मुक्ताश्च'

जितने भी जीव हैं उनकी दो अवस्थाएं हैं। संसारी और मुक्त। मुक्त जीवोंकी अवस्था सर्वदा एक सदृश रहती है अत जितने भी मुक्तजीव हैं उनमे कोई भिन्नता नहीं। ससारी जीव एक, दो, तीन, चार, और पॉच इन्द्रियवाले होते हैं। कोई पञ्चेन्द्रिय और मन वाले होते हैं। व्यवहारसे इन्हें जीव कहते हैं। परमार्थसे 'जो चेतना प्राणका धारी है' वही जीव है। यह लक्षण कालत्रय, व्यापी है किन्तु यह लक्षण तो आत्माको इतर पदार्थोंसे भिन्न दिखाता है किन्तु लक्षण वह वस्तु है कि जिसका लक्षण किया जावे उसकी सभी अवस्थाओंमे घटित हो। इसमे पदार्थकी प्रत्येक समयवर्ती अवस्थाओंका खण्डन नहीं। लक्ष्यतासे लक्ष्यका भेदज्ञान हो जाता है। इससे कल्याण और अकल्याणका अभाव नहीं होता। ऐसा जो चेतन गुण वाला आत्मा है उसम इतर अनन्त गुण हैं। उनका भी परिणमन सर्वदा रहता है। ससार अवस्थाम आत्माके रागादि परिणमन होते हैं उनके सद्भावमे यह बाह्य पदार्थोंमे इष्ट और अनिष्ट कल्पना करता है। यही कल्पना इसे सुख दु खमें

कारण पड़ती है। जो इसको रुच गया वही इष्ट और जो न रुचा वह अनिष्ट मानने लगता है। यद्यपि पदार्थ न इष्ट है, और न अनिष्ट है, यह कल्पना मोही जीवोंकी है। यदि पदार्थ स्वयं इष्ट और अनिष्ट हैं तब प्राणीमात्रको एक सदृश प्रत्यय आता, सो नहीं, प्रत्युत एक ही पदार्थ किसीको इष्ट किसीको अनिष्ट देखा जाता है। जैसे एक नीमका वृक्ष है उसके पत्ते ऊँटको मधुर और हाथीको कटुक लगते हैं। इसका मूल कारण हाथीकी रुचि विचित्रता है। अतः ज्ञानी जनोंको कोई पदार्थ इष्ट और अनिष्ट नहीं। अपना आत्मीय परिणाम ही उन्हें इष्टानिष्टका भेदक जान पड़ता है।

२८ आत्मा स्वतन्त्र वस्तु है उसमें देखने जाननेकी सामर्थ्य है। यह सिद्धान्त है कि सभी पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र काल, भावके अनुरूप ही परिवर्तन करते हैं। जैसे पानी जिस पेड़में जावेगा तद्रूप ही परिणमन करेगा। परिणमो, परन्तु वह रूप रस-गन्ध-स्पर्श रूप है अतः इसी रूप परिणमेगा। चूना तथा हरिद्राको मिला दीजिये, दोनों मिलकर रक्तवर्ण परिणमनको प्राप्त हो जावेंगे। श्वेत, पीत जो पहिले सुधा, हरिद्राका वर्ण था वही रक्त हो गया। वर्ण बदलकर रस तो नहीं हो गया? इसी तरह ज्ञानमें जो ज्ञेय आता है वह ज्ञान रूप नहीं होता क्योंकि यहाँ पर दो विजातीय द्रव्योंका सम्बन्ध है। यहाँ पर ज्ञेयको ज्ञान जानता है, यह जानना ज्ञानका परिणाम है। इसका अर्थ यह नहीं कि ज्ञान ज्ञेय हो गया। पुद्गल द्रव्यमें भी यही बात है। जैसे अनेक तन्तु जो पहिले गुत्थीके आकारमें थे, आतान वितान (तानाबाना) अवस्था द्वारा एक पट रूपको प्राप्त हो गये। इसका यह अर्थ नहीं कि वे एक हो गये। सब पृथक् पृथक् हैं किन्तु उन्हें अब पट अवस्थामें हम देखते हैं। तन्तु समुदायका नाम ही पट है

और यह अवस्था शरीरका रत्ताम असमर्थ थी। यह पट शरीरकी शीतादिसे रक्षा कर सकता है।

(१२।१०।५१)

मैं

'नाहं देहो न मे देहो, जीवो नाहमहं हि चित्।
अयमेव हि मे बन्धः आसीद्या जीविते स्पृहा ॥'

१ यह जो प्रत्यक्ष देह है सो मैं नहीं हूँ और न मेरे देह है क्योंकि मैं ज्ञान दर्शनका पिण्ड हूं। देह स्पर्शादि गुण वाला है। जो इस शरीरके सम्बन्धसे मेरी निकृष्टावस्था हो रही है, जिसे जीव कहते हैं, जिसमें दश प्राण हैं,—पाँच इन्द्रिय, तीन बल (मनोबल, वचनबल और कायबल) आयु और श्वासोच्छ्वास इन दश प्राणों विशिष्ट देह सहित आत्माको जीव कहते हैं। इसमें जो हमारी स्पृहा है वही बन्ध है। ऐसा जो जीव है वह मैं नहीं, मैं तो केवल चित् हूँ। अर्थात् शुद्ध चेतना वाला जो पदार्थ है वही मैं हूं। अनादि कालसे ऐसा सम्बन्ध पुद्गलके साथ इसका हो रहा है कि यह परको निज मान रहा है। इसीसे इस जाति शरीरमें इसकी स्पृहा रहती है। इसके जो पोषक पदार्थ होते हैं उनमें इसका अनायास ममता परिणाम हो जाता है। प्रत्यक्ष धनादिक पदार्थ पर हैं, स्त्री आदि चेतन पदार्थ भी इससे भिन्न हैं, यह भी इसको जानता है परन्तु इसकी इच्छानुकूल उनकी प्रवृत्ति होती है इससे अनायास ही उन पदार्थोंमें इसकी निजबुद्धि हो जाती है।

अन्नादिकसे शरीरकी रक्षा होती है, शरीरको यह निज मानता ही है अतः अनायास ही इसके पोषक तत्त्वोंमें इसका स्नेह हो जाता है।

(११।१०।५१)

आत्म निर्मलता

१ पुण्यादिककी योग्यता परिणामोंकी निर्मलतामें होती है। परिणामोंकी निर्मलता ही संसार स्थितिका छेद करती है।

(२६।११।४७)

२ हे आत्मन्! तू इतना व्यग्र क्यों हो रहा है, अन्य मनुष्योंसे कार्य सिद्धि चाहता है? यदि आत्म कल्याण करना है तो स्वयं निर्मल बननेकी चेष्टा कर।

(३।१२।४७)

३ आत्माकी परिणति निर्मल होना ही मोक्षका मार्ग है।

(२।४।४८)

४ परिणाम निर्मल कैसे हो? यह समझकर भी उपायसे वञ्चित रहते हैं। परमार्थसे उपाय रागादि निवृत्ति है और यह करना स्वाधीन है।

(२६।५।४८)

५ अन्तरङ्गकी निर्मलता होना स्वाधीन है, कोई कठिन नहीं। इसके लिये कोई आगम या समागमकी आवश्यकता नहीं। समागमकी महिमा सर्वत्र गायी है परन्तु अन्तरङ्ग उपादान शक्तिके बिना निर्मलता होना कठिन है।

(२१।८।४८)

६ अन्तरङ्गकी निर्मलता प्रत्येक कार्यमें साधक है। साधकतम ही सामग्री कार्य जनक है।

(१२।९।४८)

७ आत्मनिर्मलताका सम्बन्ध मोहके उपशमादिसे है।

(२९।१०।४८)

८ आत्माकी निर्मल परिणति भद्रताकी सूचक है।

(१६।११।४८)

९ संसारमें वही मनुष्य जगतका उपकार कर सकता है जो अन्तरङ्गसे निर्मल हो। मेघ पटलसे आच्छादित सूर्य जगतको प्रकाश प्रदान करनेका उपकार नहीं कर सकता।

(७।१२।४८)

१० परिणाममें निर्मलताका कारण पर पदार्थोंसे सम्बन्ध त्याग ही है। सम्बन्धका मूल कारण अनात्मीय बुद्धि ही है।

(२०।१२।४८)

११ अभिप्रायकी निर्मलताके अभावमें अनेक जन्म द्रव्यलिङ्गधारणकर भी मोक्षमार्गका पथिक नहीं बना। और अभिप्रायके शुद्ध होनेपर व्रत धारण विना भी मोक्षमार्गका पथिक बन गया।

(२४।५।५१)

१२ मन वचन-कायके व्यापार तो कषायके साथ ही बन्धके जनक होते हैं। यदि कषाय न हो तो यह कुछ भी बन्धके कारण नहीं। केवल इनके द्वारा जो पुद्गल आता है आत्मप्रदेशोंसे स्पर्शमात्र करके चला जाता है। अत इनको संसारका जनक न समझो। संसारका मूलकारण कषाय है, उसे ही न होने दो इसीमें आत्म कल्याण है। कषाय भी यदि मोहके साथ नहीं ...

संसारका हेतु है, अन्यथा उसका होना भी आत्माके अनन्त संसारका कारण नहीं होता। यही कारण है जो द्वितीय सासादन गुणस्थानमें यहाँ अनन्तानुबन्धी कषाय मिथ्यात्वादि षोडश प्रकृतिके बन्धका जनक कहा। अतः जिन जीवोंको कल्याणमार्गमें आना है उन्हें बुद्धिपूर्वक अभिप्रायको ही निर्मल करना चाहिये। परपदार्थ ज्ञानमें न आवे यह तो कोई निवारण नहीं कर सकता। किन्तु जो पदार्थ ज्ञानमें आवे, उसमें जो निजत्व कल्पना है उसे हटाना यही उपाय हो सकता है।

(२४।५।५१)

१३ विभावता पर वस्तु है जहाँ परकी अपेक्षा नहीं रहती। यद्यपि ज्ञायक सामान्यकी अपेक्षा सर्वदा आत्मा स्वभावमें अवस्थित है परन्तु अनादिकालसे मिथ्यात्वका संसर्ग चला आरहा है इससे कर्मजन्य जो मिथ्यात्वादि भाव हैं उनको निज मानता है, उन्हींका अनुभव करता है, अतएव उन्हीं भावोंका कर्ता बनता है। अर्थात्, ज्ञानमें जो ज्ञेय आते हैं तद्रूप परिणमनकर उनका कर्ता बनता है। जिस कालमें मिथ्यात्व प्रकृतिका अभाव हो जाता है उस कालमें आपको आप मानता है। उस कालमें ज्ञानमें ज्ञेय आवें उनको जानता है परन्तु ज्ञानका जो ज्ञेयके निमित्तसे परिणमन हुआ उस परिणमनको ज्ञेयका नहीं मानता, ज्ञानका ही परिणमन मानता है। यही विशेषता अज्ञानीकी अपेक्षा ज्ञानीके हो जाता है।

(१५।६।५१)

१४ जिन्होंने निर्मल भावोंका आश्रय लिया वे ही इस संसार पद्धतिको निर्मूलकर इस द्वन्द्वसे निर्द्वन्द्व हुए।

(२०।६।५१)

१५. जो काम करो हृदयकी निर्मलतासे करो। संसारको सुखी करनेकी अभिलाषा त्यागो। संसारको सुखी बनानेकी जो भावना है उसमें भी आत्म सुखहीकी भावना है। भावनाका तात्पर्य देखना चाहिए जैसे मैत्री भावना है, 'जगतमें किसी भी प्राणीको दुःख न हो', इसका यही तात्पर्य तो है कि कोई भी प्राणी दुःखी न हो, इसमें आप भी तो आगया। अतः जो निर्मल भावनाएँ हैं उनका फल स्वयं भोगता है, न कि जिसके लिये भावना भाता है वह उसका फल भोगेगा, कदापि नहीं। जैसे हम श्री जिनेन्द्रदेवकी उपासना करते हैं उसके फल भागी हम ही तो होते हैं, भगवान् तो नहीं होते? इसीप्रकार जब हम क्रोध, मान, माया और लोभ रूप परिणमन करते हैं, उसका जो फल होगा हम ही को भोगना पड़ेगा क्योंकि यह अटल सिद्धान्त है जो करता है वही भोगता भी है, जैसे आपने किसीको दान दिया तब उसमें जो पुण्यास्रव किया उसका फल आप ही ने तो भोगा, अन्य तो जो वस्तु उसको दी उसका ही स्वामी बनेगा, तज्जन्य फल भोगेगा।

(२९।७।५१)

१६. आत्माकी परिणतिपर गम्भीर दृष्टिसे परामर्श करो कितनी निर्मलता है? निर्मलतासे तात्पर्य रागादिक परिणामोंकी कृशतासे है। रागादिक जबतक यथाख्यातचारित्र न होगा [illegible] होंगे, उनमें राग मत करो। उनमें राग न करनेका आशय [illegible] ही है कि उन्हें उपादेय मत मानो। रागादिकभाव [illegible] वालोंके भी होते हैं परन्तु वे आत्मरूप ही हैं अतः [illegible] व्रती, महाव्रती हैं वे इन्हें उपादेय नहीं मानते। [illegible] भाव होना चाहिए जो शब्दोंसे रहित हो।

१७ भावना निर्मल बनानी चाहिये। भावना ही भवनाशिनी है। अनन्त संसारका कारण असद्भावना और अनन्त संसारको विध्वंस करनेवाली सद्भावना है।

(२।९।११)

१८ अपनी दृष्टि निर्मल होनी आवश्यक है। चाहे कुछ भी यह उसपर अन्तरात्मासे परामर्श करके ही निर्णय दो।

(१९।१०।५१)



मानवताकी कसौटी

[illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
है।

[illegible]
[illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

४ जिसने निरीहवृत्तिका अवलम्बन लिया उसीने मनुष्य जन्मका सार्थक किया।

(२५।१०।४७)

५ मनुष्यको सन्तोष करना उचित है, कार्य करनेका प्रयत्न करना उचित है। कार्य होना, न होना भाग्यके अधीन है।

(२८।१०।४७)

६ मनुष्य लोभमें आकर नाना अनर्थ कर बैठते हैं उनका फल अच्छा नहीं होता। कारण जिसका मूल बुरा होता है उसका कार्य उत्तम नहीं हो सकता। बबूलके बीजसे कभी आम नहीं हो सकता।

(२९।१०।४७)

७ मनुष्यका मन अत्यन्त कलुषित होता है, क्योंकि सदा पाप रूप परिणाम और व्यर्थ ही कल्पना करता रहता है।

(५।१२।४७)

८ निरपेक्षता ही आत्मविकासका मुख्य कारण है। मानव जीवनमें जिसने यह गुण सम्पादन न किया उसने कुछ नहीं किया।

(१२।१२।४७)

९ मनुष्य जन्मकी सार्थकता मनुष्यताके विकासमें है, व्यर्थके जालमें फँसनेमें नहीं।

(१५।२।४८)

१० संसारमें मनुष्यजीवन कठिन है, इसके लिये देव तरसते हैं। इसका पान जिसने किया वह व्यर्थ ही मनुष्य हुआ।

(५।११।४८)

११ मनुष्यपर्याय पानेका फल यह है कि वह अपनेको सत्पथमें लगावे। सत्पथसे तात्पर्य यह है कि विषयेच्छा त्यागे। विषय लिप्साने जगतको अन्धा बना दिया। जगतको अपनाना ही अपने पतनका कारण है।

(१२।१२।४८)

१२. मनुष्यजन्म पाना उसीका सार्थक है जो शान्तिसे व्यतीत करे। अन्यथा पशुवत् जीवन बंध, बन्धनका ही कारण है। अपने सुखके लिये परका घात करना मनुष्यताके सर्वथा विरुद्ध है।

(१३।१२।४८)

१३ मनुष्यजन्म एक महती निधि है। यदि इसका यथार्थ उपयोग किया जाय तो इस जन्म मरणके रोगसे छुटकारा हो सकता है क्योंकि संसार घातका कारण जो संयम है वह इसी निधिसे मिलता है परन्तु हमलोग इतनी पामरता करते हैं कि रत्नकेलिये चन्दनको भस्म कर देते हैं।

(१३।१२।४८)

१४ आजकल विज्ञानका युग है। इसमें जो पुरुषार्थ करेगा वही उन्नति करेगा। इस समय प्रायः जो मनुष्य पुरुषार्थी हैं वह आमाय उन्नतिके पात्र हो जाते हैं। जो आलसी मनुष्य हैं वह दुःखके पात्र होते हैं। मनुष्यजन्म पानेका यही फल है कि स्वपरहित करना। अन्यथा वैसे तो श्वान भी अपना पेट भर लेते हैं। मनुष्य की उत्कृष्टता इसीमें है कि अपनेको मनुष्य बनावे। मनुष्यका ज्ञान और विवेक इतर योनियोंमें जन्म लेनेवाले जीवोंकी अपेक्षा उत्कृष्ट है। तिर्यञ्चमें तो पर्याय सम्बन्धी ज्ञान होता है, देव नारकी जीव विशेष ज्ञानी होते हैं परन्तु उनका ज्ञान भी मर्यादित रहता है तथा वे देव नारकी संयम भी धारण नहीं कर सकते। तिर्यञ्च भी देशसंयमके पात्र हो सकते हैं परन्तु इतना ज्ञान उनका नहीं कि अन्य प्राणियोंका कल्याण कर सके। मनुष्यका ज्ञान भी परोपकारी है तथा संयम गुण भी ऐसा निर्मल हो सकता है कि इतर मनुष्य उसका अनुकरणकर अपनेको संयमी बनानेके पात्र हो जाते हैं।

(२०।५।५१)

१५ जो मनमें हो सो वचन कहिए, और जो वचनसे कहिए उसे काय द्वारा कीजिये, केवल गल्पवाद और मनमें हो विकल्पकर कृतकृत्य मत हो जाइये। अन्यकी कथा छोड़िये, मनमें कुछ है, वचनसे कुछ और अलाप रहे हैं तथा कायसे कुछ और ही कर रहे हैं—ऐसे जीव मायाचारी कहलाते हैं। अन्यका ही अकल्याण नहीं करते अपितु अपना भी अकल्याण कर स्वयं दुःखी होते हैं।

मेरे मनमें यह विचार आया कि मनुष्य पर्याय बड़ी कठिनतासे मिली, इस पर्यायसे यह जीव संयम धारणकर मोक्षका पात्र बन सकता है। अन्य पर्यायोंमें सकलपरिग्रह त्यागके भाव नहीं होते। नारकी और देवोंमें तो देशसंयमके भी भाव नहीं होते। तिर्यञ्च पर्यायमें देशसंयमके ही भाव होते हैं। मनुष्यपर्यायमें ही ऐसा निर्मलभाव होता है कि यह जीव बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रहका त्यागकर परिव्राजक दिगम्बर पदका धारक हो सकता है। जितना बाह्यपरिग्रह मनुष्यपर्यायमें जीवके होता है उतना अन्यत्र नहीं होता। देवोंमें जो परिग्रह है वह परिमित है। मनुष्योंमें कोई गणना नहीं। छह खण्डका अधिपति होकर भी शान्त नहीं होता। इसका तृष्णा गर्त इतना गँभीर है कि तीन लोककी सम्पत्ति इसके एक कोणको भी नहीं भर सकती और यदि यह इस परिग्रहको त्यागना चाहे तब एक सूतका धागा भी नहीं रखता। त्याग गुण भी इसमें अलौकिक है। जो परिग्रहका ग्रहण करते हैं तथा उसमें आसक्त रहकर उसकी रक्षा करनेमें अपना काल खोते हैं वे ही दुःखी हैं। और जो परिग्रहसे ममता त्याग उसका त्याग कर देते हैं वही परमार्थपथके पथिक बनते हैं।

(२।६।५१)

१६ इस संसारमें जो मानवजाति है वह सबसे श्रेष्ठ है। इस शरीरसे आत्मा मोक्षका अधिकारी है। चारगतियाँ हैं, उनमें

मनुष्यगति सबसे उत्तम है। माना कि नारक, तिर्यग्गतिसे मनुष्यगति श्रेष्ठ है किन्तु देवगतिसे अच्छी नहीं। देवलोग मनुष्योंसे श्रेष्ठ हैं क्योंकि वे तीर्थङ्कर भगवानके गर्भादि कल्याणकों व सवसर प्रभावना करते हैं, समवशरणकी रचनाकर जगतके प्राणियोंका उपकार करते हैं, नन्दीश्वर द्वीपमें जाकर अकृत्रिम चैत्यालयकी वन्दना करते हैं परन्तु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि सर्वोत्तम संयम जिससे मोक्ष होता है वह मनुष्यगतिसे होता है अतः सभी पर्यायोंसे मनुष्य पर्यायकी उत्तमता सिद्ध है। इसको पाकर यदि उपयोग नहीं किया तब अन्धे मनुष्यकी लालटेन ही के सदृश इस पर्यायको जानो।

(२८।७।५१)

१७ मनुष्यजन्मकी सार्थकता त्यागसे है। नारक, तिर्यंगतिमें तो प्रायः संक्लेशताकी ही प्रचुरता है। तिर्यग्गतिकी अपेक्षा नारकगतिमें प्रचुर संक्लेशता है और वे परस्पर एक दूसरेको विक्रिया द्वारा अनेक प्रकारके कष्ट देते हैं।

(१६।८।५१)

१८ मनुष्यको सदाचारसे रहना अति आवश्यक है। जो सदाचारसे पतित हैं व अपने पवित्र जाति और कुलको कलङ्कित करते हैं। जाति और कुल तो पराश्रित हैं किन्तु व अपने पवित्र आत्माको ससारका पात्र बनाते हैं।

(१८।८।५१)

१९ उत्तम मनुष्य वह है जो निर्दोष आचरण करें, निर्भीक हों, परकृत निन्दा प्रशंसाके द्वारा दुखी और सुखी न हों।

(२१।९।५१)

२० मनुष्य वही है जो सहसा किसी बातको सुनकर यद्वा तद्वा निर्णय न देने लगे।

(१९।१०)

२१. मनुष्य जन्म एक उत्तम है। इसमें ज्ञानकी उन्नति विशेष रूपसे हो सकती है। यदि यह निरंतर उपयोगको स्थिर रखे तो बहुत कुछ उपद्रवोंसे सुरक्षित रह सकता है किन्तु खेद इस बातका है कि यह निरंतर मोहके अधीन होकर सर्वथा परपदार्थके सम्ब- न्धमें ही ऊहापोह करता रहता है। आत्मगत दोषोंको दू करनेका प्रयत्न नहीं करता। सबसे महान दोष इसमें यह है कि य आत्माको नहीं जानता परमें आत्मीयताकी कल्पना करता है यही हमारे संसारमें अशान्तिका मार्ग है। जिसदिन हमको य बोध हो गया कि परसे हम भिन्न हैं उसीदिन हम सुख शान्ति भाजन हो जावेंगे।

(२१ । १० । ५१

धर्म

१ धर्मके हेतु मनुष्य बड़े बड़े प्रयत्न करता है मन, वचन, काय व्यापारोंको सरल करनेकी चेष्टा करता है परन्तु यह नाना स्वतं नहीं है। इसका कोई अन्य नियन्ता है। उसके अधीन इस प्रवृत्ति है। यह कौन है? इसका ज्ञान होना अगम्य है। कोई को कहा प्राय अखिल संसार इसका नियन्ता ईश्वरको मान लेता है।

(१७ । १ । ४७

२ स्थिरमति होनेकी परमावश्यकता है। प्रतिदिनकी जो प्रति है उसे पूर्ण करो परन्तु नवीनकी ओर ध्यान भी करो। केवल आगम आत्मीय धर्म नहीं होता, यह तो आत्माकी परिणति है। यह न आगमाभ्याससे होती है और न सत्समागमसे होती है और मन-वचन-कायके व्यापारसे ही होती है। जितने विकल्प

कषायोंके अधीन हैं। कषायकी निवृत्ति ही धर्म है अतः जहाँतक बने उसे हटानेका प्रयत्न करो।

(१।५।४७)

३ अन्तरङ्ग धर्मका कारण जो कषायकी उपशमता है, वह अपने स्वाधीन नहीं। क्या करें?

(१५।५।४७)

४ धर्मके कार्योंके करनेमें आलस्य मत करो। आलस्य ही पापका जड है।

(२०।८।४७)

५. रूढिके अनुसार चलना और बात है धर्मका स्वरूप समझ लेना और बात है।

(२२।८।४७)

६ संसारमें मनुष्य जितना धर्ममें ठगाया जाता है इतर बातोंमें नहीं ठगाया जाता। व्यवहारधर्मकी क्रियासे ही आदमी धर्मात्मा माना जाता है।

(९।१०।४७)

७ लोग केवल ऊपरी दृष्टिसे द्रव्य व्यय करते हैं, पारमार्थिक धर्मकी दृष्टिसे परे हैं। परमार्थ तो उन्हीको प्राप्त हो सकता है जो धर्मको समझें।

(१२।१।४८)

८ संसारमें प्रतिष्ठा पानेके लिये धर्मका आचरण अधोगतिका कारण है।

(८।२।४८)

९ धर्मके मर्मको जानना ही कल्याणपथका पथिक होना है परन्तु हम धर्मके जाननेका तो प्रयत्न नहीं करते केवल लौकिक मनुष्योंको

समझानेका प्रयत्न करते हैं जो सर्वथा अनुचित है। जब अप
ही धर्मका विनाश नहीं तब अन्यमें क्या कथन ?

(२५ । २ । ४

१० धर्म आत्माकी उस परिणतिको कहते हैं जो किसी कार
अपेक्षा न करता हो—जैसे पारिणामिक भाव। इसी प्रकार
द्रव्योंकी अवस्था है। जितने गुण हैं सभी धर्म हैं क्योंकि
निमित्त अपेक्षा नहीं करते। इस व्याख्याम पर्यायको धर्म
यह सम्यक्, चाहे वह स्वाभाविक हो चाहे वैभाविक हो।

(१ । २ ।

११ धर्मका सम्बन्ध आत्मासे है और जबतक आत्मामें यह
न होगी तबतक इसी भ्रममें रहेगा। जो उसको नहीं जानत
बाह्य कारण समुदायमें ही उलझा रहता है। बहुतसे मान
नाना प्रकारके द्रव्योंकी कल्पना कर उसे सिद्ध करना चा
परन्तु भीतरसे विचार करो क्या इन काल्पनिक मूर्तियोंमें
सत्ता है ? नहीं।

(१० । २ ।

१२ हमलोग इतने मूढ़ हो गये हैं कि मार्गकी सरल
भूल गये, केवल बाह्य क्रियामें धर्म मानकर मुग्ध हो गये हैं

(२८ । १

१३ अन्तरङ्गमें धर्मकी रुचि होनी चाहिये, केवल गल्
तो श्रवण ही का विषय रहता है अधिक हुआ तो उसक
बोध हो गया।

(७ । ४

१४ परकी अपेक्षा धर्म साधन नहीं होता, धर्म सा
निरीह वृत्तिमें होता है।

(११ । ४

१५. शिथिलाचार करना धर्मका घातक है। संकोच करना शिथिलाचारका साधक है। गृहस्थोंके साथ रहना ही इसका पोषक है।
(५।५।४८)

१६ धर्मकी श्रद्धा एक ऐसी अपूर्व औषधि है कि उससे महान्से महान् व्यसन दूर जाते हैं, शान्तिमार्गके प्राप्त होनेका उपाय अनायास मिल जाता है। अतः जिन्हें आत्मकल्याण करना है वे धर्मको न भूलें।
(११।६।४८)

१७ धर्मका मर्म है कि आत्माको केवल रहने दो। सब जीवोंको समदृष्टिसे देखो। इसका यह अर्थ है कि कर्मविपाकसे मनुष्योंकी नाना परिणति हो रही है। उनमें तुम्हारे अनुकूल जो न हुई [illegible] परिणति वालेसे आप द्वेष कर लेते हो, जो तुम्हारे अनुकूल [illegible] वाला हुआ उससे तुम प्रेम कर लेते हो। यह उचित नहीं। [illegible] तो निज परिणतिको विभाव जान उसके पृथक् करनेका प्रयत्न करो
(९।[illegible])

१८ समयका सदुपयोग करो अर्थात् धार्मिक [illegible] लीन रहो जिससे आत्मा उन भावोंसे बचे जो अकुलताके [illegible] हैं
(१३।[illegible]।४८)

१९ धर्मको [illegible] रखनेके लिये धीरता रखनी [illegible]
([illegible] ४८)

२० धर्म पदार्थ इतना व्यापक है कि प्रत्येक [illegible] मानता है। संसारमें आज जितने मत प्रचलित हैं [illegible] प्राण है। इसके बिना कोई भी मत जीवित [illegible] मनुष्यमें इन्द्रियादि प्राण हैं किन्तु [illegible] जगत अनेक संकटोंका पात्र बन रहा है। [illegible] स्वरूपको न जानकर मनोनीत कल्पना [illegible] है। [illegible]

पृथिवीके विशेष स्थलोंको ही धर्म मानते हैं अर्थात् विशेष स्थलके स्पर्शसे ही आत्मा पवित्र हो जाती है, कोई पानीको ही धर्मका साधन मानते हैं अर्थात् पानीके स्पर्शसे ही आत्मा पवित्र हो जाती है, कोई अग्निको ही धर्मका साधन मानकर उसकी पूजा करनेमें ही धर्म मानते हैं। धर्मका वास्तविक परिचय जिससे मिलता है वह करनेको क्या ध्यान—आत्मा मनोयोग, वचनयोग तथा कायबलसे ही कार्य करता है, कषायके सद्भावसे ही उनमें तीव्रता और मन्दता आती है। जहाँ तीव्र कषाय होती है वहाँ पापके कार्योंमें प्रवृत्ति करता है और जहाँ मन्द कषाय हो वहाँ धर्मके कार्य करता है, परोपकार करता है, देवपूजा, गुरुकी उपासना तथा स्वाध्यायमें प्रवृत्ति करता है।

(२,४।१।५१)

२१. आजकल मनुष्य धार्मिक शिक्षाका अभ्यास नहीं करते अतः उनके भाव परमार्थकी ओर नहीं जाते। सभी मनुष्य केवल यही चाहते हैं कि जैसे भी हो धन आवे। इस समय धर्ममें प्रवृत्ति नहीं, जो प्रवृत्ति करते भी हैं वह भी इसी अभिप्रायसे करते हैं, कि कुछ धर्मका कार्य करते हैं उनमें भी यही भावना रहती है कि संसारका वैभव हमें प्राप्त हो। इसके लिये बड़े-बड़े यागादिक कार्य करते हैं, कोई मन्दिर, कोई तीर्थयात्रामें पुष्कल द्रव्य व्यय करते हैं, यहाँ तक कि धनके लिये प्राणों तकका विसर्जन करनेमें भी आना कानी नहीं करते।

(३१।१।५१)

२२. आत्माके परिणाम विशेषका नाम धर्म है परन्तु 'हमारा धर्म' कहकर उसे अपना बनानेकी प्रक्रिया चल पड़ी है। लेकिन सोचनेकी बात है कि यदि इस तरह धर्म अपना सम्भव हो जाय तो अन्यका क्या रहेगा? समझमें नहीं आता।

(३।२।५१)

२३ धर्म पदार्थ प्रथम तो प्रत्यक्ष नहीं तथा ऐसा भी नहीं जो द्रव्यसे लिया जा सके। यदि द्रव्यसे मिल जाता तब प्राय बहुतसे मनुष्यों का उसका लाभ हो जाता। बडे बडे धनी पुरुष लाखों रुपया धर्मके कार्यमें व्यय करते हैं परन्तु उनको शान्तिका लेश भी नहीं।

(४।२।५१)

२४ यह काल इतना विषम है कि इसमें मनुष्योंकी चेष्टा सर्व धर्मसे निराश होना असम्भव है। धर्म वह पदार्थ है जो अपने अस्तित्वमें किसी सहायकी अपेक्षा नहीं रखता। जैसे अग्निका धर्म उष्ण है, वह किसीकी अपेक्षासे नहीं स्वयमेव है। इसी तरह जिस पदार्थका जो धर्म है वह निरपेक्ष ही रहता है। आत्मामें सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र धर्म हैं, वे सापेक्ष नहीं। हाँ आत्मा जब संसार अवस्थामें रहता है तब इसके अनादिकालसे कर्मका सम्बन्ध है उससे इसके विकृत भावका धारण किये हुए हैं—सम्यग्दर्शनका परिणाम मिथ्यादर्शन, ज्ञानका परिणाम मिथ्याज्ञान तथा चारित्रका परिणाम मिथ्याचारित्र रूप हो रहा है। यही कारण है कि हम आत्मश्रद्धा तथा आत्मज्ञान और आत्मचारित्रसे गिरे हुए हैं। परमें आत्म श्रद्धा, परमें ही आत्मज्ञान तथा परमें ही आत्म प्रवृत्ति कर रहे हैं।

(१४।२।५१)

२५. धर्म कोई ऐसा वस्तु नहीं कि जिसका अस्तित्व आत्मासे बाहर पाया जाय। वह तो कषायके अभावमें व्यक्त होता है।

(२०।३।५१)

२६ धर्म तो आत्माकी निर्मलपरिणतिसे सम्बन्ध रखता है। मोह और क्षोभके अभावमें ही उसका उदय होता है।

(८।५।५१)

२७ आजकल धर्मका अर्थ जनता इतना ही समझती है कि

पानी छानकर पीना, रात्रिमें भोजन न करना, देव दर्शन करना। इनका होना अति आवश्यक है किन्तु जिसको धर्म कहते हैं उसकी गन्ध भी नहीं। धर्मका वास्तविक अर्थ यह है कि आत्मामें पर पदार्थसे भिन्नता भासने लगे और फिर हिंसादि पञ्च पापोंसे आत्माको सुरक्षित रक्खे। सबसे महान्धर्म यह है कि किसीको कष्ट न पहुचावे। यही आत्मा परको कष्ट नहीं दे सकता जो अपनेको पहिचाने। जिसने अपनेको नहीं पहिचाना वह मनुष्यत्वका पात्र नहीं। लोग देव दर्शनमें धर्म समझते हैं, होता भी है किन्तु आजकल न तो वेष है, और न भाव है, केवल आडम्बर मात्र है।

(१५।७।५१)

२८ यह पञ्चमकाल है, पुरुष तथा स्त्री गणमें यह शक्ति नहीं कि निरपेक्ष धर्म साधन कर सकें।

(११।८।५१)

२९ आजकल मनुष्य स्वच्छन्दचारी हैं। धर्मको एक अनावश्यक व्यर्थ कर्तव्य मानते हैं, केवल अर्थ और कामको ही आवश्यक मानते हैं। अर्थका प्रयोजन भी कामकी सिद्धि है। पर्यवसानमें चार्वाकका सिद्धान्त ही आ जाता है कि—'आनन्दसे जीवन बिताओ, त्याग आदि प्रपञ्चोंमें मत पड़ो, यह केवल धर्मके नाम पर अज्ञानी लोगोंने प्रपञ्च फैलाया है, धर्मके नामपर द्रव्य लेकर आप तो आनन्द लेवें, और हमको त्यागका उपदेश देवें।' इत्यादि।

(१६।८।५१)

३० प्रत्येकके मनमें यह आ गया कि धर्मका करनेका हमारा भी अधिकार है। हमारे अज्ञानके द्वारा ही हम धर्मसे वञ्चित हैं। धर्म कोई ऐसी वस्तु नहीं जो किसीसे भिक्षामें मिल जावे। हम स्वयं इतने कायर हो गये हैं कि उसके होते हुए भी परसे याचना करते

हुए भी लज्जित नहीं होते। धर्मका घातक अधर्म है, अधर्मके सद्भावमें धर्मका विकाश नहीं हो सकता। जैसे अन्धकारके अभावमें प्रकाश नहीं क्योंकि अन्धकार और प्रकाश यह दोनों परस्पर विरोधी हैं किन्तु जब रात्रिका अन्त आता है तथा सूर्योदय होता है उस समय अन्धकार पर्याय स्वयमेव विलय जाती है। इसी प्रकार हमारी प्रवृत्ति अनादि कालसे परम निकृष्ट कल्पना कर मिथ्याज्ञानका पात्र बन रही है और इसी द्वारा अन्य पदार्थोंको निजमान आत्मचारित्रको क्रोध, मान, माया, लोभ रूप बना रही हैं, निरन्तर इन्हींमें तन्मय हो रहा है। इनमें तन्मय होनेसे आत्मीय क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौचका घात कर रही है। जब क्षमादिक पर्यायोंका उदय नहीं तब आप ही बताओ शान्ति रसका आस्वाद कैसे मिले ?

(३१।८।०१)

३१ धर्मवस्तुका उदय आत्मामें ही होता है। जिस कालमें आत्मामें धर्मका पूर्ण विकाश हो जाता है उस समय यह उत्कृष्ट है, यह मध्य है, यह जघन्य है, यह भाव मिट जाते हैं।

(१०।१०।५१)

३२ आजकल व्यवहार धर्मकी विशेष प्रमुता है। अन्तरङ्गकी ओर अणुमात्र भी दृष्टि नहीं अन्यथा उस ओर लक्ष्य जाता।

(२२।१०।५१)

३३ धर्मका प्रचार सूर्यवत् करो, दीपकवत् नहीं क्योंकि दीपकका प्रकाश घरके ही पदार्थको प्रकाशित करता है, सूर्यका प्रकाश संसारके पदार्थोंको प्रकाशित करता है।

(२३।१०।५१)

३४ राजनैतिक कार्य करने वाले प्रायः धर्मकी श्रद्धासे च्युत हो जाते हैं, धर्मका ढोंग बताते हैं। यद्यपि धर्म आत्माकी निज परिणति

इसमें जो विकार है उसे वास्तवमें धर्म मानना मिथ्या है। जैसे आत्माका स्वभाव ज्ञान दर्शन है उसका जो कार्य है पदार्थोंका देखना जानना है। देखने जाननेमें जो पदार्थ आते हैं उनमें निरन्तर कल्पना करना तथा उनमें राग द्वेष करना यह विकार है। इस विकारको न त्यागना धर्मका बाधक है। इसे हित मानना यह अधर्म है। विकारको औपाधिक जान उसके दूर करनेका प्रयास करना यह मार्ग शान्तिका उपाय है। इसमें लगना ही संसार बन्धनसे छूटनेका उपाय है

(२५।१२।५१)

३५ धर्म एक ऐसा पदार्थ है जो प्रत्येक प्राणीका रक्षक है।

(२९।१२।५१)

सहज सुख साधन

१ जो कोई सुख चाहे उसे उचित है कि सुखके कारणोंका अर्जन करे और उसके बाधक कारणोंका परिहार करे। 'सुख क्या है?' यह प्रायः सभी जानते हैं कि आकुलताका अभाव ही सुख है। आकुलताके अभावमें चित्त शान्तिका अनुभव करता है अतः जहाँ शान्ति नहीं वहीं आकुलता है और जहाँ आकुलता है वहीं दुःख है।

(२०।३।४७)

२. असातोदयमें खेद मत करो, सातोदयमें हर्ष मत करो, शान्तभावसे कर्मके उदयको देखो जानो। संयमका स्थान मनुष्य भव ही है क्योंकि यहींपर उसके उत्पन्न होनेके कारण मिलते हैं

अत मनुष्य बने रहनेका प्रयत्न करो। सबसे कठिन कार्य परम आत्मबुद्धि न होना है। जगतको अपना मानकर आत्मा दुर्दशा पन्न हो रहा है। भिन्न मानकर विरला जगनमे अपनेको मनमें, अपनेमे जगतको न समझे तो सुख हस्तगत है।

(२१ । ४ । ४७)

३ ऐसी चेष्टा करो जो कोई कल्पना न हो। कल्पना ही ससारकी जननी है। कल्पना चाहे सत् हो, चाहे असत् हो आकुलता हीकी जननी है। अत जहाँतक बने कल्पनाओंको त्यागो। उतनी ही कल्पना करो जितनी तुम्हारे पुरुषार्थसे सम्पन्न हो सकती है। पासमे एक पैसा न हो और बम्बई यात्राकी इच्छा करे यह क्या असगत नहीं है? कालके अनुसार काम करो, देखा देखी मत चलो। शक्त्यनुसार किया गया अनुकरण सुखका साधक होता है।

(२६ । ४ । ४७)

४ श्रीवीतरागदेव ही आत्मसुखके पात्र हैं। ससारी मनुष्योंको सुख कहाँसे हो? इतनी इच्छाएँ हैं जितने पदार्थ नहीं। सभी पदार्थ भी यदि एकको मिल जावें तब भी इसकी इच्छाकी पूर्ति नहीं हो सकती। केवल भ्रम ही सुख होनेका है। यदि मन भरकी भूखवालेको एक कण मिल जावे तब क्या उसकी पूर्ति हो सकती है? नहीं, फिर भी यह मोही जीव प्रयास करनेसे नहीं चूकते।

(४ । ५ । ४७)

५. नाना विकल्प होते हैं जिनमें कोई भी सार नहीं। जो कार्य कर सके उसे यदि कोई विकल्प हो कोई हानि नहीं परन्तु यहाँ तो वह धारा विकल्पोंकी होती है जिनके प्रारम्भ करनेकी सम्भावना नहीं। ससारमे जो मिलता है वही विकल्प जालमें फँसा

हुआ अपनेको दुःखी कहता है इससे यह समझना चाहिये कि कोई भी सुखी नहीं।

(३।६।४७)

६ संसारमें जितने प्राणी हैं सभी सुखके अभिलाषी हैं, एतदर्थ ही उनका प्रयास रहता है। 'शान्ति मिले' इसके लिये अनेक प्रकारके उपायोंका अवलम्बन करते हैं, निरन्तर उपायोंके सम्पादनमें आकुलित रहते हैं।

(२९।७।४७)

७ संसारमें सभी मनुष्य जो क्रिया करते हैं उसका तात्पर्य यह रहता है कि इसके द्वारा हमको सुख हो। सुखकी सिद्धि कषायके अभावसे होती है। क्रिया करनेमें इच्छा मुख्य होती है क्रिया सिद्ध होनेपर कषायकी निवृत्ति हो जाती है।

(२२।११।४७)

८ मनुष्योंके पापोदयकी मुख्यता है इसीसे सुखकी सामग्री मिलना दुर्लभ है।

(५।१।४८)

९ अनुकूल, प्रतिकूल अवस्थामें जो हर्ष, विषाद करता है वह कभी भी सुखी नहीं हो सकता। अनुकूल प्रतिकूल भाव ही विभाव हैं, अनात्मीय हैं, इनमें सुखका लेश नहीं।

(१४।५।४८)

१० आत्माकी परिणति सुख चाहती है परन्तु उपाय करनेमें भय करती है, कैसे सुख मिले?

(१।८।४८)

११ इस संसारमें यदि सुखको चाहते हो तो विश्वास करो कि अन्य मनुष्योंकी कथा दूर रहे यह शरीर भी तुम्हारा नहीं। शरीर पर द्रव्य है हमने इसमें आत्मीय कल्पना कर ली है।

(१८।८।४८)



१२ ससारमे वही मनुष्य सुख

निस्पृह हो ।



१३ ससारका मूल कारण

करो । यही दु खके मूल हैं सो

तो हैं । सुख भी तो और कुछ नहीं

का मूल है ।



१४ सुखके लिये प्रयास

तुल्य प्रयास है । सुखका विघ

कारण रागादि परिणाम हैं

प्रयास करो ।



१५. इस ससारमे सब

और वह सुखकी प्राप्ति सब

कर्मक्षय सम्यक्चारित्रसे हो

होता है और वह अनवाय

श्रुतिसे होता है, वह श्रुति

भगवान् आप्त वह हैं

जिसके क्षुधादिक दोष हैं

चारित्र नहीं हो सकता।

करने वाले हैं । जहाँ

नहीं वहाँ मोहनीय कर्म

मोहनीय कर्मका

घातिया कर्म विनाश



है। इससे भगवान आप्त नहीं हो सकता है जिससे मोहनीय
कर्मका अभाव हो गया है। जहाँ क्षुधा तृषा वेदना है वहाँ निय
से मोहनीयका सद्भाव है। जहाँ मोहनीय है वहाँ रागादिक
जहाँ रागादिक दोष हैं वहाँ आप्तता नहीं रह सकती, अतः दि
म्बर सम्प्रदायमें जो वीतराग विशेषण आया है वह उपयुक्त है।

(७।८।५

१६ संसारमें यदि प्राणी सुखका भाजन हो सकता है
निरन्तर अपनी त्रुटियों पर दृष्टि रखता है। परके अवगुण देख
अपने उपयोगकी विशुद्धता पलायमान हो जाती है। आत्म
अनेक प्रकारके भाव उत्पन्न होते हैं परन्तु अधिकांशमें वे ऐसे
निरर्थक होते हैं जिनका कोई सार नहीं। आगममें तो लिख
कि प्राणिमात्रमें मैत्री करो, सब प्राणियोंमें दुःखकी उत्पत्ति
हो, अर्थात् कोई प्राणी दुःखी न हो। इतना निर्मल परिणाम
भावनाके भानेसे होता है वह प्राणी अल्पकालमें संसारसे या
मुक्त हो सकता है। धर्मनाशकके अनुकूल ही इस जीवका सं
होता है, और वही संस्कार कालान्तरमें फल देता है। जि
संस्कार निरन्तर परके अनिष्ट करने वाले होते हैं वह सदा क
परिणामोंसे व्यग्र रहता है, वर्तमानमें दुःखी रहता है तथा
न्तरमें भी दुःखका पात्र होता है।

(१४।११

१७ शारीरिक वेदनाओंका मूल कारण तुम्हारी शृंखला
यदि वेदना क्षुधाको शान्त करना है तब जो समय पर
शान्तिसे उसे उपयोगमें लाओ। केवल कल्पना जालमें मत उ

(१५।१

शान्ति सदन

१ ससारमे बहुतसे मनुष्य शान्ति चाहते हैं और उसकी प्राप्तिके लिये उपाय भी करते हैं परन्तु वे उपाय निश्चय नहीं। जैसे बहुतसे मनुष्य जब अत्यन्त व्यग्र होते हैं तब मदिरापान कर लेते हैं और यह युक्ति देते हैं कि मदिरापानसे व्यग्रता दूर हो जाती है परन्तु सत्य यह है कि व्यग्रता दूर नहीं होती केवल मदोन्मत्त होनेसे उसका भान नहीं होता। ठीक इसी तरह दैनिक जीवनकी कठिनाइयोंसे परेशान मनुष्य शान्तिकेलिये ठाठबाटसे रहनेका प्रयत्न करता है परन्तु सत्य यह है कि उसकी कठिनाइयाँ दूर नहीं होती केवल रागरगमे मस्त होनेसे उनका भान नहीं होता। जैसे नशा उतरनेके बाद व्यग्रता पुन अपना प्रभाव दिखाती है उसी तरह रंगरलियाँ समाप्त होनेके बाद कठिनाइयाँ भी पुन अपना प्रभाव दिखानेको एक एक कर सामने आने लगती हैं।

(२।१।४७)

२. ससारमे कषायकी प्रबलता ही दुःखका बीज है। जो दुःखसे छूटना चाहे उन्हें कषायका निग्रह करना उचित है। कषायके निग्रहसे ही आत्मामें शान्ति आती है। कषाय मैल है, मैलसे मलीनता आती है।

(५।२।४७)

३ शान्तिका उपाय न तो तीर्थक्षेत्रमे है और न सत्समागममें है क्योंकि शान्ति तो आत्माकी मोह परिणतिके अभावमे है। यह कैसे हो ? इसपर बहुत विचार किया, कुछ समझमे नहीं आया। अनादिकालसे अनात्मीय पदार्थोंमे अभेद बुद्धि हो रही

है वह कैसे मिटे ? आगमाभ्यास ही इसके मेटनेमें समर्थ है परन्तु यह नियम नहीं क्योंकि ग्यारह अङ्गपाठी भी होकर आत्म ज्ञानसे वञ्चित रहते हैं।

(५।३।४७)

४ वास्तवमें शान्ति तो स्वकीय आत्मामें पर पदार्थोंके साथ जो ममता बुद्धि है उसके अभावमें होती है। ममता बुद्धिका अभाव नहीं होता। निरन्तर इस बातका भय रहता है कि यदि इनसे ममता छोड़ देवेंगे तो क्या होगा ? क्योंकि इन्हींसे अपनी रक्षा होती है ऐसी श्रद्धा है तथा लोकेषणाके लिये नाना प्रकारकी चेष्टा करता है।

(४।७।४७)

५ केवल कल्पनासे स्वात्म रसका स्वाद मिलना असम्भव है मन, वचन, कायके व्यापारसे परे है। शान्तिका आस्वाद रागी द्वेषी जीवको नहीं मिलता।

(१९।४।४७)

६ चित्तवृत्तिको शान्त रखनेका यही उपाय है कि शास्त्र अध्ययन करो, उससे अपनी शान्तिका ध्यान रक्खो।

(२८।७।४७)

७ शान्तिका मूल कारण तो भीतरसे व्यग्रता न होनी चाहिये। व्यग्रतासे कोई भी काम नहीं होता, अन्यकी कथा छोड़ो लौकिक कार्य भी नहीं होता, परमार्थ तो बहुत दूर है। परमार्थमें तो सब तरफसे चित्तवृत्तिको संकोच कर स्वरूपमें लगा देना चाहिये।

(१८।७।४७)

८ लालसाका त्याग शान्तिका मूल कारण है। इसका यह तात्पर्य है कि किसी द्रव्यकी सत्ता किसी पदार्थसे नहीं मिलती।

अथात् सब पदार्थ स्वीय द्रव्यादि चतुष्टयसे पृथक् पृथक् हैं। उनमें जो हमारी निजत्वकी कल्पना है उसे त्यागना ही परका त्याग है। यही होना कठिन है क्योंकि अनादिकालसे हमारी प्रवृत्तिमें परमें निजत्वकी कल्पना हो रही है, उसका दूर करना अत्यन्त कठिन है।

(२४।११।४७)

९ माना कि क्षेत्र शान्तिका कारण है परन्तु शान्तिका उपादान कारण आत्मा हो तब तो कार्य हो।

(२७।११।४७)

१० शान्तिका मूलकारण आत्मामें मोहाभाव होना चाहिये। उसकी त्रुटि होनेसे शान्तिकी स्थिरता नहीं।

(२९।१२।४७)

११ पुण्य-पापकी कथाओंके श्रवण करनेसे चित्तको शान्ति मिलती है। शान्तिका कारण यथार्थ वस्तुविज्ञान है।

(११।१।४८)

१२ शान्तिका कारण तो निजकी मूर्च्छा त्याग है।

(१२।१।४८)

१३ शान्तिका कारण आत्मामें परपदार्थकी मूर्च्छा न्यून होना चाहिये। मूर्च्छा ही पापका कारण है।

(३।३।४८)

१४ जितनी ही तृष्णा कृश होगी उतनी ही शान्ति आवेगी। केवल जो बात गल्पमें थी वह प्रवृत्तिमें आ जावेगी।

(१८।३।४८)

१५. यह कौन चाहता है कि मैं शान्तिका पात्र न होऊँ परन्तु नहीं हो सकता। इसका कारण मेरी बुद्धिमें मनोदुर्बलता ही है।

(१३।५।४८)

१६ शान्तिका कारण अन्तर्निहित है केवल बाह्यपदार्थोंसे दृष्टिमें जो दोष है उसे पृथक् करनेकी आवश्यकता है। अनन्त-काल इसी दोषके द्वारा अनन्त यातनाओंका पात्र बन रहा और रहेगा अतः इसे त्यागो।

(२१।८।४८)

१७ शान्तिकेलिये उपाय शान्ति ही है। अशान्तिपूर्वक जो कार्य होगा उससे शान्तिका मिलना कठिन है। चक्रवर्ती षट्खण्डकी विजय बलसे करता है, फल उसका राज्य ही है। राज्य परिग्रह है उसमें अशान्तिकी ही तो उत्पत्ति होगी।

(२६।९।४८)

१८ जिसके मूलमें मोह है वहाँ सुख शान्ति नहीं। शान्तिका मूल मोहका अभाव है उसके सद्भावमें शान्ति नहीं।

(८।१०।४८)

१९ काम तो उसे कहते हैं जो आत्माका शान्तिका कारण हो। यदि काय करनेमें शान्तिका उदय नहीं हुआ तब व्यर्थ ही जन्म गमाया।

(२४।१०।४८)

२० शान्तिका मार्ग वहीं है जहाँ निवृत्ति मार्ग है।

(२७।१२।४८)

२१ आगममें शान्ति अशान्ति कुछ भी नहीं। आगम तो केवल उसका प्रतिपादन करता है। तीर्थ, सत्समागम आदिमें भी शान्ति और अशान्ति नहीं। शान्ति आत्मामें है वहाँ हम खोजते नहीं, उसके प्रतिबन्धक कारणोंका हटाते नहीं, निमित्त कारणोंको पृथक् करनेकी चेष्टा करते हैं। उसके प्रतिबन्धक कारण क्रोधादि कषाय हैं हम उनको तो हटाते नहीं किन्तु जिन निमित्तोंसे क्रोध होता है उन्हें दूर करनेका प्रयत्न करते हैं।

(४।४।५१)

२७ शान्तिके जो पिपासु हैं उन्हें संसारके आडम्बरोंसे अपनी प्रवृत्ति हटानी चाहिये और यह जानना चाहिये कि जिन पदार्थोंमें हम रागद्वेष कर इष्टानिष्ट कल्पना करते हैं वे पदार्थ इष्ट और अनिष्ट नहीं अपि तु जो हमारी रुचिके अनुकूल होते हैं उन्हें हम इष्ट और जो प्रतिकूल होते हैं उन्हें अनिष्ट समझ लेते हैं। सबसे पहिले एक तो यही महती अज्ञानता है कि हम परको निज मानते हैं। कोई भी पदार्थ किसीका नहीं, सभी पदार्थ अपने अपने परिणामोंके द्वारा संसारमें परिणम रहे हैं। सत्ता सभीकी पृथक् पृथक् है। जैसे ६४ पैसे मिल-कर १) व्यवहार होता है। विचार कर देखो सबसे जघन्य भाग एक पैसा है, इसीके सदृश ६३ भाग उसमें और हैं। इन ६४ भागोंका एकत्र होना ही तो एक रुपया है। रुपया और क्या वस्तु है? जब हम उसके जघन्य अंश एक पैसा पर विचार करते हैं तब एक पैसा या एक अंश दूसरे पाव आना अंशसे भिन्न है। इन दोनोंको एकरूपसे यदि व्यवहार करें तब आध आना ऐसा व्यवहार होता है। यहाँ पर एक अंश दूसरेसे मिलकर क्या सर्वथा एक हो गया? नहीं, परन्तु बन्धावस्थामें आध आना यह व्यवहार होता है।

(१२।४।५१)

२८ जनताके प्रशंसक शब्दोंसे शान्ति नहीं आ सकती। जनताकी निन्दासे न तो अशान्तिका उदय होता है और न स्तुतिसे शान्तिका उदय होता है। हमारी कल्पना ही हम निन्दामें दुःख और प्रशंसामें सुखका अनुभव कराती है। देखो जब तो निन्दाके वाक्योंका श्रवण कर हम यह कल्पना कर लेते हैं कि हमारी निन्दा की किन्तु निन्दा हम इष्ट नहीं, इस तरहसे हम स्वयं दुःख भाजन हो जाते हैं। जिस समय यह कल्पना विलीन हो जाती है दुःख मिट जाता है। प्रशंसामें यह कल्पना कर लेते हैं कि हमारी प्रशंसा

करता है और उसमें इष्टबुद्धि कर आपसे हम सुखी हो जाते हैं। जिस कालमें यह कल्पना विलीन हो जाती है उस समय न शान्ति या सुख नहीं होता।

(१५।४।५१)

२४ आत्माको शान्ति नहीं मिलती इसका कारण क्या है? कुछ समझमें नहीं आता। जो भी कार्य करता है उसमें आकुलता होती है। परका अनिष्ट हो इत्यादि अनेक ऐसे कार्य हैं जिनमें आकुलता का कहना ही क्या है परन्तु परका भला हो ऐसा चिन्तन भी शान्तिका उत्पादक नहीं। जगतमें दो तरहके ही तो कार्य हैं। एक वे कार्य जिनमें दूसरोंको सुखादि देनेका भाव होता है, दूसरे वे जिनमें दूसरोंको निरन्तर कष्ट देनेके भाव होते हैं, इनसे अतिरिक्त कार्य ही नहीं। क्या करें—बुद्धि कुछ काम नहीं करती। निरन्तर व्यग्रता रहती है। पुण्य पाप दोनों त्याग देने योग्य क्या कर कुछ समझमें नहीं आता। आगममें यह लिखा है कि मोह, राग, द्वेष त्यागो। आत्मा अपना हित करे पर पदार्थोंमें जो निजत्वकी कल्पना है उसे त्यागो। यह सब ऐसी विकट समस्या है जो कहनेमें तो कोई कठिन नहीं परन्तु उपयोगमें आना कठिन है। करना और कहना यह दोनों भिन्न हैं। कहनेवाले प्रायः सभी मिलते हैं परन्तु उसपर अमल करनेवाले विरले हैं। जो हैं वे देखनेमें नहीं आते क्योंकि बाह्य प्रवृत्तिसे ही तो अनुमान करेंगे। वह प्रवृत्ति देखनेमें नहीं आती।

(१६।४।५१)

२५ परिणामोंमें शान्ति उत्पादक जो कार्य हो वह श्लाघ्य है। जिस कार्यके करनेमें शान्ति न हो वह श्लाघ्य कोटिमें नहीं आता। जिस कार्यके अनन्तर शान्ति आ जावे, अभिमान कर्तृत्व का लेश न हो वही महान् कार्य है। पञ्चेन्द्रिय विषय सेवनमें

उसर कालम तृष्णा रोगकी शान्ति नहीं होती [illegible] विषयोंके सेवनका कोई भी साध्य मानकर प्रस्तुत हो होता। [illegible] विषय सेवनका प्रत्येक व्यक्ति दुःखका कारण मानता है। यद्यपि विषय दुःखके जनक नहीं, क्योंकि वे तो पुद्गल द्रव्य गुण हैं अत न दुःख उत्पादक हैं और सुखके जनक ही हैं। [illegible] परिणाम ही दुःखके जनक हैं, क्योंकि जिस समय [illegible] होते हैं उस समय आत्मामें स्वास्थ्य नहीं रहता। जब तक [illegible] निवृत्ति न हो आत्मा अधीन रहता है। जिस [illegible] परिणाम ध्वस्त हो जाता है उसी समय आत्मा [illegible] शान्तिका आविर्भाव होता है जिसमें आत्मा [illegible] जाती है। व्यग्रताके अभावमें आत्मा स्वयमेव [illegible] अनुभव करने लगता है।

(६।४।४१)

२६ शान्तिका अर्थ लोगोंने मनुष्योंने [illegible] लिया है कि कुछ भी न करना, पत्थरके तुल्य [illegible] सर्वथा असम्भव है। आत्माका जानना [illegible] स्वभाव है यह स्वभाववान्से कभी भी पृथक नहीं होता, जैसे अग्निका उष्ण स्वभाव है यदि उष्ण न हो तब [illegible] न रहे। इसी तरह आत्माका स्वभाव ज्ञान है, [illegible] आत्मा है, वहीं आत्मा है वहीं ज्ञान है। ज्ञानके अभावमें [illegible] ही नहीं। ज्ञानका कार्य पदार्थोंको जानना है तब [illegible] मुक्त जीव हो, पदार्थोंका निरन्तर उसमें [illegible] चाहे है ज्ञानमें आकार अवभासन होना। [illegible] का अर्थ उसके समक्ष रहना है यह [illegible] जो पदार्थ अर्थ यह नहीं कि जितना लम्बा चौड़ा [illegible] है। इसका जार। परन्तु दर्पणका परिणमन तदा [illegible] ही दर्पण हो [illegible] यह आप

पड़ेगा कि इस समय दर्पणका परिणमन पदार्थके निमित्तसे हुआ है। जब हम दर्पणमें मुख देखते हैं तब हमें यह ज्ञान होता है कि दर्पणमें हमारा मुख दिख रहा है और यह भी ज्ञान होता है कि दर्पणमें जो मुख है वह हमारे वास्तविक मुखसे भिन्न है। यदि ऐसा न होता तो दर्पणस्थ मुखमें कालिमा देख जो अपने मुखकी कालिमा मेटते हैं वह न मिटाकर दर्पणमें दिखने वाले मुखकी ही कालिमा मिटाते। इससे सिद्ध हुआ कि वह मुख परस्पर भिन्न हैं। इसी तरह ज्ञानमें जो ज्ञेय आता है वह ज्ञानका परिणमन है। ज्ञेय भिन्न पदार्थ है, एक अंश भी उसका ज्ञानमें नहीं आता। इसी तरह ज्ञानमें जो राग आता है वह भिन्न है और चारित्रगुणका परिणमन जो रागरूप हुआ वह भिन्न है। तथा जिस रागरूप प्रकृतिके उदयसे हुआ उससे भी भिन्न है। जो पुद्गल कर्म मोहनीयकी राग प्रकृतिका उदय हुआ वह तो पुद्गलका ही परिणमन है, उस परिणामका कर्ता पुद्गल ही है। वह ज्ञानमें नहीं आया उसके निमित्तको पाकर आत्माके चारित्र गुणमें जो विकार हुआ वही ज्ञानमें आया। तब जैसे ज्ञेयका सम्बन्ध साक्षात् ज्ञानमें होता वैसा रागप्रकृतिके उदयका साक्षात्सम्बन्ध ज्ञानमें नहीं होता। तात्पर्य यह कि ज्ञानमें कोई भी पदार्थ आवे उसके पृथक् करनेका प्रयत्न मत करो। ज्ञान तो प्रकाशक पदार्थ है इसके सम्मुख जो भी आवेगा उसे ही वह जानेगा। उसे जानो परन्तु उसमें विषाद मत करो, ज्ञानमें इष्टानिष्ट कल्पना मत करो, यही तुम्हारा पुरुषार्थ है, यही शान्तिका मूल उपाय है।

(१७ २८।४।५१)

७७ प्रतिदिन शान्तिके गीत गानेवाला शान्तिका पात्र नहीं होता अपि तु वही महात्मा शान्तिका पात्र हो सकता है जो रागादि शत्रुओंसे पराजित न हो।

(२९।४।५१)

२८. शान्तिका उपाय अन्यत्र नहीं, अन्यत्र न देखना यही है। अशान्तिका बीज भी अन्यत्र नहीं। यदि दोनोंमेंसे एकका भी निश्चय हो गया तब दूसरेका निश्चय अनायास हो जाता है। जिसे एकत्व भावना होगी उसे अन्यत्व भावनाके अर्थ प्रयास करने का आवश्यकता नहीं। वस्तुका स्वरूप स्वपरोपादानापोहन ही सा है। स्वरूपका उपादान और पर रूपका अपोहन यही वस्तुका वस्तुत्व है। समारम्भ जितने पदार्थ हैं उनकी यही व्यवस्था है। एकत्व भावनामें विधिमुखेन वर्णन है और अन्यत्व भावनामें निषेधमुखेन वर्णन है। भावना चिन्तनसे यही लाभ है कि परसे भिन्न आत्मचिन्तन होनेकी प्रवृत्ति दृढ़ हो जाती है। और उसका फल यह होता है कि एक दिन ऐसा आता है कि ज्ञान केवल दर्पण दर्पण मन्श पदार्थोंका प्रकाशक हो जाता है। मोक्षमें आत्मा केवल अपने चतुष्टयसे ही परिणमन करता है। संसारमें भी जो परिणमन होता है वह भी स्वकीय द्रव्यमें ही होता है परन्तु इतना अन्तर है कि यहाँ जो पदार्थ ज्ञानमें आते हैं उनमें किसीमें मोह, किसीमें द्वेषरूप परिणमन करता है। यह परिणमन शुद्ध द्रव्यमें नहीं होता है केवल पर पदार्थ भासमान होते हैं। वे पदार्थ जो ज्ञानमें आते हैं उन्हें ज्ञेय नहीं रहने देना यही दूषित प्रणाली संसारकी जननी है। संसार कोई पृथक् पदार्थ नहीं। आत्मा ही विभाव पर्याय सहित संसार और विभाव परिणति रहित असंसार कहलाता है।

(३१।५।५१)

२९. शान्तिका मार्ग कहीं नहीं आपहीमें है। आपसे तात्पर्य आत्मासे है। इसका तात्पर्य यह है कि हम परके द्वारा शान्ति चाहते हैं, यही महती अज्ञानता है, क्योंकि यह सिद्धान्त है कि कोई द्रव्य किसी द्रव्यमें नवीन गुण उत्पन्न नहीं करता है। पदार्थों

की उत्पत्ति उपादान कारण और सहकारी कारणोंसे होती है। उपादान एक और सहकारी अनेक होते हैं। जैसे घटकी उत्पत्तिमें उपादान कारण मृत्तिका और सहकारी कारण दण्ड चक्र चीवर कुलालादि हैं। यद्यपि घटकी उत्पत्ति मृत्तिका ही में होती है, मृत्तिका ही उसका उपादान कारण है परन्तु फिर भी कुलालादि कारण कूटके अभावमें घटरूप पर्याय मृत्तिकामें नहीं देखी जाती। अतः ये कुलालादि घटोत्पत्तिमें सहकारी कारण माने जाते हैं। इसलिये प्राचीन आचार्योंने जहाँ कारणका स्वरूप निरूपण किया है वहाँपर यही तो लिखा है—'सामग्री जनिका कार्यस्य, नैकं कारणम्' अतः इस नियमका सिद्धान्तको दृढ़तर करना उचित नहीं। यहाँपर मुख्य गौण व्यवस्थाकी आवश्यकता नहीं, परन्तु स्वरूप जाननेकी आवश्यकता है। 'अन्वयव्यतिरेकाभ्यां हि कार्यकारणभावः' इनमें दोनों ही मुख्य हैं। जब हम उपादान कारणकी अपेक्षा कथन करते हैं तब घटका उपादान कारण मिट्टी है। निमित्तकी अपेक्षा यदि निरूपण किया जावे तब कुलालादि कारण हैं।

(१७।६।५१)

३० शान्तिका आना कोई कठिन बात नहीं आज शान्ति आसकती है परन्तु शान्तिके बाधक जो रागादि दोष हैं उनको तो हम त्यागते नहीं। रागादिकके जो उत्पादक निमित्त हैं उनको त्यागते हैं। उनके त्यागनेसे रागादिक नहीं जाते अपितु रागादि परिणामोंमें उपेक्षा करनेसे रागादि दोषोंका अभाव हो सकता है।

(११।७।५१)

३१ शान्ति तो तब आवे जब कषायोंका उपद्रव न हो। निरन्तर पर निन्दा सुननेमें प्राणी आनन्द मानता है। जहाँपर

परकी निन्दामें जिसे प्रसन्नता होती है उसे आत्मनिन्दामें स्वयमेव विषाद होता है। जिसके निरन्तर हर्ष-विषाद रहते हों वह काहेका सम्यग्ज्ञानी? आत्मा ज्ञानदर्शनका पिण्ड है, न जाने क्यों ये राग द्वेष होते हैं? इसका मूल कारण केवल हमारा मनत्व है अर्थात् परमें निज मानना है। यही मानना रागद्वेषका कारण है। जब परको निज मानोगे तब स्वयमेव अनुकूलमें राग और प्रतिकूलमें द्वेष करना स्वाभाविक है। यद्यपि रागद्वेष कषायमय भाव हैं, आत्मामें आकुलताके उत्पादक हैं। जहाँ आकुलता है वहीं दुःख है। अतः दुःखके निवारणके लिए सर्वप्रथम परपदार्थकी मूर्च्छा त्यागना ही श्रेयस्कर है। मूर्च्छाका लक्षण भी ममत्वरूप परिणाम है। यद्यपि ममता परिणामका विषय अपना नहीं किन्तु मोही जीव उस विषयको अपना मानता है। जिसको अपना मान लिया उसकी रक्षा करना उसका कर्तव्य हो जाता है, अतः सर्वथा परको त्यागना यही उपाय शान्तिका उत्पादक है। शान्तिसे ही सुखका उदय होता है। शान्तिका कारण पर पदार्थको त्यागना नहीं है, केवल आत्मामें उत्पन्न जो रागादिक परिणाम होते हैं उन्हें त्यागो।

(२१ । ७ । ५१)

२०. जिन्हें अपनी आत्माको शान्ति प्राप्त करना है वे सबकी चर्चा करना छोड़ दवें।

(२२ । ७ । ५१)

२३. जिन जीवोंको शान्ति रसका आस्वादन करना है उन्हें सबसे पहले अपना निर्णयकर मनुष्य जन्मका उद्देश्य निश्चित करना चाहिए। जिनका कोई उद्देश्य नहीं वह कदापि सुखी नहीं हो सकते।

(३० । ७ । ५१)

२४. शान्ति वही जीव प्राप्त कर सकता है जो इन रागादि भावोंमें अपनापन छोड़ दे। अनन्त जन्मकी कथा तो प्रत्यक्ष नहीं

अतः उनके द्वारा कुछ विशेष विचार करना बुद्धिमें नहीं आता। परन्तु इस पर्यायमें जो सुख दुःख हुए वह तो आत्म प्रत्यक्ष हैं। उनके द्वारा कुछ भलाई हो सकती है।

(२१।७।५१)

३५ वास्तवमें शान्तिका मार्ग तो इन सब मनोंके विकल्पोंसे परे है। शान्तिका मार्ग यहाँ नहीं। सम्पूर्ण पर्यायोंमें जानेपर भी मोक्षमार्गका लाभ नहीं हुआ।

(१९।८।५१)

३६ दुःखका लक्षण आकुलता है। आकुलता जहाँपर होता है वहाँ इस आत्माको अशान्ति रहती है। आत्मा अनादिकालसे शान्ति चाहता है परन्तु शान्तिका अनुभव तब हो जब किसी प्रकारकी व्यग्रता न हो। सबसे महती व्यग्रता तो शरीरको स्वस्थ रखनेकी है। यह शरीर पुद्गल समुदायसे निष्पन्न हुआ है परन्तु हम इसे अपना मानते हैं, प्रथम तो यह मान्यता मिथ्या है। जब इसे आत्मीय माना तब इसके रक्षणकी चिन्ता रहती है। इसके लिये जिन पदार्थोंसे प्रत्यक्ष मिलता है उनका संग्रह करना पड़ता है। उस समयमें अनेक प्रकारके अनर्थोंका आश्रय लेना पड़ता है, हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार, परिग्रह पञ्च पापोंसे अपनेको नहीं बचा सकता। बड़े प्राणियोंका घात करते देखा जाता है तथा अनेक प्राणियोंके मांसका खा जाता है, जिसके द्वारा अल्प भी भय हुआ उसे नहीं रहने देता, मच्छरादिके निवारणार्थ औषधिका प्रयोगकर निर्मूल करनेका प्रयत्न करता है।

(२।९।५१)

३७ जब पर पदार्थोंमें निजत्वका संकल्प हो जाता है तब उसकी रक्षा करनेका भाव होता है। जो जो पदार्थ उसके रक्षक होते हैं उन सब पदार्थोंमें राग और जो जो पदार्थ उसके विरोधी

होते हैं उनमें स्वयमेव द्वेष हो जाता है। [illegible] आत्माम आया वहाँ शान्तिका लेश नहीं। [illegible] आत्मा निरन्तर [illegible] पात्र हो [illegible]

([illegible])

'राज्य' सुता कलत्राणि शरीराणि [illegible] च।
ससक्तस्यापि नष्टानि तव [illegible] ॥'

३८ राज्य, पुत्री, स्त्री, शरीर, [illegible] उनमें पाये और निरन्तर इनमें आसक्त [illegible] पूर्णरर नष्ट हो गये। इनसे न तो [illegible] और न [illegible] लाभ हुआ। निरन्तर इनको सुरक्षा [illegible] पात्र रहे। शान्तिका लेश न पाया। [illegible] है। [illegible] पदार्थ कालत्रय में शान्तिके [illegible]।

([illegible])

३९ संसारमें शान्तिका [illegible] हैं परन्तु उनका मार्ग पृथक् पृथक् है। [illegible] है या पञ्चेन्द्रियोंके विषय प्राप्त कर उसीमें शान्ति [illegible] जन्म उसीमें बिता देते हैं परन्तु [illegible] न मिलनेसे [illegible] इस जन्मको पूर्ण कर पर [illegible] हैं। विषय सेवन शान्तिका उपाय नहीं, क्योंकि [illegible] उसे सेवन करते हैं उसमें शान्ति नहीं मिलती। [illegible] पर [illegible] नित्यत्व कल्पना है। पर [illegible] हम उन्हें [illegible] बनाना चाहते हैं पर [illegible] सकते।

([illegible])

४० यदि शान्तिका [illegible] तो [illegible] को तिलाञ्जलि दो।

([illegible]

४१ शान्तिका कारण यद्यपि बाह्यमें कुछ नहीं फिर भी अन्तरङ्ग परिणति निरन्तर व्याकुल रहती है। निरन्तर अन्यकी चिन्तामें व्यग्र रहते हैं—"लोग ऐसा करें, जगतके प्राणी सुमार्ग पर चलें, सबको शान्ति मिले, परस्परका वैमनस्य मिट जाय, कोई दुःखी न हो, व्यर्थ कलहमें अपना समय नष्ट न करें।" परन्तु तत्त्व दृष्टिसे संसार तो इसी रूप रहेगा। जब यह जीव अपने स्वरूपको विचारे "देखना जानना" ही इसका स्वरूप है, उसमें जहाँ स्थिर हो गया अनायास ही सब उपद्रवोंसे सुरक्षित हो सकता है। परमार्थसे इसका स्वभाव तो स्वच्छ है। देखनेवाला जाननेवाला मैं हूँ यह एक कल्पना भी मोहजन्य होती है। इसका स्वभाव तो दर्पणवत् है, दर्पणकी इच्छा नहीं कि अमुक पदार्थ इसमें आभासमान हो, स्वयमेव पदार्थका सदृश आकार दर्पणमें परिणम जाता है, यही व्यवस्था निराकी जीवकी है। जब पदार्थ व्यवस्था इस प्रकार है तब हमें हर्ष विषाद करनेकी आवश्यकता नहीं। (१०।११।५१)

४२ आजकल जो शिक्षा पद्धति है उसमें भौतिकवादको खूब प्रोत्साहन मिलता है। विज्ञानका इतना प्रचार है कि बालक भी रोज निकालते हैं। यहाँ तक विज्ञानने आविष्कार किया है कि बिना चालकके वायुयान चला जाता है तथा ऐसा अणुबम बनाया है कि जिसके द्वारा लाखों मनुष्योंका विध्वंश हो जाता है। ऐसी चीरफाड़ करते हैं कि पेटका बालक निकाल कर बाहर रखकर पेटको सिकार ठीक कर देते हैं पश्चात् बालकको उसी स्थान पर रख देते हैं। बदमाशबाजी पसुली बाहर निकाल देते हैं किन्तु ऐसा आविष्कार विज्ञान नहीं किया कि यह आत्मा शान्तिका पात्र हो जावे। (११।१२।५१)

त्याग

१ परमार्थसे त्याग करना अन्य बात है, लोक प्रतिष्ठाके लिये बाह्य त्याग करना अन्य बात है। संसारमें ख्यातिके लिये जो भी तप आदि कार्य किये जाते हैं वे सब कायक्लेशके लिये होते हैं। उनसे आत्महितका गन्ध भी नहीं आता। कषाय निवृत्तिके हेतु जो कार्य किया जाता है उससे आत्महित होता है और जो कार्य केवल कषाय पुष्टिके लिये किया जाता है उससे आत्महित नहीं होता।

(५।१।४७)

२ त्यागकी महत्ता अभ्यन्तरसे है? परन्तु उस ओर लक्ष्य नहीं।

(११।८।४७)

३ राग मेटनेके उपाय आचार्योंने बहुतसे बताए हैं परन्तु हम उन उपायोंका अवलम्बन नहीं लेते। केवल बाह्य त्याग कर ही सन्तोष प्राप्त कर लेते हैं। बाह्य वस्तु जिसका हम त्याग करते हैं वह शान्तिका कारण नहीं, क्योंकि उस बाह्य वस्तुका आत्मासे कोई सम्बन्ध नहीं।

(२५।८।४७।)

४ संसारमें सबसे कठिन मूर्च्छाका त्याग है। लोग पदार्थोंके त्यागकी चेष्टा करते हैं, अपनेसे अतिरिक्त जो वस्तु है वह स्वतः त्यक्त है उसके त्यागनेकी क्या आवश्यकता है? जो भाव अपने आत्माके साथ तन्मय होकर दुखद हैं उन्हें त्यागना चाहिये।

(१८।१।४८)

५ त्यागका महत्त्व उसी समय है जब कि उससे करके भी कुछ न चाहे अन्यथा एक प्रकारका व्यापार है।

(२७।५।४८)

६ बाह्य वस्तुका त्याग भी आभ्यन्तर त्यागमें निमित्त हो जाता है। अतः सहसा यह पक्षपात नहीं करना चाहिये कि बाह्य त्याग कुछ नहीं। बाह्य त्यागमें तात्पर्य यह है कि मनुष्य पर्यायको पाकर कमसे कम बाह्य पैसेकी व्यवस्था उत्तम रखनी चाहिये।

(२।६।४८)

७ त्यागी वही है जिसके आत्मश्रद्धा पूर्वक बाह्य त्याग हुआ हो, जो अन्तरङ्गसे कृपालु हो और जीवोंकी दशाका जिसे पूर्ण ध्यान हो। नीतिके अन्तर्गत अपनी आत्मा आ गया। सर्व प्रथम तो अपनी दया करता हो यह लक्षण होना आवश्यक है। जो अपनी ही दयासे बहिर्मुख है वह परकी दया करनेमें सर्वथा असंगत प्रलापकर लोगोंको ठगता है। जो ऐसे त्यागी हों, केवल ऊपरी क्रियाकाण्डमें मग्न हों उनका साथ छोड़ो।

(८।६।४८)

८ जो त्याग करो किसीसे व्यक्त मत करो। त्यागशक्तिके अनुकूल ही अन्तरङ्गसे कार्य करो। त्यागकी सफलता चाहते हो तो लौकिक कार्योंके हेतु आत्मीय परिणतिको कलुषित मत करो।

(१०।५।५१)

९ परद्रव्यका त्यागकी जो परिपाटी चली आई है वह निमित्त कारणकी मुख्यतासे है। परद्रव्य न आज तक अपना हुआ, न है, और न आगे भी होगा। आत्मामें जो भाव होता है वह भी नहीं रहता, अनायास चला जाता है। अन्यकी कथा छोड़ो जो क्षणिक भाव हैं वे भी परिणमनशील हैं। जब वह भी परि

गमन शील है तब क्षायोपशमिक भाव औदयिक भाव क्या स्थायी रह सकते हैं ? किन्तु हम ऐसे मूढ हैं कि उनके होनेमें हर्ष मानते हैं। यही फिर नवीन बन्धका कारण हो जाता है। सम्यग्दृष्टि उह अपनाता नहीं अत उसके कर्मोका बन्धन अल्प स्थिति अनुभागको लिए हुए होता है। एक दिन बिलकुल नहीं होता। यह अवस्था दशमगुण स्थानमें और उसके आगे होती है।

(१०।५।५१)

१० बाह्यमें निमित्त कारणोंका त्याग कर बाड कर देना है किन्तु जिनके कारण इनको ग्रहण किया है उनका त्याग [illegible] भी नहीं। फिर भी प्रयास कर रहे हैं, न जाने कब [illegible] केवल गल्पवादसे कोई तत्त्व नहीं।

([illegible])

दान

१ भले ही मनुष्य दान न करे परन्तु [illegible] धनादिक छोड देने पर यह कठिन बात है। दानकी पद्धति [illegible] के लिये कार्यकारिणी नहीं, यह तो लोभ दूर करनेके लिये ही प्रशस्त है।

(२।१२।४०)

२ दानमें अनुराग रखनेसे उसका [illegible] मिलता है यह लौकिक विभूति ही तो है, परमार्थ [illegible]

([illegible])

३ अभ्यन्तर प्रवृत्तिमें जो कषाय [illegible] उसका त्याग [illegible] देता है वही सत्पथानुगामी [illegible]।

२ दान पहिले पात्र बुद्धिसे होता था, अब हम तुम्हारा उपकार करते हैं इस बुद्धिसे दान देते हैं। वस्तुतः लोभके त्यागका ही दान कहते हैं।

(१२।७।४८)

ध्यान

१ उपयोगकी स्थिरता ही ध्यानका कारण है। ध्यान दो प्रकारका है। एक तो संसारका कारण है जिसके आर्त्त, रौद्र दो भेद हैं। दूसरा संसारके नाशका कारण है। उसके भी दो भेद हैं एक धर्मध्यान, दूसरा शुक्लध्यान। उसमें धर्मध्यान शुभ परिणामोंका सम्बन्ध होनेसे यद्यपि बन्धका भी कारण होता है परन्तु परम्परा बन्धाभावमें भी कारण पड़ता है। चतुर्थ पञ्चम गुणस्थान तक रौद्रध्यान रहता है परन्तु यह ध्यान नरक तिर्यग्गतिका कारण नहीं होता क्योंकि सम्यग्दृष्टिके जो रौद्रध्यान होता है वह अप्रत्याख्यानके उदयमें होता है। यह चाहता नहीं, यह शुभ परिणामोंको भी नहीं चाहता फिर भी उनके कार्यको करता है। इससे सिद्ध हुआ कि बिना अभिलाषाके भी कार्य होते हैं, यह आर्त ध्यान, रौद्र ध्यानोंमें भी सम्भव है।

(५।७।५१)

व्रत

१ व्रत उत्तम वस्तु है परन्तु वर्तमान इस तरहका युग है कि व्रतका निर्वाह होना कठिन है। कोई घर ऐसा नहीं जिसमें अस्पताल की औषधि प्रयोगमें न लाई जाती हो।

(१२।७।४७)

२ व्रतके माने तो यह है कि आगमके विरुद्ध प्रवृत्ति न होनी चाहिये। तथा ऐसा करना प्रायश्चित्तसे भी शुद्ध नहीं हो सकता। जानकर अपराध करना अत्यन्त अन्याय है।

(१४।७।४७)

३ निरतिचार व्रत संसारका कारण है। जिसमें तात्पर्य चरणानुयोगकी पद्धतिके ज्ञानसे है।

(१७।६।४८)

४ अपने परिणाम निर्मल रहे इसलिये व्रत पालो।

(१८।६।४८)

५ व्रतोंका फल संवर पूर्वक निर्जरा है, क्योंकि व्रतका भेद है उसे तप कहते हैं। बाह्यतपोंमें अनशन आता है। इसे तेला कहते हैं। इसमें आठ भक्तका त्याग होता है।

(१९।९।४८)

महावीर सन्देश

१ श्रीवीरप्रभुकी स्तुति किसको कल्याणप्रद नहीं है। संसारकी असारता जान उन्होंने इससे स्नेह छोड़ा, आत्मकल्याण किया और उनके निमित्तसे संसारका कल्याण हुआ। यद्यपि भगवानकी इच्छा नहीं कि मेरे द्वारा जगतका उपकार हो परन्तु सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध ऐसा बन रहा है। जैसे सूर्योदयमें प्राणी अपने अपने कार्यमें लग जाते हैं उसी तरह वीतराग सर्वज्ञ प्रदर्शित पदार्थों को श्रद्धान कर जीव सुमार्गमें प्रवृत्ति करने लग जाते हैं। श्रीवीरप्रभु पदार्थोंके ज्ञाता-द्रष्टा हैं किसीमें न राग है न द्वेष है। राग द्वेषके वशीभूत होकर प्राणी मात्र संसार बंधनमें पड़ा

हुआ नाना दुर्योंका भार वहन करता है। जिन जीवोंने वस्तु स्वरूप जान लिया व इन बाह्य पदार्थोंको भिन्न जाना न तो उन्हें अपनानेकी चेष्टा करते हैं और न त्यागनेकी चेष्टा करते हैं। जिनके भेदज्ञानसे विमल अभिप्राय हो गया है वे न तो किसी पदार्थको ग्रहण करनेकी चेष्टा करते हैं और न त्यागनेका प्रयत्न करते हैं, क्योंकि व उनमें आत्मीय गुणोंका अभाव देखते हैं।

(१९। २०, १। ४७)

१ श्रीवीरप्रभुने अहिंसातत्त्वका साक्षात् रूप दिखाया। आपहीके प्रभावसे भारतवर्षमें हिंसाका अन्त हुआ। आज भी संसारमें अहिंसाका जो महत्त्व है यह भी वीरप्रभुका ही माहात्म्य है।

(२१। ४। ४८)

२ महावीर स्वामीने इस संसारको दिखा दिया कि मोक्ष मार्ग तो यह है। इस संसारकी गति विचित्र है। इसमें अनात्मीय पदार्थोंके संसर्गसे आत्माकी जो दशा हो रही है वह किसीसे छिपी नहीं है।

(२०। ६। ४८)

४ वास्तवमें महावीरप्रभुने यह दिखा दिया कि जीवो! आत्म हिंसा मत करो, यही अहिंसाकी जननी है। अपनी हिंसासे ही आत्मा अनन्त संसारका पात्र होता है।

(२९। ६। ४८)



मुक्ति-मन्दिर

प्रेम हटानेके लिये अनात्मीय पदार्थोंमें आत्मीय बुद्धिको त्याग देना चाहिये।

(२।४।४८)

९ श्रीकुन्दकुन्द महाराजने शुभोपयोगकी सदृशता अशुभोपयोगके साथ दिखाई है और युक्तिपूर्वक यह निर्विशेष सिद्ध किया कि मोक्षार्थी जीवोंको दोनों ही हेय हैं।

(८।४।४८)

१० मोक्ष पथिकको न राग करना, न द्वेष करना, केवल मध्यस्थ ही रहना चाहिये।

(११।५।४८)

११ श्रेयोमार्ग का आन्तरिक कलुषताके अभावमें है।

(१२।७।४८)

१२ संसारकी प्रक्रिया हम लोग पर पदार्थोंमें मानते हैं। इसमें मुख्य आत्मा ही इसका कर्ता है, शेष द्रव्य अचेतन हैं, उनके अन्दर चेतना नहीं। स्वयं क्या करें? यह भाव उन द्रव्योंके अभ्यन्तर में नहीं, मात्र हमारी चेतनाका है, संसारकी रचना हमारे परिणामोंका फल है और संसारके बन्धनसे छूटना भी हमारे परिणामोंका फल है। जिन परिणामोंसे संसार होता है उनका त्याग ही मुक्तिका मार्ग है अतः परमार्थके लिये पुरुषार्थ ही कारण है।

(१३,१४।८।४८)

१३ कल्याणका मार्ग केवल आत्मतत्त्वके यथार्थ भेद ज्ञानमें है। भेद ज्ञानसे उससे ही आत्मा स्वतन्त्र होता है। स्वतन्त्रता ही मोक्ष है। पारतन्त्र्य निवृत्ति, स्वातन्त्र्योपलब्धि ही मोक्ष है। मोक्ष मार्गका मूल कारण पर पदार्थकी सहायता न चाहना है। कर्मका सम्बन्ध अनादि कालसे चला आया है उसका छूटना

आवश्यकता है निमोहता रूप कुल्हाड़ी की जो इस संसारलता जालको काटकर मोक्षमार्ग साफ कर सके।

(२८।४।४७)

३ परपदार्थ ग्रहण करनेकी चेष्टा आत्माके पतनका कारण है। आत्माका पतन अपनी मूर्छा से होता है। अपनी निर्ममता ही संसारकी नाशक है।

(२८।४।४७)

४ संसार गहन वन है। इसमें जीव अपने ही विभ्रम भावसे उलझा है। जैसे विचारकर देखा जाय तो जिस भावमें इस संसार अन्यासमें भूल हुई है यदि उस भावको छोड़ देवें तो अनायास ही संसार बंधनसे मुक्त हो सकते हैं।

(१०।७।४७)

५ पर संसारकी असारता जान ली तब ऐसा उपाय करो कि अब संसारमें न रहना पड़े।

(६।८।४७)

६ मोक्षमार्गमें जो प्रधान कारण हैं वे आत्मा के ही स्वच्छ गुण हैं। उनका विकाश सामग्रीके सद्भावमें होगा। आकुलताओंमें कुछ न होगा।

(१२।९।४७)

७ हे भगवान! कब संसार समुद्रसे पार होनेका अवसर आवेगा? अवसर आना दूर नहीं, वह तो हमारे परिणामोंकी निर्मलता पर निर्भर है। केवल गल्पवादसे कुछ नहीं होगा। कार्य करनेसे होता है कोई भी कार्य संसारमें दुर्लभ नहीं।

(२३।१।४८)

८ मोक्षमार्गके इच्छुकोंको सब पदार्थोंसे प्रेम हटाना चाहिये

१६ सभी हम संसार बन्धनसे मुक्त होनेकी चेष्टा करते हैं। इससे पहिले आवश्यकता इस बोधकी है कि जो संसार बन्धनसे मुक्त होनेकी अभिलाषा करता है वह कैसा है ? इसका ज्ञान होना सबसे पहिले होना चाहिये। अर्थात् जब हमको यह ज्ञान नहीं तो जिस दुःखको दूर करना चाहते हैं वह दुःख किसके अस्तित्वमें है तब उसकी निवृत्ति कैसे करेंगे ? यह कठिन बात नहीं। आत्माका ज्ञान किसको नहीं, प्रायः आबाल वृद्ध सभीको इसका ज्ञान है। किसीको अनुचित शब्दोंका प्रयोग करो तो वह व्यक्ति तत्काल उत्तर देता है कि महाशय ! सम्भलकर बोलिये, जो वचन आपको अनिष्ट हैं वह हमको भी तो अनिष्ट हैं, अब आत्मज्ञानके निमित्त प्रयास करनेकी आवश्यकता नहीं। आवश्यकता इस बातकी है कि आत्मामें जो इष्टानिष्ट कल्पनाएँ होती हैं उन्हें न होने दो।

किसीकी स्त्री मर गई, वह रोने लगा। दूसरेने समझाया भैया ! रोना व्यर्थ है, संसारमें ऐसी घटनाएँ तो होती ही हैं। अभी १५ दिन ही हुए हैं तब मेरी स्त्री जो कि आपकी स्त्रीसे अत्यन्त सुन्दरी थी मरी, उस समय आप क्यों न रोये ?"

उसने उत्तर दिया—'उसमें मेरी निजत्व बुद्धि नहीं थी, अर्थात् उसमें मेरा मोह नहीं था कि यह मेरी है। मेरे रोनेका कारण यह है कि इस स्त्रीमें 'यह मेरी है' ऐसी कल्पना थी। इससे सिद्ध है कि न तो आपकी स्त्री मेरी थी और न मेरी स्त्री ही मेरी थी, परन्तु दोनोंमें केवल यही अन्तर है कि इसमें जो 'यह मेरी है' ऐसी कल्पना है यही दुःखका कारण है। और वह कल्पना क्यों हुई इसका कारण है कि हमारा यह जो विद्यमान पर्याय है उसमें अहंबुद्धि है। यही अहङ्कार ममकार संसारके उत्पादक प्रचण्ड

परिश्रम साध्य है। परिश्रमका अर्थ मानसिक, वाचनिक, कायिक व्यापार नहीं किन्तु आत्मतत्त्वमें जो अन्यथा कल्पना है उसे त्यागना ही सच्चा परिश्रम है। त्याग बिना कुछ सिद्धि नहीं अतः सबसे पहिले अपना विश्वास करना ही मोक्षमार्गकी सीढ़ी है। विश्वासके साथ ज्ञान और चारित्रका भी उदय हो जाता है, क्योंकि यह दोनों का गुण स्वतन्त्र हैं अतः उसी कालमें उनका भी परिणमन होता है। इसलिए हम श्रद्धा गुणकी आवश्यकता है परन्तु यह श्रद्धा सामान्य—विशेषरूपसे जब तक पदार्थोंका परिचय न हो, नहीं होती।

(२८।३।५१)

१४ पुण्य और पाप दोनों समान हैं। पुण्यके उदयमें ऐंठ और पापके उदयमें दीनता होती है। दोनों ही आत्माके कल्याणके उन्मूल बाधक हैं। अतः निज आत्मकल्याण करना हो उन्हें दोनोंसे ममताभाव छोड़ना चाहिये। सोने और लोहेकी बेड़ीयां दोनों ही बन्धनके कारण हैं, अतः मुमुक्षु जनोंको दोनों ही उपेक्षणीय हैं। मनुष्य जन्मकी सार्थकता तो इसमें है कि दोनों ही बन्धन तोड़ने योग्य हैं।

(३१।३।५१)

१५ वही मनुष्य संसारसे मुक्त होनेका पात्र है जो पर पदार्थोंमें सम्यक् त्याग दे। पर पदार्थका न तो हम कुछ उपकार ही कर सकते हैं और न अनुपकार ही कर सकते हैं। संसारमें जितने पदार्थ हैं अपने अपने गुण पर्यायोंसे पूरित हैं। उनके जो परिणमन हैं स्वाधीन हैं। उस परिणमनमें उपादान और सहकारी कारणका समूह ही उपकारी है परन्तु कार्य परिणमन उपादान ही होता है।

(७।४।५१)

भी इस महती विपत्तिसे मुक्त होनेमें विघ्न प्रबल रहते हैं। मुक्त होनेमें न तो समागम कारण है और न तीर्थ यात्राओंमें उपयोग लगाना, लाखों रुपयोंका व्यय करना भी कारण है। तीर्थ भी हमारी ही कल्पना है, जिसके द्वारा संसार समुद्रसे तिर जाय इसीको तो तीर्थ शब्दसे व्यवहार करते हैं। अब बताओ क्या गया, काशी आदि स्थानोंको स्पर्श करनेसे आत्मा संसारके पापोंसे मुक्त हो सकता है? अथवा साक्षात् तीर्थ भगवान् अर्हन्तदेवकी वन्दनासे मुक्त हो सकते हैं? भगवान् तीर्थङ्करदेवके वन्दन आदि कार्योंसे पुण्यबन्ध हो तो होगा? संसारबन्धनसे मुक्त होनेका मार्ग तो उन्हीं भगवानने निर्दिष्ट किया है। यदि संसार बन्धनसे मुक्त होनेकी अभिलाषा है तब जो परिणाम संसारके जनक हैं उन्हें त्यागो। संसारका कारण योग और कषाय हैं इन्हें त्यागो। निश्चल हो, निष्कषाय हो, यही मुक्तिमार्ग है, और कुछ नहीं।

(२५।५।५१)

११ परमार्थ पथ केवल आत्माकी एक पर्याय है जो परमार्थका उत्पादक है। 'परमार्थका उत्पादक' यह भी व्यवहार है। व्यवहार वहीं होता है जहाँ अन्यकी अपेक्षा की जाती है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये तीनों धर्म व्यवहारसे मोक्षमार्ग हैं, निश्चयसे तो एक आत्मा ही मोक्षमार्ग है। जिस समय यह संसारका कारण होता है उस समय इसका परिणमन मोह रागद्वेषरूप रहता है। जब सो समागम जाता है तब वे परिणमन सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप हो जाते हैं। यहाँ पर गुण और गुणी यह दोनों व्यवहार अपेक्षा नाम हैं। इनमें प्रदेश भेद नहीं। केवल संज्ञा संख्या प्रयोजनादि भेदसे भिन्नता आत्मा और गुणमें है। हम अनादिसे पर पदार्थके सम्बन्धसे इस संसारकी विडम्बनाको अपना मान किस तरह व्यग्र और दुःखके पात्र बन रहे हैं जो किसीसे

रजनीचर हैं। जिस संसार भ्रमणसे भय है उसे पहिले ही इन राक्षसोंका विनाश करना चाहिये।

(३०।४।५१)

१७ निश्चयका अर्थ भूतार्थ और व्यवहारका अर्थ अभूतार्थ है। अब निश्चयसे विचार किया जाय तब रागादिक भावोंका आत्मा कर्ता है और व्यवहारसे देखा जाय तब कर्म कर्ता है। इसी तरहसे ज्ञानावरणादि कर्मोंका कर्ता निश्चयसे पुद्गल और व्यवहारसे द्वारा जीव कर्ता है। यह सिद्धान्त है कि एक द्रव्य अन्य द्रव्यरूप नहीं होता। यह कहने मात्रकी बात नहीं प्रत्यक्ष भी देखनेमें आता है। जैसे मिट्टीका घट बनता है, उसमें पानी, हवा, चाक, डोरा, दण्ड, कुम्भकार आदि अनेक निमित्त होते हैं, बिना इन निमित्तोंके घट नहीं बन सकता। किन्तु जब घट बन जाता है तब उसके साथ आग,पानी, हवा, कुम्भकारादिका लेश भी नहीं रहता। इससे सिद्ध हुआ कि घटका उपादान कारण मिट्टी ही है। इसी प्रकार रागादिकी उत्पत्ति अनेक कारणोंसे होनेपर अन्तमें उसका जो उपादान था वही रह जाता है। अन्य निमित्त कारण कोई नहीं रहता। जब यह निश्चय हो गया कि रागादिकी उत्पत्ति आत्मामें होती है तभी आत्मा दुःखका पात्र होता है। अतः रागादिकको भिन्न करनेके लिये उनके होनेपर 'गल पड़े बजाय सरै' इस कहावतके अनुसार उन्हें अपनाना न चाहिये। उनमें आसक्त न हो यही बेड़ा पार होनेका उपाय है।

(३१।५।५१)

१८ परके सम्बन्धसे ही आत्मामें पर कल्पना होने लगती है। यही कल्पना आगामी निजमें परकी कल्पना कराती है। यही कल्पना अनादिसे आजतक रही। इसमें यही प्रमाण है जो हम निरन्तर व्यग्र रहते हैं। अनेक महानुभावोंका समागम करके

भी इस महती विपत्तिसे मुक्त होनेमें विफल प्रयत्न रहते हैं। मुक्त होनेमें न तो समागम कारण है और न तीर्थ यात्राओंमें उपयोग लगाना, लाखों रुपयोंका व्यय करना भी कारण है। तीर्थ भी हमारी ही कल्पना है, जिसके द्वारा संसार समुद्रसे तिर जावें इसीको तो तीर्थ शब्दसे व्यवहार करते हैं। अब बताओ क्या गया, काशी आदि स्थानोंको स्पर्श करनेसे आत्मा संसारके पापोंसे मुक्त हो सकता है? अथवा साक्षात तीर्थ भगवान अर्हतदेवकी वन्दनासे मुक्त हो सकते हैं? भगवान् तीर्थकृतदेवके वन्दन आदि क्रियासे पुण्यबन्ध हो तो होगा? संसारबन्धनसे मुक्त होनेका मार्ग तो उन्हीं भगवानने निर्दिष्ट किया है। यदि संसार बन्धनसे मुक्त होनेकी अभिलाषा है तब जो परिणाम संसारके जनक हैं उन्हें त्यागो। संसारका कारण योग और कषाय हैं इन्हें त्यागो। निश्चल हो, निष्कषाय हो, यही मुक्तिमार्ग है, और कुछ नहीं।

(२५।५।५१)

११ परमार्थ पथ केवल आत्माकी एक पर्याय है जो परमात्माका उत्पादक है। 'परमार्थका उत्पादक' यह भी व्यवहार है। व्यवहार वही होता है जहाँ अन्यकी अपेक्षा की जाती है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये तीनों धर्म व्यवहारसे मोक्षमार्ग हैं, निश्चयसे तो एक आत्मा ही मोक्षमार्ग है। जिस समय यह संसारका कारण होता है उस समय इसका परिणमन मोह रागद्वेषरूप रहता है। जब मोक्षमार्गमें आता है तब वे परिणमन सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप हो जाते हैं। यहाँ पर गुण और गुणी यह दोनों व्यवहार अपेक्षा नाम हैं। इनमें प्रदेश भेद नहीं। केवल संज्ञा संख्या प्रयोजनादि भेदसे भिन्नता आत्मा और गुणमें है। हम अनादिसे पर पदार्थके सम्बन्धमें इस संसारकी विडम्बनाका अपना मान किस तरह व्यग्र और दुःखके पात्र बन रहे हैं जो किसीसे

सुख नहीं। हमारी प्रकृति इतनी कायर हो गई है कि निरन्तर पर पदार्थोंके द्वारा सुखी बनना चाहते हैं। सुखकी उत्पत्ति तो इस द्वन्द्व दशासे मुक्त होने पर ही होगी।

(२।६।५१)

२० बहुत कम बोलो, व्यर्थ चिन्ता मत करो, मोह त्यागो, यही ध्यान करनेका मूल उपाय है। ध्यान संसार और मोक्षका मार्ग नहीं। पर पदार्थोंमें जो आत्मकल्पना है वही संसारकी जननी है। जहाँ परसे सम्बन्ध विच्छेद हो गया, अनायास ही मुक्ति मार्गके पथिक होनेका शुभावसर आगया।

(३।६।५१)

२१ सदा प्रसन्न रहो, मोक्षमार्ग इसके बिना नहीं मिलता। प्रसन्नतासे ही विशुद्धताका उदय होता है। विशुद्धता बिना किसी उत्तम कार्यमें उपयोग नहीं लगता।

(५।७।५१)

२२ आत्माकी महिमा अचिन्त्य है। इसने इतना भयङ्कर उत्पात किया कि बहुज्ञानी भी प्रायः इसका निर्वचनकर अशान्त रहते हैं। निर्वचनमें ही शान्ति नहीं मिलती और न आत्मज्ञानसे ही शान्ति मिलती है। निर्वचन शान्तिका कारण नहीं, निर्वचन तो द्रव्यश्रुतके द्वारा प्रायः बहुतसे पण्डित कर देते हैं। आत्माका ज्ञान होनेसे शान्ति हो यह भी नहीं देखा जाता। आत्मज्ञान किसको नहीं? किसीको कुछ कहो, तत्काल ही वह समझ जाता है कि अमुकने हमको यह कहा। यही तो स्वपरविवेक है। परन्तु इसमें कुछ त्रुटि है जिससे यह होकर भी शान्ति नहीं पाता। वह क्या है? आगममें इसे रागद्वेष कहा है, राग माने प्रीतिरूप परिणाम और द्वेष माने अप्रीतिरूप परिणाम। यही परिणाम तो अशान्तिके उत्पादक हैं। प्रत्येक प्राणी इनको अशान्तिका हेतु जान

पृथक् करना चाहता है परन्तु दूर नहीं कर सकता। इसका जो कारण है, उसे दूर करनेवाला जो है वही मोक्षमार्गका पात्र है। अन्यथा कितना ही विद्वान हो, त्यागी हो, तपस्वी हो, मोक्षमार्ग का पात्र नहीं हो सकता। और न तो विद्वान है, न त्यागी तपस्वी है किन्तु जिसने रागद्वेषके मूल कारणपर विजय प्राप्त कर ली है वही मोक्षमार्गका अधिकारी है।

(११।७।५१)

७३ आपको जानो, परको अपना मानना छोड़ो। यही संसार उच्छेदका कारण है। आपको क्या जानें? आपको आपही मानो, परको अपना मानना छोड़ दो।

(१९।९।५१)

७४ परसे सम्बन्ध रखना ही संसारका मूल कारण है। यद्यपि यथावस्थामें हम अनादिसे हैं और उससे पृथक् होना प्राय कठिन है। परन्तु जब सब पदार्थ आत्मीय आत्मीय स्वरूपसे पृथक् हैं तब उनमें ममता करना ही भूल है। उनमें एकत्व माननेकी जो प्रणाली हम स्वीकार किये हैं उसे त्यागना ही मोक्षका उपाय है।

(२२।९।५१)

"तदा बन्धो यदा चित्त सक्तं कास्वपि दृष्टिषु।
तदा मोक्षो यदाचित्तमसक्तं सर्वदृष्टिषु॥"

७५. जब तक यह चित्त किसी दृष्टि या मतमें आसक्त है तब तक ही बन्ध है। जिस समय यह मन सब मतोंमें अनासक्त हो जाता है उसी कालमें आत्माका मोक्ष है।

(२।१०।५१)

"मुक्तिमिच्छसि चेत् तात! विषयान् विषवत्त्यज।
क्षमार्जवदयाशौचसत्यं पीयूषवद्भज॥"

२६ हे तात ! यदि आप मुक्तिकी अभिलाषा रखते हो तो विषयोंको विषके सदृश जान त्याग करो और क्षमा आर्जव, पर जावानुरूपा, पवित्रता तथा सत्य धर्मका अमृतके सदृश सेवन करो। यद्यपि जिन जीवोंने पञ्चेन्द्रियके विषयमें अनुराग त्याग दिया उनके ये सब धर्म अनायास ही आ जाते हैं। जैसे जब अग्निके सम्बन्धका पानी का हो जाता है। वहाँ जलपना निकल जाता है उसका स्वाभाविक शीतगुण स्वयमेव प्रगट हो जाता है। इसी तरह जब आत्मासे विषय सेवनकी अभिलाषा निकल जाती है तब अनायास आत्मश्रद्धा, ज्ञान और चारित्र स्वयमेव व्यक्त हो जाते हैं। इसका एक-एक लक्षण यह पुद्गलके गुण पर्याय हैं। अज्ञानी आत्मा इन विषयोंको अपने मान ममता करता था। जिस कालमें इन विषयोंका त्याग, जो इनमें अभेदबुद्धि थी स्वयमेव आत्मासे निकल हो गयी। जिनका पर जाना तभी तो उनमें रागादिकका अभाव है। राग ही तो आत्माके चारित्र गुणका घातक था। रागादि जानेसे अनायास वीतरागताका विकास हो गया। वीतरागताके विकास होते ही आकुलतारूप विकार भी आपसे आप चला गया तब आत्माका हित जो सुख है स्वयमेव मिल गया।

(१४।१०।५१)

सम्यग्दर्शन

१ सम्यग्दर्शन जिसके हो जाता है उसके समता, नम्रता, आर्जव, सत्यधर्मका उदय हो जाता है तथा मार्दव और गुणका उदय होता है जिसके होनेपर लोभका भाव कम हो जाता है। अतः उसे हम जघन्य साधु कह सकते हैं। शेष तप, त्याग आकिंचन

ब्रह्मचर्य जहाँपर होते हैं वहाँ साधुकी पूर्णता हो जाती है। साधुपना वहींसे आता है। जहाँपर आत्मा स्वयं स्वकीय परिणामोंके द्वारा स्वको स्वके अर्थ स्वमें स्वको अङ्गीकार करता है वहीं सिद्धपदभाक् हो जाता है। सिद्धका स्मरण करानेवाला सिद्ध पदका पात्र बना देता है। अर्हद्भक्ति, प्रवचनभक्ति, धर्मानुराग, त्याग, तप आदि तो आस्रवके कारण हैं। अर्हद्भक्ति तीर्थङ्कर पदप्राप्तिमें कारण पड़ता है किन्तु सिद्धभक्ति साक्षात् मोक्षजनक है। तीर्थङ्करदेव सिद्धभक्तिका ही अवलम्बन करते हैं। अर्हद्भक्ति और सिद्धभक्तिमें अन्तर है, अर्हद्भक्तिमें तीर्थङ्करके समवशरणादि भी आते हैं, सिद्धभक्तिमें केवल आत्मपरिणति ही है।

परमार्थसे सम्यग्दृष्टि ही धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थोंका पात्र है। यह त्रिवर्ग जहाँपर एक साथ हो वहीं शोभा है। जहाँ धर्म हो वहाँ काम और अर्थ, और जहाँ काम, अर्थ हो वहाँ धर्म हो तब तो इनकी गणना पुरुषार्थमें है अन्यथा इनका नाम पुरुषार्थ नहीं, संसारबन्धक ही हैं। धर्मके अर्थ जहाँपर अर्थ और काम हो वे तो उपयोगी हैं और जहाँ केवल अर्थोपार्जनकी मुख्यता है, काम केवल केवल विषय लिप्साके लिये हो तब ये दोनों पुरुषार्थ संसार वर्धक ही हैं। जहाँपर केवल धनार्जनकी ही मुख्यता है उसके न तो धर्म ही होता है और न काम। तथा जहाँ केवल पुण्यकी मुख्यतासे धर्म कमाया जाता है वह धर्म केवल संसार हीका पोषक है। पुण्य केवल आत्माकी स्वपरिणति नहीं, भिन्न परिणति है। उससे आत्मगुणके विकाशकी क्षति रहती है। प्रथम तो पुण्य परिणाममें परावलम्बन ही रहता है, शुद्ध सम्प्रयोगसे केवल पुण्य बन्ध ही होता है। परोपकार करनेमें जो भाव होते हैं वे भी परावलम्बी भाव हैं। जहाँ परकी अपेक्षा न रहे और आत्माकी मिथ्या परिणति एकदम चली जावे वहीं पर आत्मा निर्विकल्प हो जाता है।

स्वाश्रय परिणतिके होनेसे शान्त भावका अनुभव करता है। यही परिणति उपादेय है।

(२३ । ८ । ५१)

२ मगर पूर्व का निर्जरा होना है यही मोक्षमार्गमें उपयोगिनी है। यह निर्जरा सम्यग्दृष्टिके ही होती है। बंध फलानुभवन ही निर्जरा है। यह फल चाहे सम्यग्दृष्टि हो चाहे मिथ्यादृष्टि हो भोगना पड़ता है। किन्तु मिथ्यादृष्टिके रागादिक भावोंके सद्भावसे बंधका निमित्त हो जाता है और सम्यग्दृष्टिके समय भोगोंमें रागादि भावोंके न होनेसे निर्जराका निमित्त हो जाता है। यह सामान्य ज्ञान और वीतरागताकी है। ज्ञानकी सामर्थ्य अचिन्त्य है। जैसे कोई विष वैद्य विष खाकरके अमोघ विद्याके प्रसाद से मरणको प्राप्त नहीं होता त्यों सम्यग्दृष्टि जीव पूर्व कर्म द्वारा आगत विषयोंका भोग करके भी बंधको प्राप्त नहीं होता। यह उसके ज्ञानका बल है। सम्यग्दृष्टि होनेके अनन्तर ऐसी निर्मल आत्मा हो जाती है कि फिर संसार बंधनसे विमुक्त हो जाता है।

(८ । १२ । ५१)

३ सम्यग्ज्ञानमें परको निज माननेका अभिप्राय मिट जाता है। पश्चात् सबको त्याग स्वात्मामें लीन हो जाता है। अतः जिनके यह हो गया उनके सभी कार्य सम्पन्न हो गये क्योंकि आत्माका हित मोक्ष है। मोक्षका उपाय सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र है अतः सब द्वन्द्वको छोड़ इसीमें लगो।

(१२ । १२ । ५१)

ज्ञान गुण राशि

१ ज्ञान गुण आत्माका प्रकाशक है। जो वस्तु इसके समक्ष आती है वह उसके निमित्तको पाकर अपने स्वरूपमें उसका भान

करने लगता है। परमार्थसे न तो कोई कहीं जाता है और न कोई किसीका कर्ता धर्ता है व्यवहारिक प्रवृत्तिमें यह सब होता है।

(१५।८।४८)

२. ज्ञानादि गुणोंका विकाश ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे होता है परन्तु क्षयोपशमके होनेपर यदि मोहोदय मन्द न हुआ तब उस ज्ञानसे यथार्थ लाभ नहीं।

(२७।१०।४८)

३. ज्ञानका विकाश क्षयोपशमाधीन है। सम्यक्त्व मिथ्यात्व ज्ञानमें जो व्यपदेश होता है वह परकृत है। सामान्य ज्ञानमें ज्ञानत्वकी मुख्यता है।

(२९।१०।४८)

४. शिक्षाका उद्देश्य शान्ति है। उसका कारण आध्यात्मिक शिक्षा है। आध्यात्मिक शिक्षासे ही मनुष्य ऐहिक एवं पारलौकिक शान्तिका भाजन हो सकता है।

(२२।१२।४८)

५. धार्मिक शिक्षा किसी सम्प्रदाय विशेष की नहीं। यह तो प्रत्येक प्राणीकी सम्पत्ति है। उसका आदरपूर्वक प्रचार करना राष्ट्रका मुख्य कर्तव्य है। जिस राष्ट्रमें इसके बिना केवल लौकिक शिक्षा दी जाती है वह राष्ट्र न तो स्वयं शान्तिका पात्र है और न अन्यका उपकारी हो सकता है। धार्मिक भावनाके लिये धार्मिक शिक्षाकी मुख्य आवश्यकता है।

(२३, २४।१२।४८)

६. आजकल भौतिकवादके प्रचारसे समाजका संहार हो रहा है। इसका मूल कारण एकाङ्गी शिक्षा है। यदि इसका मिश्रण आध्या-

मित्र शिक्षाके साथ किया जाय तो अनायास ही जगतका कल्याण हो जावेगा।

(२१।१२।४८)

७ ज्ञानार्जन करना मनुष्यका मुख्य कर्तव्य है। हम मनुष्य हैं, ज्ञानके बिना हमको यह निश्चय नहीं होता। आत्माके अन्दर ज्ञान ही एक ऐसा गुण है जो सब गुणोंकी व्यवस्था बनाये है। ज्ञान ही हमको यह बताता है कि अग्नि उष्ण और जल शीत होता है। अग्निके निमित्त मिलनेपर जल उष्ण हो गया और वर्तमानमें जल उष्ण है। यदि इसका स्पर्श किया जावे तब जल गरम ही होगा। फिर भी जलकी उष्णता अग्निकी उष्णतासे भिन्न है। उस उष्ण जलमें चावल डालनेमें चावल खिल जावेंगे, और अग्निमें चावल डालनेमें चावल भस्म हो जावेंगे। इससे सिद्ध हुआ कि जलकी उष्णता और अग्निकी उष्णतामें भिन्नता है। इसी तरह आत्मामें मोहनीय कर्मकी राग प्रकृतिका जब उदय आता है तब आत्मा उसके उदय कालमें रागरूप परिणति करता है किन्तु प्रकृतिके राग और आत्माके रागमें अन्तर है। आत्माका राग चेतन द्रव्यका परिणाम है और पुद्गलमें जो राग है वह अचेतनका परिणाम है। हमारेमें जो राग है वही हमें संसार चतुर्गतिमें भ्रमण कराता है।

(२७।१।५१)

८ आत्मा चैतन्य गुणवाला है। चेतना वह गुण है जो सबकी व्यवस्था करता है। व्यवस्था करनेवाला ज्ञान नहीं, ज्ञान तो जाननेवाली शक्ति है। उसमें वस्तु प्रतिभासित होती है, 'यह अमुक है, यह अमुक है,' यह व्यवस्था इन्द्रियजन्य ज्ञानमें होती है। वहाँ भी मोह ही कारण है। अतीन्द्रिय ज्ञानमें यह कुछ

[illegible]। इन्द्रियजन्य ज्ञानमें रसना [illegible]
[illegible] है इस प्रकार इनका यह विषय [illegible]
[illegible] हैं। विषय [illegible]
[illegible] क्या है? तथा [illegible]
है। भिन्न भिन्न ही [illegible] ज्ञानका विषय हैं। [illegible]
[illegible] भिन्न है तथा [illegible] भी भिन्न है, [illegible]
[illegible] के समस्त पक्ष जो विषय है [illegible] मिला हुआ [illegible]
[illegible] ज्ञानका विषय है क्योंकि इन्द्रियजन्य ज्ञानमें [illegible]
[illegible] नहीं जो केवल [illegible] स्वरूप [illegible]। अतीन्द्रिय
ज्ञान ही की यह सामर्थ्य है कि जैसा जड़पदार्थ [illegible]
वैसा ही जानता है।

(२११८। १)

६ वर्तमान कालमें हम इसमें पश्चिमी शिक्षाका प्रचार
[illegible] हो रहा है। इसमें जनसमुदाय अपनी सन्तानको
[illegible] शिक्षा [illegible] वञ्चित रहते हैं। जो [illegible]
[illegible] पाश्चात्य शिक्षाका अभ्यास करते हैं [illegible] सबसे पहिले [illegible]
[illegible] अथवा सिद्धान्त [illegible] करते हैं [illegible] कभी मन्दिरके [illegible]
[illegible] हैं क्योंकि माँ बापका [illegible] और [illegible] संस्कार [illegible]
[illegible] क्रियामें प्रमादी हो जाता है। जब मैट्रिक्युलेशन [illegible]
[illegible] अवस्था [illegible] हो जाता है [illegible] शक्तिका
विकास हो जाता है अतः यह [illegible] करने लग जाते हैं कि मन्दिर
[illegible] जाने नहीं, इसलिये हमको यह ढोंग पसन्द
नहीं, [illegible] इसमें कान लगाना [illegible] है। दूसरा तर्क
यह देते हैं कि हमको इतना पाठ्य पुस्तकोंका अध्ययन करना
पड़ता है कि समय ही नहीं बचता। तीसरी दलील यह है कि
[illegible] हमको नहीं [illegible]। [illegible] कहते हैं कि जैन
धर्मका यह सिद्धान्त है कि—

'मनमें हो सो वचन उचारिये।
वचन होय सो तन सो करिये॥"

अतः हमारी श्रद्धा धर्ममें नहीं और हम मन्दिर जाना उचित नहीं समझते। जिस प्राचीन शिक्षाका बाल्यकालमें यह पाठ होता था उसका आदर्श है—

'अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥"

'यह अपना है, यह पराया है' ऐसा भेद तो अनुदार हृदय वाले ही करते हैं। जो उदार हृदय हैं उनके लिये तो सारा संसार ही कुटुम्ब है।

(२०, ९।५।१०।५१)

१० ज्ञान गुण ही आत्मामें ऐसा है जो सब गुणोंकी व्यवस्था करता है तथा अपने स्वरूपकी भी व्यवस्था करता है। यदि ज्ञान गुण न हो तब किसीकी व्यवस्था नहीं बन सकती। ज्ञान ही इस प्रकार शक्तिको लिये है जो परकी व्यवस्था करता है और अपनी भी व्यवस्था करता है। हम परसे भिन्न हैं इसका नियामक ज्ञान ही है। घट-पट-स्तम्भ इस सब व्यवस्थाका नियामक ज्ञान ही है। ज्ञान ही दर्शनसे भिन्न हम हैं ज्ञानसे भिन्न चारित्र है, इत्यादि व्यवस्था बनाये हुए है। यह वीतरागी है, यह सरागी है, यह मूर्ख है, यह पण्डित है, यह नित्य है, यह अमूर्त है, हम चेतन हैं, आदि सब व्यवस्थाका नियामक ज्ञान ही है।

(१२।११।५१)

११ संसारमें ज्ञानके बिना कोई कार्य नहीं होता। यदि हमको ज्ञान न हो तब हम अपना हित नहीं जान सकते। हमारा क्या कर्तव्य है, क्या अकर्तव्य है, यह भक्ष्य है, यह अभक्ष्य है, यह

मा है, यह बहिन है, यह भ्राता है, यह सुत है, यह पिता है इत्यादि जितने व्यवहार हैं सब लोप हो जायेंगे। अत आवश्यकता ज्ञानकी है। ज्ञानका अर्जन गुरु द्वारा होता है इसीसे गुरुकी सुश्रूषा करना हमारा कर्तव्य है। बिना गुरुकी कृपाके हमारा अज्ञानान्धकार नहीं मिट सकता। जैसे सूर्योदयके बिना रात्रिका अन्धकार नहीं जाता इसी प्रकार गुरुके उपदेश बिना हमारा अज्ञान दूर नहीं हो सकता। यही कारण है कि गुरुको हम माता पितासे भी अधिक मानते हैं। माता पिता तो जन्म देनेके ही निमित्त हैं किन्तु गुरु हमको इस योग्य बना देते हैं कि संसारके सब कार्य करनेमें हम पटु बन जाते हैं। आज संसारमें विद्यागुरु न होता तो हम पशु तुल्य हो जाते।

(२०।१०।५१)

स्वाध्याय

१ स्वाध्यायसे चित्त प्रसन्न होता है। वस्तुका यथार्थ निर्णय होता है। चित्तमें विकल्पकी उत्पत्ति नहीं होती। [illegible] नहीं जाता। अतः सब विकल्पोंको त्याग स्वाध्यायमें मन लगाओ।

(२१।४।५१)

२ हम निरन्तर शास्त्रप्रवचन करते हैं, [illegible] होनी चाहिये उसमें वञ्चित रहते हैं। जिस [illegible] हैं एकदम संसारके पदार्थोंसे उपेक्षा [illegible] है वास्तवमें उपेक्षा हो जाय तब यहाँ [illegible] तृप्ति आ जाती है पर यह तृप्ति भी [illegible]

(

३ शास्त्र पढ़ना उसीका हितकर होता है जो स्वयं उस पथपर चलता हो। आगममें लिखा है तो यह व्यक्ति जो बुद्धिमान होता है आगमका रचकर लोगोंको उसका अर्थ व्यक्त कर देता है परन्तु जो मार्ग आगममें निहित है उसपर अमल करना हरएकका काम नहीं।

(२८।६।४७)

४ परिणामोंको कलुषित मत करो यही तो शास्त्रके पढ़नेका फल है। किसीकी प्रवृत्ति देखकर दुःखी मत होओ। तुमको क्या अधिकार है जो पराई प्रवृत्तिको संक्रमण करा सको? संसारमें अनन्त पदार्थ हैं। स्वभाव स्वकीय परिणमन द्वारा अनादि कालसे स्वतन्त्र होकर चले आ रहे हैं। व्यर्थकी कल्पनाएँ कर मलशित होओ तो होओ पर इससे तुम्हारी भूलका मिटानेवाला कोई नहीं।

(२९।६।४७)

५. प्रवचनका लाभ उसीको होता है जो उतने काल तक उपयोगको स्थिर रखता है। परिणामोंकी चञ्चलताका साधक कषायके कारणोंसे निकलता है। कषायके कारण अनात्मीय पदार्थोंमें आत्मज्ञान तथा पञ्चेन्द्रियके विषयकी लोलुपता है। इसपर विजय पाना कठिन है।

(१५।७।४७)

६ प्रवचनका लाभ तो यह है कि यथाशक्ति उपयोगको निर्मल बनाना। उपयोगकी निर्मलता कषायके मन्दभावमें है।

(१८।७।४७)

७ शास्त्र प्रवचन और ज्ञान ये अन्तरङ्गकी श्रद्धा और चाल है। श्रद्धाके अनुकूल प्रवृत्ति हरएकका नहीं होता, ऊपरसे बगुलाभक्त हंस नहीं हो सकते।

(२३।७।४७)

८ आभ्यन्तर ज्ञान होनेकी महती आवश्यकता है। आगमाभ्यास ही अभ्रान्त ज्ञान होनेका मुख्य उपाय है। अतः निरन्तर आगमाभ्यास करो। गल्पवाद ज्ञानका बाधक है।

(६।८।४७)

९ आत्महित ज्ञानार्जनसे होता है उसके अर्थ अलगसे परिश्रम नहीं करना पड़ता। आत्मज्ञानका मूल आगमाभ्यास है।

(१८।८।४७)

१० स्वाध्यायसे स्वपरविवेक होता है, स्वपरविवेक ही पर पदार्थोंसे मूर्छा त्यागका कारण है। अनादि कालसे यही नहीं हुआ इसीसे हमारी बुद्धि अनात्मीय पदार्थोंमें उलझी रही।

(१२।४।४८)

११ स्वाध्यायका यह तात्पर्य है कि अपनेको परसे भिन्न मानना तथा उसमें जो भाव मलकारक हों उनका त्याग करना। पहिले तो विषयोंमें जो लिप्सा है उसे दूर करो, पश्चात् जिन भावोंसे यह लिप्सा होती है उन्हें त्यागो।

(१६।५।४८)

१२ स्वाध्याय परम तप है। जिसने स्वाध्याय किया वह संसार बन्धनसे मुक्त हो गया। स्वाध्यायका अर्थ यह है कि आत्माको परसे भिन्न जानना, भिन्न जानकर परमें रागादि न करना, रागादि ही आत्माको संसारमें रखते हैं।

(१८।५।४८)

१३ शास्त्र प्रवचनका प्रयोजन अपने रागादि परिणामोंको कृशाना और श्रोताओंको ज्ञानलाभ है।

(२८।७।४८)

१४ वाचना और पृच्छना यह स्वाध्यायके अङ्ग हैं। स्वाध्याय संज्ञा तपकी है, तपका लक्षण इच्छानिरोध है अतएव तप

निर्जराका कारण है। जैसे दूसरा जीव तो स्वाध्यायमें तत्त्वबोध होता है तथा सुननेवाला भी इसके द्वारा बोध प्राप्त करता है। बोधका फल न्याय ग्रन्थोंमें हानोपादानोपेक्षा तथा अज्ञाननिवृत्ति बतलाया है। तदुक्त—

"उपेक्षाफलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः ।
पूर्वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे ।"

केवलज्ञानका फल उपेक्षा है शेष चार ज्ञानोंका फल हान और आदान कहा है अर्थात् हेयका त्याग और आदेयका ग्रहण। यहाँपर यह आशङ्का होती है कि ज्ञान चाहे पूर्ण हो चाहे अपूर्ण हो, उसका फल एक तरहका ही होना चाहिये। तब जो फल केवलज्ञानका है वही फल शेष चार ज्ञानोंका होना चाहिये। इसीसे श्री समन्तभद्राचार्यने शेष चार ज्ञानका फल यह भी लिखा—'पूर्वा वा' इत्यादि। यहाँ पर पुनः शङ्का होती है कि उपेक्षा तो मोहके अभावमें बारहवें गुणस्थानमें ही हो जाती है, केवलज्ञान तेरहवें गुणस्थानमें होता है अतः केवलज्ञानका फल उपेक्षा उचित नहीं और शेष चार ज्ञानका फल आदान हान भी उचित नहीं क्योंकि आदान और हान मोहके कार्य हैं इसमें ज्ञानोंका फल अज्ञान निवृत्ति ही है

(१६।२।५१)

२५ स्वाध्यायका फल केवलज्ञानकी वृद्धि नहीं है किन्तु स्वात्मतत्त्वको स्वायत्त करके शान्तिमार्गमें जाना मुख्य ध्येय है। आजतक हमारी प्रवृत्ति इस तरहसे उचित हो गई है कि ज्ञानार्जनसे हम संसारमें अपनी प्रतिष्ठा चाहते हैं, संसारसे मुक्त होना नहीं चाहते। अन्यको तुच्छ और अपनेको महान् बनानेके

लिये उस ज्ञानका उपयोग करते हैं। जिस ज्ञानसे भेदज्ञानका लाभ था आज उससे हम गर्तमें पड़ना चाहते हैं।

(९।७।५१)

१६ अध्ययन, मनन करनेका इतना ही तो प्रयोजन है कि परसे भिन्न आपको माना, तथा आपमें जो अनुचित परिणाम हैं जिनसे आत्माको कष्ट पहुँचता हो उन्हें त्यागो।

(२६।७।११)

१७ यदि हम परमार्थसे स्वाध्यायके प्रेमी हो जावें तब अनायास ही संसार बन्धनके क्लेशसे मुक्त हो सकते हैं।

(२२।१२।५१)

संयम

१ संयम ही आत्माका कल्याणप्रथम सहायक है। संयमका यह अर्थ है कि पञ्चेन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त रहना, मनके विकल्प मेटना। किसीको प्रसन्न करनेसे संयमकी रक्षा नहीं हो सकती। संयमकी रक्षा निरपेक्षतासे हो सकती है।

(८।८।४८)

२ मनुष्य जन्मकी सफलता संयमसे है।

(५।११।४८)

भक्ति

१ श्रीजिनेन्द्रदेवकी अचाकर लौकिक पदार्थोंकी वाञ्छा नहीं करनी चाहिये। यदि लौकिक पदार्थोंकी वाञ्छासे भगवत् भक्ति की जाय तब वह जयरन अपनेको संसार बन्धनका पात्र बनाता है। विचारो तो महा सूत्रकारने जो मङ्गलाचरण आरम्भमें किया है उसमें तो लिखा है—

"मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥"

अर्थात् जो मोक्षमार्गका नेता है, और कर्मरूप पर्वतोंका भेत्ता तथा विश्वतत्त्वका ज्ञाता है उसके गुणोंकी प्राप्तिके लिये उसको मैं वन्दना करता हूँ। यह आप्तको नमस्कार किया है। तत्त्वदृष्टिसे देखा जाय तो उसका मूल गुण ज्ञाता-दृष्टा है। कर्मभूभृद्भेतृत्व और मोक्षमार्गनेतृत्व यह दोनों तो सम्बन्धमें हैं। कर्म पर्वतोंका मोहादि द्वारा सम्बन्ध था, मोहका अभाव होनेसे उसका अभाव स्वयमेव हो जाता है। एवं दर्शनविशुद्धि भावनासे तीर्थङ्कर नाम प्रकृतिका सम्बन्ध हो गया था उसके उदयमें मोक्षमार्ग नेतृत्व हो जाता है। वास्तवमें यह आत्माका कोई गुण नहीं। यदि यह गुण होता तब कर्मोंका वियोग होनेपर भी इसका अस्तित्व पाया जाता अतः वास्तव गुण तो आत्मामें ज्ञातृत्व ही है।

(२७।८।५१)

२. जब यह सिद्धान्त निर्विवाद और अकाट्य है कि सभी पदार्थ अपने अपने स्वरूपमें परिणमन कर रहे हैं, एक पदार्थके गुण दूसरे पदार्थमें नहीं जाते तब परमात्मासे वीतरागताकी आशा करना व्यर्थ है। परमात्मा हमसे भिन्न है तब उसके गुण हममें आवेंगे यह बुद्धिमें नहीं आता। जैसे मिट्टीसे घट उत्पन्न होता है तब मिट्टी द्रव्य और मिट्टीके गुण घटमें आते हैं, बनानेवाला जो कुम्भकार है उसका आत्मा तथा उसके गुण घटमें नहीं आते। इसी तरह परमात्मा अन्य पदार्थ है, हम अन्य पदार्थ हैं ऐसी वस्तुमर्यादा नियत है तब उसमें जो गुण धर्म हैं वे अन्यत्र नहीं जा सकते। अतः इस भावको लेकर परमात्माकी उपासना नहीं करनी चाहिए कि हम परमात्माकी उपासना कर परमात्मा हो जावेंगे।

किन्तु यदि हम अपनी परि[illegible]
मलिन होनेसे बचाये गये मन [illegible]
चन सकते हैं। इसका यह सार है कि [illegible]
विश्वासोंका त्याग कर दें तो आज [illegible]
अपनी रक्षा कर सकते हैं। [illegible]
विश्वासकी मदिरा पानकर हम [illegible]
निर्मल भावोंको और हमारा [illegible]

[illegible]

मान[illegible]

१ जैनधर्म (मानवधर्म) [illegible]
इसका अनुसरण कर नीच [illegible]
वञ्चित नहीं हो सकते। [illegible]
है सब भिन्न सत्ताका लिये है। [illegible]
है तब उसमें हमारा ममत्व [illegible]
अथवा जनक है। [illegible]
असत्य, चोरी, व्यभिचार, [illegible]
जाय। हम दूसरे पदार्थों [illegible]
मूल कारण यही है कि [illegible]
पदार्थ न तो बुरा है, न [illegible]
हमारे विभाग करते हैं। [illegible]
है और सत्तात्मक [illegible]
करते हैं, यही मल [illegible]
परन्तु उस पर्यायमें [illegible]
यहाँ जाय चाहे तो [illegible]
कहा आइ है कि एक [illegible]

दुनि [illegible] जिन [illegible] सम्यग्दर्शन किया [illegible] मर गए। [illegible] और [illegible] ।

(१२ । ६ । ५१)

[illegible] मदा [illegible] मत करो। [illegible] [illegible] [illegible] मत करो। [illegible] परमात्मामें [illegible] । [illegible] अपनाओ। [illegible] आत्मामें है। [illegible] । [illegible] है। [illegible] है। [illegible] है। [illegible] संसारका [illegible] है। [illegible] अनुयोगमें रचना की है। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। [illegible] निमित्त है। द्रव्यानुयोग [illegible] है। [illegible] है। [illegible] करणानुयोगका [illegible] है। [illegible] है। [illegible] चरणानुयोग [illegible] है। [illegible] आत्माका [illegible] । [illegible] है कि [illegible] ।

(२२ । ६ । ५१)

—❧—

सफलताके साधन

१ किसी कार्यके करनेका जो निश्चय करो उसे सहसा बाधाएँ आनेपर भी न छोड़ो। यदि उस निश्चयसे आत्मघात होता हो और आत्मा मालाभूत होता है तब उसे छोड़ दो। परका घात नहीं तब मानो जब तक स्वात्म बाधा न आवे। हमारा इससे तात्पर्य निरीहवृत्तिसे है। आत्माका स्वार्थ यही है कि परसे भिन्न है, एक परमाणुमात्र भी आत्मीय नहीं यही भावना दृढ़ होना। जब एक परमाणु भी अपना नहीं तब स्वर्गादि सुखोंके लिए परमेश्वरकी उपासना करना निष्फल है।

(३। १४७)

२ मेरा निजी अनुभव है जो मनुष्य धीर नहीं वह मनुष्य किसी कार्यमें सफलीभूत नहीं हो सकता। मैं जन्मसे अधीर हूँ अतः मेरा कोई भी कार्य आज तक सफल नहीं हुआ। पर्याय जान गई परन्तु पर्यायबुद्धि नहीं गई। पर्याय नश्वर है यह प्रतिदिन पाठ पढ़ते हैं परन्तु इससे कोई तत्त्व नहीं निकलता। तत्त्व तो जहाँ है वहाँ ही है।

(२।७।४७)

३ परको प्रसन्न करनेकी चेष्टा मत करो। जब यह अकाट्य सिद्धान्त है कि एक द्रव्य अन्य द्रव्यका उत्पादक नहीं तब तुम्हारे प्रयत्नसे तो अन्य प्रसन्न न होगा। अपनी ही परिणतिसे प्रसन्न होगा। तुम व्यर्थ खिन्न मत होओ कि हमने परिणमाया। अन्य द्रव्यका चतुष्टय अन्यमें भिन्न है।

(३१)

४ कोई भी काम करो निर्भीकतासे करो।

(२०।८।४७)

५ संसारमें कर्तव्यनिष्ठ बनो, दूसरोंकी भलाईकी चेष्टासे पहिले अपनी शक्तिका विकास करो। केवल गल्पवादसे भलाई नहीं हो सकती। शुद्ध कर्तव्य पथपर आओ, जहां संसार बन्धनसे छूटनेका मार्ग है। जो मनुष्य कर्तव्यको जानते हैं वही शीघ्र ही अभीष्ट फलके पात्र होते हैं।

(२०।८।४७)

६ बहुत जल्पवाद व्यर्थ परिणत हो जाता है। जितना जल्पवाद करोगे उतना ही कार्य करनेमें त्रुटि करोगे। १०० बात बकनेकी अपेक्षा एक काम करना श्रेयस्कर है। उपदेश उतना दो जितना अमलमें आ सके। पुण्य कार्योंका तिरस्कार मत करो। शुभोपयोग उत्तम वस्तु है परन्तु शुद्धोपयोगकी कथासे शुद्धोपयोग नहीं होता।

(११।९।४७)

७ कोई भी काम करो उतावली मत करो।

(१ ।९।४७)

८ जो काम करो शान्तिसे करो। प्रथम तो कार्य करनेके पहिले अच्छी प्रकारसे निर्णय कर लो कि हम यह कार्य करनेकी शक्ति रखते हैं अथवा नहीं? यदि क्षमता न हो तो उस कार्यके करनेका साहस न करो तथा जब उस कार्यके करनेको सन्मुख होओ तब अन्य कार्यकी व्यग्रता मत रक्खो। उतावली मत करो, चित्तको प्रसन्न रखो। विशुद्धता ही प्रत्येक कार्यमें सहायक होती है।

(१५।९।४७)

९ शान्तिसे काम करो, आकुलता दूर करनेके लिए अशान्त होना पागलपनकी चेष्टा है।

(१।२।४८)

१० स्वाध्यायमें ही उपयोग लगाना, किसीसे नहीं बोलना यदि कोई गल्प करे तो उसे निषेध कर देना। कथन आगमका क्या करना, शिक्षाका सङ्कोच नहीं करना, कलिमल [illegible] दूर करनेके लिये अपने अन्तःकरणमें विचारपूर्वक कार्य करो। परकी गुरुता लघुतासे हमको न लाभ है, न हानि है।

(१७।५।४८)

११ सरल व्यवहार करो, आभ्यन्तर कषाय मत करो, किसीके परिणमनको देख हर्ष विषाद मत करो।

(२२।५।४८)

१२ किसीके अवगुणको कषायसे मत देखो, हितकी दृष्टिसे देखना कोई हानिकर नहीं। आत्मप्रशंसाके लिए अच्छा कार्य करनेका सङ्कल्प मत करो। ऐसे कार्य करो जो लोगोंकी दृष्टिमें मान पोषक न समझे जावें। आवेगमें आकर व्रत ग्रहण मत करो। व्रत ग्रहणका फल निवृत्तिमार्गकी प्राप्तिमें पथप्रमाण हो। जो कार्य करो उसका फल उस कार्यकी सामग्री फिर न हो यही लक्ष्य रखना चाहिये।

(३०।५।४८)

१३ क्यों परकी ओर देखते हो? कोई कुछ करे तुम उस ओर लक्ष्य ही मत दो। यदि कोई तुमसे कहे—'बड़े अज्ञानी हो' सुनकर शान्त रहो। शब्द वर्गणाएँ पुद्गलका परिणमन हैं, उनका तादात्म्य पुद्गलसे है, वाच्यार्थसे नहीं। वाच्यार्थ काल्पनिक है जिससे लौकिक व्यवहार चल रहा है।

(३।६।४८)

१४ एक जापानाने गांधीजीको एक चीनीका खिलौना दिया, उसम तीन बन्दर थे। एक बन्द आँखवाला, एक बन्द मुखवाला और एक बन्द कानवाला। तीनोंसे तीन प्रकारकी शिक्षा लो। जो आँख बन्द किये था वह शिक्षा देता था कि बुरे काम मत देखो। बन्द कानवाला शिक्षा देता था कि किसीकी बुराई मत सुनो। बन्द मुखवाला शिक्षा देता था कि किसीकी निन्दा मत करो। परन्तु यह शिक्षाएँ केवल सुन समझ लेनेसे कोई लाभ नहीं, प्रवृत्तिम लाना ही श्रेयस्कर है।

(५।१।४८)

१५ जो हठग्राही है उनके समागमम रहना अपने आत्माको कुपथगामी बनानेका प्रयत्न है। जो कुपथगामी आत्मा हैं उनका भी संसर्ग करना अच्छा नहीं। जो कुछ न समझें उनकी अपेक्षा विपर्ययज्ञानी बहुत ही बुरे हैं।

(९।१।४८)

१६ कोई काम करो, आत्माको धोखा मत दो। कोई मानामान करे चाहे न करे परन्तु तुम अपनी प्रवृत्ति आत्माके अनुरूप करो। ममाजकी प्रसन्नता या अप्रसन्नतासे न तो लाभ है और न अलाभ है।

(१०।१।४८)

१७ जो वस्तु तुम्हारे ज्ञानमे न आवे उसे सहसा अङ्गीकार मत करो।

(१०।१।४८)

१८ प्रतिज्ञाके विरुद्ध मत करो। प्रयोजन पड़े तब वचन बोलो, प्रयोजन पड़े तब चलो और जब प्रयोजन पड़े तब मनका व्यापार करो। इन्द्रियोंकी स्वच्छाचारिता न हो ऐसा व्यवहार उनके साथ रक्खो। यदि अवसर आवे तब उनको एकदम रोको।

जब पञ्चेन्द्रियके विषयमें प्रवृत्ति न होगी तब मन अन्यत्र न जाकर केवल आत्मा हाम अनन्यशरण होकर सलग्न हो जायगा। जितना वचन व्यवहार घटाओगे उतने ही कषायके कारण न्यून होंगे, ऐसी स्थितिमें निराश्रित कषाय कहाँ रहेगी?

(१ । ७ । ४८)

१९ शान्त परिणामोंकी ओर लक्ष्य दो। जो आपका आत्मा कहे उसके अनुसार कार्य करो। पराय कहने पर यदि अनुभव न माने तो कदापि न चलो।

(१ । ७ । ४८)

२० बहुत कम बोलो। सत्य बोलनेका अर्थ है कि किसीके भी प्रति कष्टकर वचनोंका प्रयोग मत करो।

(१० । ६ । ४८)

२१ प्रत्येक वक्ताको उचित है कि चरणानुयोगकी जो बात जनताके समक्ष रक्खे उसे सम्यक् विचारकर रक्खे और निज आचरणपर उसका अमल न हो उसका आदेश श्रोतागणोंको न दे।

(२१ । ७ ४८)

२२ सर्वप्रथम अपना काम करो, किसीमें दुर्वचन व्यवहार मत करो। ऐसा व्यवहार करो जो किसीको कष्टकर न हो। परको कष्ट देना अपनेको कष्ट देनेकी चेष्टा है। अपने ही सदृश दूसरोंको मानो, परकी उत्कृष्टता देख प्रसन्न होओ, यही उत्तम बननेका मार्ग है।

(३ । ८ । ४८)

२३ बिना विचारे कोई काम मत करो। निज कार्यको करो उसका अन्त तक निर्वाह करो। यदि वह कार्य अयोग्य सिद्ध हो तथा अनुभव भी साक्षी न दे तो शीघ्र ही त्याग दो। जो कार्य

उत्तम करे और सुखकर प्रभात हो उसे ही यत्नपूर्वक करो किसी का रातमें आकर मत कम जाओ।

(२१।८।४८)

७४ जो काम करो निर्भीकतासे करो परन्तु निर्भीकतामें सभ्यताको पुट रखना चाहिए। परके मर्मभेदी अभिप्रायको हृदयमें स्थान नहीं देना चाहिये। निश्छलतामें सब कार्योंकी सिद्धि होती है, चञ्चलता ही कार्य बाधक है।

(११।१०।४८)

७५ किसीको होंस हो तो मत मिटाओ। स्वच्छ हृदयसे विचार कर किया हुआ कार्य अवश्य सफल होता है। किसीको तुच्छ मत मानो, तुच्छ कोई नहीं। तुच्छ व्यक्ति ही दूसरोंको तुच्छ समझता है।

(८।९।५१)

७६ आत्महितका अनुपम उपाय मार्ग यह है कि जिससे अन्यको पीड़ा न पहुँचे तथा अपने परिणामोंमें भी किसी प्रकारकी संक्लेशता उत्पन्न न हो।

(१०। ।५१)

७७ वचनका मूल्य होता है सो नहीं, वह तो अमूल्य वस्तु है। यदि आप उसका पालन करेंगे संसार बन्धनसे मुक्त होंगे। मोह न करनेका तात्पर्य यह है कि आत्मा नामक एक पदार्थ है उसका लक्षण चैतन्यपरिणाम है अर्थात् जिसमें चेतनता पाई जावे उसे आत्मा कहते हैं। आत्मा ऐसा है इससे भिन्न लक्षणवाला अजीव है। उसमें चेतनता नहीं पाई जाती। उसके पाँच भेद हैं। इन दोनोंका परिणमन पृथक् पृथक् है। इन दोनोंका अनादिसम्बन्ध है। अतः दोनोंकी अवस्था विकृत रूप हो रही है। आत्मामें जो ज्ञाता-दृष्टापना है वह विकृत हो रहा है। विकृतका

मूल कारण आत्मामें एक विभाव नामक शक्ति है इसके द्वारा जब मोहकर्मका उदय आता है उस समय यह पर पदार्थमें निजत्वकी कल्पना कर लेता है। और इसीके द्वारा संसारको अपनाता है। इसीसे घनीभूत होकर अनन्त संसारका पात्र होता है। जिन्हें अनन्त संसारके पात्र होनेका भय है उन्हें पर पदार्थमें जो निजत्व की कल्पना होती है उसे त्याग देना चाहिये। यह कार्य किसी समागमसे नहीं होता अन्तरङ्गकी विशुद्धता ही इसका उत्पादक है।

(१५ । ७ । ५१)

१८ अनर्थ वाक्य मत बोलो, अनर्थ कार्य मत करो तथा जहाँतक बने अनर्थ चिन्तवन भी मत करो। इससे मानसिक शक्तिका सदुपयोग होगा। सफलताका मार्ग मिलेगा।

(२० । ४ । ५१)

१९ आनेवाली आपत्तिसे भय मत करो। जो कार्य होता है सामग्रीपूर्वक ही होता है। अतः आपत्तिरूप कार्यके होनेमें अन्तरङ्ग कारण तो जन्मान्तरके हमारे परिणाम ही हैं जिनके द्वारा कर्म बन्ध हुए। अतः वर्तमान आपत्तिमें जो निमित्त कारण हो उनपर रोष करनेकी आवश्यकता नहीं। रोष करना ही तो संसारका कारण है।

(१० । ५ । ५१)

२० आत्माको दुःखसे बचानेवाले मनुष्य सादगीसे व्यवहार करते हैं।

(२० । ५ । ५१)

२१ जो व्रत लिया है उसे सद्भावनासे पालो। किसीके पुजानेका अभिप्राय मत रक्खो। किसीको तुच्छ मत मानो, परिणामोंको संक्लेशताका आश्रय मत बनाओ। हमारी बात मानो तब विशुद्धतासे भी बचाओ। मार्ग वही है जहाँ अर्हनिशमें शुभाशुभ

भाव न आवे। किसीको आश्वासन मत दो कि हम आपका कार्य करा देंगे। यदि कोई अपना काम करानेका हठ करे तब एकदम निःसङ्कोच स्पष्ट उत्तर दो, निषेध कर दो। कोई भी प्रतिज्ञा आवेगमें किये मत लो, प्रतिदिन अपने परिणामोंकी परीक्षा करते करते जब आपको उसका निर्वाहयोग्य समझो तब आगे बढ़ो। पुस्तकका अवलोकनकर या किसी वक्ताके क्षणिक प्रभावमें आकर त्यागी मत बनो। अपने अभ्यन्तरमें जो आत्मारूप परमात्मा है उसे जो स्वीकार कर वही कार्य करो। उसकी स्वीकृतिके विपरीत करोगे तो आपत्तिमें पड़ोगे। किसीके साथ ऐसा व्यवहार मत करो जिससे किसीको कुछ सन्देह हो जाय। किसीको गल्पवादमें फँसा कर उसके समयका दुरुपयोग मत करो। ऐसा कार्य मत करो जिसका कटु फल भोगना पड़े। इतना ही भोजन करो जिसे जठराग्नि पचा सके। इससे अधिक करोगे उदराग्निकी बाधा होगी, पराधीन हो जाओगे। ऐसे कार्य ही न करो जिससे पुण्य करनेकी आवश्यकता पड़े, न पतित बनो, न पतितपावनके द्वार जाओ, पापी जीवको ही पापप्रक्षालनके लिए परमात्माकी आवश्यकता होती है। जो पाप न करेगा उसे किसीकी आराधनाकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी। वह न किसीकी आराधना करता है और न किसीसे अपनी आराधना कराना चाहता है। न किसीको प्रसन्न करना चाहता है न अपनेको किसीसे प्रसन्न करानेकी ही इच्छा रखता है।

(२२, २८। ५। ५१)

२७ विवेकसे कार्य करो। बिना विवेक कोई भी मनुष्य श्रेयोमार्गका पथिक नहीं बन सकता। प्रथम तो विवेक बलसे आत्मतत्त्वकी दृढ़ श्रद्धा होनी चाहिए फिर जो भी कार्य करो उसमें यह देखो कि इस कार्यके करनेमें हमको कितना लाभ अलाभ है।

जिस लाभके अर्थ मैंने परिश्रम किया वह परिश्रम सुखपूर्वक हुआ या दुःखपूर्वक हुआ ? यदि धर्म करनेमें संक्लेशकी प्रचुरता हो तब उस कार्यके करनेमें कोई लाभ नहीं। प्रथम ही दुःख सहना पड़ा तब उसके पश्चात् सुख होगा, कुछ निश्चित् नहीं कहा जा सकता। दो प्रकारके कार्य जगतमें देखे जाते हैं—एक लौकिक दूसरे अलौकिक। लौकिक कार्य किनको कहते हैं? जिनसे हमको लौकिक सुखका लाभ होता है। उन्हें हम पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त करनेकी चेष्टा करते हैं। परमार्थसे सुख तो नहीं क्योंकि सुख तो वह वस्तु है जहाँ आकुलता न हो। यहाँ तो आकुलताकी बहुलता है। जब हम किसी कार्यके करनेका प्रयत्न करते हैं तब हम भीतरसे जबतक वह कार्य न हो जावे चैन नहीं पड़ती। यही आकुलता है। इसके दूर करनेके अर्थ ही हम जो व्यापार करते हैं उसका उद्देश्य यही रहता है कि किसी भी तरह कार्य सिद्ध हो।

(१२।६।५१)

२३ बहुत कम बोलो, जो बोलो हितकर बोलो, गल्पवाद छोड़ो, प्रवचनमें जो लिखा है उसे विशदकर जनताके समक्ष रक्खो। ऐसी भाषाका प्रयोग करो कि जनता समझ जावे। आगम भाषाको श्रोताओंकी भाषामें समझाओ। मनुष्योंकी जिस विषयमें दिलचस्पी रहती हो उसीमें उन्हें समझानेका प्रयत्न करो।

(२०।७।५१)

पुरुषार्थ

१ जो कार्य करना है उसे अविलम्ब करो। केवल मनोवृत्तिसे कार्य नहीं होता तदनुकूल प्रयत्नकी महती आवश्यकता है।

(९।११।४७)

२ असंज्ञी तक तो जीव पर्याय बुद्धिवाला रहता है उसको स्वपर विवेकका बोध नहीं होता परन्तु जब यह जीव सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय हो जाता है उस समय इसे आत्मपरिचयकी योग्यता आ जाती है। उस समय यदि भेदज्ञानकी चेष्टा करे तब आत्माका परिचयकर परका प्रयत्नकर अन्तर्मुहूर्तमें अनन्त संसारके हेतु मिथ्याभावोंका सत्ता भेट सकता है। अतः पुरुषार्थ करना चाहिये। पुरुषार्थका अर्थ है कि अपनी जो परिणति कर्मोदयमें रागादिरूप हो रही उसमें हर्ष विषाद न करे। हर्ष विषादका होना ही आगामी कर्म बन्धका हेतु होता है। जैसे अपने घर कोई मेहमान या अतिथि आवे उसके साथ यदि आप स्नेहसे व्यवहार करेंगे तब वह फिर आनेका प्रयत्न करेगा। यदि आप तटस्थता धारण करेंगे तब वह फिर आनेका उद्यम न करेगा।

(२८। ८। ५१)

३ सभी वक्ता व्याख्यान देते हैं कि पुरुषार्थसे मोक्ष होता है। कर्म हमारे पुरुषार्थके समक्ष कोई वस्तु नहीं। दृष्टान्त भी बहुतसे मिल जाते हैं परन्तु जब कोई प्रश्न करता है कि यदि पुरुषार्थ ही मुख्य है और सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रियमें उसकी योग्यता है तब आप हो इस पुरुषार्थको करके शान्तमार्गके पथिक क्यों नहीं बनते? तब कहना है क्या करें? परिस्थिति अनुकूल नहीं इत्यादि उत्तर देकर समाधान कर देते हैं। इससे यही मानना पड़ेगा कि कोई ऐसा प्रतिबन्धक है जो योग्यता होनेपर भी हम अपनी श्रद्धाके अनुरूप सम्यग्ज्ञानके होनेपर भी मोक्षमार्गके साधक चारित्रको धारण करनेमें असमर्थ हैं। अतः यही उपाय हमको शेष रह जाता है कि रागादिके होनेपर यही भावना भावें कि यह हमारा स्वभाव भाव नहीं है। उसे अपनानेका प्रयत्न न करें।

(२९। ८। ५१)

४ पुरुषार्थ तो वह है जो पराधीन न हो। धर्म अर्थ-काम यह तीनों पुरुषार्थ परसापेक्ष हैं, केवल स्वाधीन नहीं। जब शुभोपयोग रूप परिणाम होगा उसी कालमें इसके धर्म पुरुषार्थ होगा। अर्थ और काम पुरुषार्थ भी स्वाधीन नहीं। अथवा इन पुरुषार्थोंमें आत्माका शान्ति भी नहीं। इसका कारण यह है कि धनार्जन करना स्वाधीन नहीं। अनेकोंके साथ इसमें छलादि करने पडते हैं। काम पुरुषार्थ तो इतना निकृष्ट है कि इसके पाछे मरणतक कर लेते हैं।

(२८। ९। ५१)

५ धन वह वस्तु है जिसके विना गृहस्थका जीवन असम्भव है। धार्मिक कार्य जो हैं उनकी रक्षा भी धनके बिना नहीं। परोपकारके जितने कार्य हैं, धर्मशाला, अन्न दान, औषधालय आदि जितने कार्य हैं जिनमें जनताको बहुत लाभ है, धनके बिना कोई भी कार्य नहीं चल सकता अतः गृहस्थको धनकी आवश्यकता है। यह धन स्वयमेव तो जन्मके साथ आता नहीं, चाहे मनुष्य धनाढ्यके गृहमें जन्म ले, चाहे राजवंशमें उत्पन्न हो, चाहे ऐसे गृहमें उत्पन्न हो जिनके पास कुछ भी सम्पत्ति नहीं। फिर भी जो पुरुषार्थी हैं वे नीतिपूर्वक द्रव्य सम्पादन कर सकते हैं। अन्यायसे भी धनका उपार्जन होता है किन्तु अन्यायसे जो धन आता है उसमें परिणाम मलीन रहते हैं, उससे परोपकार नहीं देखे जाते। जैसे चोरोंके औषधालय, विद्यायतन तथा अन्नक्षेत्र नहीं देखे जाते। स्वयं व उस द्रव्यको नहीं भोग सकते। तथा जो न्यायपूर्वक अर्जन करते हैं वह उसे सुव्यवस्थित रीतिसे उपयोगमें लाते हैं, निरन्तर उस द्रव्यसे अनेक परोपकारके कार्य होते हैं।

(२९। ९। ५१

निमित्त और उपादान

१ लोगोंकी भावना तो उत्तम है किन्तु परिणमन पदार्थोंके कारण कूटके मिलन पर होता है । उपादान कारणसे ही कार्यकी उत्पत्ति होती है । किन्तु सहकारी कारणके बिना उपादानका विकाश असम्भव है ।

(२ । ८ । ४७)

२ निमित्तके बिना उपादानका विकाश नहीं होता । यद्यपि उपादानका विकाश निमित्तरूप नहीं परिणमता परन्तु निमित्तकी सहकारिताके बिना केवल उपादान कार्यका उत्पादक नहीं ।

(१९ । ११ । ४७)

३ जो काम होते हैं वह होते ही हैं, सामग्रीसे ही होते हैं । अहम्बुद्धिसे आप अपनेको सर्वथा कर्ता मानते हैं यही महती अज्ञानता है । यह कौन कहता है कि निमित्त रूप कार्य हुआ परन्तु अपनेको सर्वथा कर्ता मानना न्याय सिद्धान्त के प्रतिकूल जाता है । घट उत्पत्ति कुम्भकारादि के निमित्तसे होता है परन्तु घट बना कहाँ ? इसको मत छोड़ दो । तब तुम्हारा निमित्त भी चरितार्थ है । अन्यथा अभावमें समारम्भके कुंभकार प्रयत्न करें क्या घट बन जावेगा ? मृत्तिकाके उपादानवाले यही पाठ घोषणा करते हैं कि मिट्टी ही घटकी जनक है, कुम्भकार तो कुम्भकार ही है । तब जगतभरकी मृत्तिकाका समूह कर लो क्या कुम्भकारके बिना घट बन जावेगा ? अतः यही मानना पड़ेगा कि घटके उत्पादनमें सामग्री कारण है । केवल उपादान और केवल निमित्त दोनों ही अपने अस्तित्वको रखे रहो द्वन्द्व नहीं होगा । यही पद्धति सर्वत्र जानना । यदि इस प्रक्रियाको स्वीकार न करोगे

सब कदापि कार्यकी सत्ता न बनेगी। इस विषयमें वाद विवाद पर मस्तिष्कको उन्मत्त बनानेकी पद्धति है। इसी प्रकार जो भी कार्य हो उसके उपादान और निमित्तको देखो, व्यर्थके विवादमें न पड़ो।

(२३।६।५१)

४ बहुत मनुष्योंकी धारणा हो गई है कि जब कार्य होता है तब निमित्त स्वयं उपस्थित हो जाता है। यहाँपर विचार करना चाहिए कि यदि निमित्त कुछ करता ही नहीं तब उसकी उपस्थितिकी क्या आवश्यकता है? यदि कुछ आवश्यकता उसकी कार्यमें है तब उपादान ही केवल कार्यका उत्पादक है ऐसे दुराग्रहसे क्या प्रयोजन? अष्टसहस्रीमें श्रीविद्यानन्द स्वामीने लिखा है कि **"सामग्री हि कार्यजनिका नेक कारण"** कार्यकी उत्पादक सामग्री होती है, एक कारण नहीं।

(१७।७।५१)

५. पदार्थके परिणमन उपादान और निमित्तकी सहकारितामें होते हैं परन्तु जो सहकारी कारण होते हैं उसी समय, किसीको मुख्य निमित्त होते हैं तथा किसी को गौण निमित्त होते हैं। अतः उपादान कारणपर लोग विशेष बल देते हैं। यह ठीक है घटकी उत्पत्ति मिट्टीसे ही होगी, चाहे कुम्भकार बनावे, चाहे जुलाहा बनावे, चाहे वैश्य बनावे, किन्तु निमित्त कारण अवश्य वाञ्छनीय है।

(१५।१०।५१)

६ यद्यपि सभी पदार्थ अपनेमें ही परिणमन करते हैं परन्तु कार्य जब होता है तब उस विकाश परिणामके लिए उपादान कारण और निमित्तकी अपेक्षा करता है। जैसे जब कुम्भकार घट [illegible] है उस [illegible] चीवर, जल, दण्ड सूत्रको लेकर ही

निर्माणका उद्यम करता है। प्रथम तो उसके यह विकल्प होता है कि मैं घट बनाऊँ, इसके अनन्तर उसके आत्मप्रदेश चञ्चल होते हैं जिनसे हस्तादि व्यापार होता है। हस्तके व्यापार द्वारा मृत्तिकाको आर्द्र करता है पश्चात् दोनों हाथोंसे उसे मृत गीली करता है, पश्चात् मिट्टीको चाकके ऊपर रखता है, पश्चात् दण्डादि द्वारा चाकको घुमाता है। इसी भ्रमणमें हस्तके द्वारा मिट्टीको घटाकार बनाता है। पश्चात् जब घट बन जाता है तब उसे सूतके द्वारा पृथक्कर पश्चात् अग्निमें पका लेता है। यहाँपर जितने व्यापार हैं सब जुदे जुदे हैं फिर भी एक दूसरेमें सहकारी कारण हैं किन्तु जब घट निष्पन्न हो जाता है तब केवल मिट्टी ही उपादान कारण रह जाती है। अनन्तर जब घट फूट जाता है तब भी मिट्टी ही रहती है। इसी आशयको लेकर आप्तोंने आगममें लिखा है—

"मत्तो विनिर्गतं विश्वं, मय्येव च प्रशाम्यति।
मृदि कुम्भो जले वीचिः कटकः कटके यथा॥"

जो पदार्थ जहाँ उदय होता है वहीं उसका लय होता है। यहाँ कारण है कि वदान्ती जगतका मूल कारण ब्रह्म मानते हैं। परमार्थसे देखा जाय तो आत्माकी विभावपरिणति ही का नाम संसार है किन्तु केवल आत्मामें ही यह संसार नहीं हो सकता है। अतएव उन्होंने मायाको स्वीकार किया है। इसका यह भाव है कि केवल ब्रह्म जगतका रचयिता नहीं। जब उसे मायाका संसर्ग मिले तभी यह संसार बन सकता है। अब कल्पना करो कि यदि ब्रह्म सर्वथा शुद्ध था तब मायाका संसर्ग कैसे हुआ? शुद्ध विकार होता नहीं अतएव मानना पड़ेगा कि यह मायाका सम्बन्ध अनादिसे है। यहाँपर यह शङ्का हो सकती है कि अनादिसे सम्बन्ध है तो छूटे कैसे? उसका उत्तर सरल है कि बीजसे अङ्कुर होता है। यदि बीज

दग्ध हो जाने तो अङ्कुरोत्पत्ति नहीं हो सकती। यही माया भवका बीज है। जब वास्तव तत्त्वज्ञान हो जाता है तब वह संसारका कारण जो भ्रमज्ञान है वह आपसे आप पर्यायान्तर हो जाता है।

(९, १०।१२।५१)

७ बहुतसे मनुष्योंकी यह धारणा हो गई है कि निमित्त कारण इतना प्रबल नहीं जितना उपादान होता है। यह महती भ्रान्ति है। कार्यकी उत्पत्ति न तो केवल उपादानसे होती है और न केवल निमित्तसे किन्तु उपादान और सहकारी कारणके योगसे कार्य उत्पन्न होता है। यद्यपि कार्य उपादानमें ही होता है परन्तु निमित्तकी सहकारिता बिना कदापि कार्य नहीं होता। जैसे कुम्भ मिट्टीसे ही होता है परन्तु कुलालरूप निमित्त बिना कार्य नहीं होता।

(२८।१२।५१)

स्वोपकार और परोपकार

१ 'हमसे परोपकार होता है' यह धारणा गलत है। प्रत्येक कार्य अपनी योग्यतासे होता है और योग्यताका विकास निमित्त कारणसे होता है परन्तु निमित्तको निमित्त ही मानो, इससे अधिक नहीं।

(१२।१।४७)

२ संसारमें मनुष्योंकी दृष्टि स्वात्मोपकारकी ओर रहनी चाहिए उससे संसारका उपकार हो जावे यह अन्य बात है।

(४।३।४७)

३ कोई किसीका उपकार और अनुपकार करनेवाला नहीं। आत्मीय परिणाम ही उपकार और अनुपकारके करनेवाले हैं। इस

जगतकी व्यवस्था करनेवाला ही आत्मा है। नरक स्वर्गादि सब आत्मपरिणामोंके फल हैं, मोक्ष भी आत्मपरिणामोंकी परम परिणतिसे होता है।

८ जगतके उपकारकी चेष्टा करना प्रायः व्यर्थ है। आत्मोपकारकी भावनासे स्वयं जगतका उपकार हो जाता है। जगतके उपकारसे आत्माका उपकार नहीं हो सकता, केवल कल्पना है। उपकार अपकारकी कल्पना मोहाधीन है।

(३१।७।४८)

सत्समागम

१ सत्समागमको पाकर मनुष्यमें मानवता आ जाती है। हमें उचित है कि वृद्ध मनुष्योंकी सेवा करें। इसके द्वारा हम उत्तम विचारोंको प्राप्त कर सकते हैं। सत्पुरुषका अर्थ है कि जो ज्ञान चारित्रसे भूषित हों। उन्हींको वृद्ध शब्दसे व्यवहार करते हैं। जिनके बाल शुक्ल हो गये, दन्त भग्न हो गये, मेरुदण्ड कुटिला हो गई, कर्ण श्रवण करनेमें असमर्थ हैं, उनका नाम वृद्ध नहीं। जिनको समय लोक सिद्ध करता है, तथा जिनकी विनयकी आकांक्षा है, उन्हें उचित है कि वृद्ध मानवोंकी सेवामें तत्पर रहें। जो मनुष्य वृद्ध सेवामें अपना समय लगाते हैं उनकी रागादिके साथ कषायाग्नि शान्त हो जाती है। वृद्ध मनुष्योंके समागमसे दुष्टसे दुष्ट भी मनुष्य शान्त हो जाता है। अत्यन्त मलीमस चित्त भी वृद्ध योगियोंके सहवाससे निर्मल हो जाता है। अगस्त्य ताराके उदय होनेपर जलका पङ्क भाग बैठ जाता है।

"तपःश्रुतिधृतिध्यानविवेकयमसंयमैः ।
ये वृद्धास्ते प्रशस्यन्ते न पुनः पलिताङ्कुरैः ॥

प्रत्यासत्ति समायाते विषयै स्वान्तरञ्जके ।
न धैर्यं स्खलितं येषां ते हि वृद्धा बुधैर्मता ॥

इन गुणोंसे विभूषित वृद्ध कहलाते हैं। स्वप्नमें भी जिनके चारित्रकी उज्ज्वलता है, तथा यौवन अवस्थामें भी जिनके सच्चारित्रमें दोष नहीं आया वही आत्मा वृद्ध है।

सबसे उत्तम तो यही है कि दिगम्बर महापुरुषोंका समागम अच्छा है। उन दिगम्बर मुनियोंका समागम उत्तम है जो बाह्य आडम्बरसे शून्य है। परन्तु आजकल मुनिमार्ग भी परिग्रहको अपनाने लगा है। किसीको तो पुस्तक छपानेका रोग लग गया है। किसीको मोटर आदि बाह्य सामग्रीका आश्रय लेकर तीर्थयात्रा करनेकी प्रवृत्ति हो गई है और कोई गृहस्थों पर अपना अधिकार चला कर सामाजिक कार्योंमें लगे रहते हैं। अतः उनके समागममें भी शान्तिका मार्ग नहीं। लाचार होकर उनके समागममें रहनेसे भय होता है। अब उनके बाद क्षुल्लक ऐलक वर्ग रह जाता है सो भी प्रकृतिके अनुकूल नहीं। जिसके जो मनमें आता है सो प्रवृत्ति करता है। विद्या का व्यसन नहीं, स्वाध्याय भी कई करते हैं कई विशेष विद्वान् भी हैं तथा प्रतिभाशाली भी हैं किन्तु उसका उपयोग स्वेच्छापूर्वक करते हैं। हमने भी अपने प्राप्त ज्ञानका कुछ उपयोग नहीं किया।

(२१।८।५१)

पुण्यात्मा पापात्मा

१ पुण्यसे मनुष्यको बाह्य पदार्थका मिलना कोई उपयोगी वस्तु नहीं। किन्तु शुभ परिणामका फल हो तो पुण्य है। शुभ परिणामोंसे घातिया कर्मोंमें स्थिति और अनुभाग मन्द पड़ता है।

जब उसका उदय आता है उस कालमें जीवके मन्दकषाय होती
मन्दकषायमें जीवके परिणाम पूजन करना, स्वाध्याय करना,
पालना, जीवोंका उपकार करना, होते हैं। यदि उसके परि
परिग्रहमें अत्यन्त आसक्त हो तब वह घातियाके तीव्र उद
षाय है। तीव्र पापके परिणाममें घातिया कर्मकी स्थिति
अनुभाग बहुत बन्ध होता है। अतः जिन जीवोंके बहुत परि
होनेपर यदि उस समय परिग्रहमें विशेष मूर्छा है तब वह
वर्तमानमें पुण्यात्मा नहीं। किसी जीवके परिग्रह अल्प है
उसके परिणाम निर्मल रहते हैं, मन्द कषायरूप रहते हैं तब
जीव वर्तमानमें पुण्य जीव है। सिद्धान्तमें तो जिस जीवके घा
अनुसार भी बाह्य परिग्रह कम तथा इतनी मन्द कषाय है कि
चाहे उसका शत्रुओंसे भी पीड़ा पहुँचाये तो भी वह उस पीड़ा
चानेवालेपर क्रोधादि भाव नहीं करता और यदि भाव पारिण
पुरुषसे उसका अर्चन कर रहा है तो भी उस कालमें इन दोन
समता भाव है किन्तु यदि उसका मिथ्यात्व नहीं गया है तब
पापी जीव कहा है और जिसके अपेक्षा बहुत वैभव है कि
होनेपर भी अपनी रक्षाके अर्थ विरोधी हिंसा भी करता है, रा
त्रिक विभूति भी है परन्तु सम्यग्दर्शन हो गया है
उसे पुण्य जीव कहा है। यहाँपर मन्द कषाय और तीव्र कष
प्रयोजन नहीं। जिसका आत्मासे मिथ्यादर्शन निकल गया,
पवित्र आत्मा कहते हैं। चाहे बाह्य विभूति अमर्यादित हो
हो और जिसके सम्यग्दर्शन नहीं हुआ इस बातमें निस्तुषमात्र
परिग्रह न हो उसका 'पुण्य जीव' शब्दसे व्यवहार करना यो
रिक है। जो पञ्च पाप हैं वे भी प्रमत्तयोगके सद्भावमें हैं। परम
हिंसक मिथ्यादृष्टि है। चाहे इसके द्वारा जीवका घात न हो।

समझा यह अन्यको क्या समझेगा ? अतएव अज्ञानी जीव न तो पुण्यका स्वरूप जानता है और न पाप का। पुण्य पाप करता है परन्तु स्वरूपको नहीं जानता। यथा—

"कुशलाकुशलं कर्म परलोकश्च क्वचन ।
एकान्तग्रहरक्तेषु नाथ ! स्वपरवैरिषु ॥"

श्री समन्तभद्र स्वामीने कहा है हे नाथ ! जो एकान्त ग्रहम आसक्त हैं उनके न तो कुशल पुण्यका ही स्वरूप बनता है, और न पापका ही स्वरूप बनता है और न परलोक आदिका स्वरूप ही बनता है। वस्तु स्वरूपकी व्यवस्था तो स्याद्वाद सिद्धान्तसे ही होती है।

(८, ११८।५१)

समता

"मोहवह्निमपाकर्तुं स्वीकर्तुं संयमश्रियम् ।
छेत्तुं रागद्रुमोद्यानं समत्वमवलम्ब्यताम् ॥"

(ज्ञानार्णव)

यदि मोहाग्निको दूर करना चाहते हो, तथा संयम रूपी लक्ष्मीको स्वीकार करनेकी अभिलाषा है तथा रागवृक्षको छेदन करनेकी वाञ्छा है तो समत्वका अवलम्बन करो। समत्व किसको कहते हैं ? इसका विवरण श्री १०८ कुन्दकुन्द स्वामीने प्रवचन सारमें लिखा है—

"चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हि समो ॥"

अर्थात् चारित्र ही धर्म है। स्वरूपमें जो आचर नाम चारित्र है। यह ही वस्तु स्वभाव होनेसे धर्म ह उसका अर्थ यह है कि शुद्ध चैतन्यका प्रकाश जहाँ होता नाम धर्म है, उसीका नाम साम्य है। उसमें यथार्थ है। अर्थात् दर्शनमोह और चारित्रमोहके उदयमें आत्म क्षोभ होता है, उसके अभावमें आत्माका जो अत्यन्त परिणाम होता है इसीका नाम चारित्र है, इसीका ना है। ऐसा सिद्धान्त है कि—

> "परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मय त्ति प
> तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्व
> (४

निरीहता

१ बिना निरीह वृत्तिके कषाय दूर होना मार्ग है। अन्तरङ्गमें चाहदाह महती कष्टदायी चाहको त्यागो।



संसारके कारण

संसारके कारण

१ जो परको अपना मानता है वह निजको भूलता है। निजको भूलना ही संसार बन्धनकी जड है। संसार ही नाना दुःखोंका आस्पद है। अब तो चेतो!

(२।६।४७)

२ बहुत काल परकी संगति की, पर कौनसा लाभ उठाया? अनन्त संसार ही के पात्र तो रहे।

(२८।७।४७)

३ परकी प्रशंसा और निन्दासे सुख और दुःख मानना ही संसारका कारण है। ज्ञान महला और है कार्य दूसरा और है।

(९।५।४८)

४ संसारका कारण सुख दुःखका अनुभव नहीं वह जो कर्म विपाकजन्य फल है। जो राग द्वेष आत्मामें होता है वही संसार भ्रमणकी जड है।

(१०।१०।४८)

५ कषाये रसिक मनुष्योंसे सम्पर्क रहना ही संसार बन्धनका मूल कारण है।

(२८।१२।४८)

६ आज तक जो हम संसारमें भ्रमण कर रहे हैं उसका कारण है कि अपना परिचय नहीं किया। अपने परिचयको प्राप्त करनेके लिए उसके बाधक कारणको निरन्तर खोना। यही महती अज्ञानता हम संसार बन्धनमें फँसाये है। जिस दिन हमारा अज्ञानभाव चला जायगा उसी दिन हम संसार बन्धनसे निमुक्त हो जावेंगे। संसार

नाम संसरण है। जिसमें ये जीव चतुर्गति परिभ्रमणकर अ
भ्रमके पात्र होते हैं। इसमें मूल कारण अन्य कुछ नहीं, आ
परिणतिको स्वच्छ न बनाना ही है। स्वच्छतासे तात्पर्य य
जितने पर द्रव्य हैं उनमें निजत्व भावकी कल्पनाका त्याग कर

(२। ८।

७ इस संसार अरण्यमें अनादिसे यह आत्मा भ्रमण रह
इसका मूल कारण परमें दृष्टि है। जब तक पर दृष्टि रहत
तबतक यह आत्मा पक्षपात करता है। अन्यकी कथा छो
भगवान्‌के नाना स्वरूपोंकी कल्पना करता है।

(२। १०।

कषाय

१ सबका अपनी अपनी कषायकी पूर्ति करनेका ज्वर
है। संसारमें विरला ही होगा जो इस ज्वरसे मुक्त
कषाय ज्वर ही महान ज्वर है। इसका मूल चक्र संसार होता
अच्छे अच्छे ज्ञानी चक्रमें आ जाते हैं। सबसे प्रबल यही
ज्वर है। इसके वशमें यह जीव निरन्तर बेहोश रहता है
बेहोशीमें आत्माके अस्तित्वको परमें मान बैठता है।

(१०। ९।

२ जहाँ कषायसे अनुरञ्जित परिणाम है वहाँ नियमसे
है। निर्ग्रन्थ विमुक्तिकी भावना है वह धनमें अनुराग
रखते। अनुराग ही संसार बंधनका कारण है।

(२५। ९।

३ सक्रोध कषायसे प्राणोंका भाव पतित हो जाता है,
रक्षा करना। 'कौन किसका है' इस सिद्धान्तपर दृढ़ रहना।

(२५। ७।

४ आत्मीय परिणतिको कलुषित मत होने दो। परिणामोंके कलुषित होनेमें अन्तरङ्ग कारण मोह राग द्वेष है, बाह्य कारण पञ्चेन्द्रियके विषय हैं। विषय निमित्त कारण हैं परन्तु ऐसी व्याप्ति नहीं कि विषय परिणतिको कलुषित कर ही देवें। विषय तो इन्द्रियोंके द्वारा जाने जाते हैं उनमें जो इष्टानिष्ट कल्पना होती है वह कषायसे ही होती है। कषाय क्या है? जो आत्माको कलुषित करता है। यह स्वयं होती है। आत्मामें इसका परिणमन अनादिसे चला आ रहा है। हम निरन्तर प्रयत्न करते हैं कि आत्मामें स्वच्छ परिणाम हों परन्तु न जाने कौनसी शक्ति आत्मामें है कि जिसके कारण अनिष्टकारी भाव आत्मामें स्वयमेव चले आते हैं। इससे यही निश्चय होता है कि आत्मामें अनादिसे ऐसे संस्कार आ रहे हैं जो निरन्तर ही उसको अनन्त वेदनाओंका पात्र बनना पड़ता है।

(२० । ४ । ५१)

५. चित्तको जाननेकी चेष्टा करो। किसके वशमें कार्य कर रहा है? पर पदार्थ चित्तको अपनेआधीन नहीं रख सकता। इसका कायम सञ्चालन करानेकी शक्ति आत्मामें है, उस शक्तिका नाम ही कषाय है। कषायके द्वारा ही मन काय वचनके होते हैं। जो परदया उपकार आदि कार्य होते हैं यह भी मन्द कषायके कार्य हैं। अब जो मारन ताडन विषयादि कार्य हैं ये सब अशुभ कषायके कार्य हैं। यह दोनों ही कार्य बन्धके कर्ता हैं। अतः एक अच्छा एक बुरा है यह व्यवहार परमार्थ दृष्टिवाला नहीं करता। शुभ कार्यके करनेका निषेध नहीं परन्तु उसे बन्धका जनक समझो। यद्यपि आत्मा ज्ञाता द्रष्टा है परन्तु कर्म मलके सम्बन्धसे सर्वदा यह कुछ न कुछ करता ही रहता है और उस कर्तव्यका फल भोगता हुआ चतुर्गतिका पात्र बना रहता है। इसमें किसीका अपराध नहीं। क्या करें जब मद्यका नशा आता है तब मनुष्यके अयोग्य आचरण होता ही है।

इसी तरह कर्म विपाकसे इसकी जो दशा होती है वह इसके नहीं। यदि यह जीव पुरुषार्थ करे तब शुद्ध कार्य बननेकी संभा है। जिस कालमें नशा उतर जाता है उस कालमें नशाके कार्य चिंतन करे तब अधिकांशमें उनसे मुक्त हो सकता है।

(४। ६। ५

६ क्रोधादिक जो उत्पन्न होते हैं वह औपाधिक हैं। उनके हो आत्मा कलुषित हो जाता है। कलुषताके कारण अन्तरङ्गमें अत्य दुःखी होता है। और उस दुःखको दूर करनेके अर्थ क्रोध कषा कार्यमें प्रवृत्ति करता है। जैसे क्रोधमें किसीको मारता है। य उसमें आपको कुछ भी लाभ नहीं परन्तु जबतक यह कार्य हुआ तबतक शांत नहीं होता। क्रोधके दूर होनेपर स्वयं श हो जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि दुःखका मूल कारण क्रोध हम परको दुःखका कारण मानते हैं यही महती अज्ञानता है।

(२९। १२। ५

आगमङ्गारे-अहङ्कार

१ संसारका मनमें प्रबल कारण अहम्बुद्धि और ममबुद्धि इस जीवको यह अहङ्कार अनादिसे लगा हुआ है कि 'मैं एक विशि व्यक्ति हूँ मेरे समक्ष अन्य सब तुच्छ हैं। यह मानना कि अज्ञानपूर्ण है ? यह नहीं सोचता कि मैं जीव हूँ, तब मेरे जो हात हैं यदि वे वास्तव हैं तब जितने जीव हैं उनमें यही होंगे। तब फिर निज और अन्यमें क्या अन्तर हुआ ? भेद ज्ञान कारण लक्षण सब जीवोंमें पाया जाना चाहिये। तब हम सब सम हैं अतः साम्यभाव ही सुखदायी हुआ। यदि अपनेमें ज्ञानादि है और वीतरागभाव है, अन्यमें नहीं है, तब यह विचार क

आवश्यक है कि हम और यह दोनों जीव हैं, इसमें जो गुण विकास हुआ वह इसमें भी हो सकता है। केवल कोई प्रतिबन्धक है जो इस जीवमें अबतक नहीं होने देता।' अतः उनमें यदि अपनेसे पुरुषार्थ है तो उनसे सम्बोध कर उस गुणका विकास करनेका प्रयत्न करना उचित है। प्रत्येक आत्मामें गुण विकास हो सकता है किन्तु उसके विकासमें बाधक अन्य नहीं हम स्वयं ही हैं।

एक मनुष्य प्रमादसे मार्गमें जा रहा था, एक पत्थरकी ठोकर लगनेसे वह भूमिपर गिर पड़ा। उसने साथीसे कहा—'हथौड़ा लाकर इस पत्थरको चूर्ण कर दो, इससे टकराकर हम भूमिपर गिर पड़े और हमको बहुत चोट लगी। यह इस पत्थरका अपराध है।'

साथीने उत्तर दिया—श्रीमान्! इसमें पत्थरका क्या अपराध है? यह स्वयं तो उछल कर आपके पैरमें लगा नहीं। आप स्वयं प्रमादसे चलते थे, इसीसे इसकी चोट लगी, यह आपके ही प्रमाद का फल है। अतः आपको उचित है कि मार्गमें जब गमन करें, देखकर ही करें, प्रमादको त्यागें, यही आपका निर्विघ्न अभीष्ट स्थानतक ले जावेगा।'

इसी तरह हम स्वयं क्रोधादि कषाय कर अपने को संसार बन्धनमें डालते हैं। हमको उचित यही है कि क्रोधादि कषाय न करें। जिनके निमित्तसे क्रोधादि कषायका उदय होता है उन पदार्थोंसे द्वेष करनेकी आवश्यकता नहीं परन्तु मोही जीव आत्मीय अपराधको तो दूर करनेकी चेष्टा करता नहीं जिनसे क्रोधादि कषाय होते हैं। हम उन निमित्त कारणोंको पृथक् करनेका प्रयत्न करते हैं जो क्रोधमें निमित्त होते हैं। निमित्त भी दो प्रकार के हैं। एक तो वे जो हमें प्रत्यक्ष हो रहे हैं, दूसरे वे जो प्रत्यक्ष नहीं होते, जिनको द्रव्य क्रोध कहते हैं। उनके चार भेद हैं—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, और संज्वलन। इनका

यहाँ वर्णन नहीं करना है। क्रोधका उपादान कारण आत्मा ही है। आत्मामें अनन्त गुण हैं। उनमें एक चारित्र नामक गुण भी है, वही गुण क्रोध, मान, माया और लोभ रूप परिणमता है। जब इस जीवके क्रोध कषायका उदय होता है उस कालमें यह आत्मा क्रोध रूप परिणमता है। उससे परका अनिष्ट करनेका भाव होता है। परके ऊपर तीव्र कषाय होती है, उसे नानाप्रकारके कष्ट देता है, गाली आदि दुर्वचनोंकी चेष्टा करता है, अस्त्रादिसे उसे मारनेका भाव करता है तथा अस्त्रादिका कायमें प्रयोग करता है। यद्यपि अस्त्रादिसे उसका अङ्ग भङ्ग करनेकी चेष्टा करता है, मनमें निरन्तर उस जीवके अनिष्ट समागम हो यही चिन्तन करता है परन्तु यदि उसका कोई भी अङ्ग छिन्न न हुआ तब स्वयं अस्त्रादिसे अपना ही घात कर लेता है। इसी प्रकार मान कषायके उदयमें अन्यको लघु दिखानेका प्रयत्न करता है, अन्यके प्रशस्त विद्यमान गुणोंमें भी दूषण लगानेका प्रयत्न करता है।

(२१।१०।५१)

माया

१ आर्जवका अर्थ है सरल होना। सभी मनुष्य अपनेको सरल मानते हैं परन्तु कार्य इसके विपरीत ही करते हैं। निरन्तर कपट व्यवहारसे आत्माको वञ्चित करते रहते हैं। यदि कोई मनुष्य यह चाहता है कि मैं मायाचारसे वर्जित रहूँ तब उसे परपदार्थमें ममभावका त्याग देना चाहिये। परको आत्मीय मानना ही सब पापोंकी जड़ है। उस पदार्थ रक्षाके लिये ही हमें सब अनर्थ करने पड़ते हैं। संसारमें दो ही प्रकारके पदार्थ हैं एक तो चेतन और दूसरे अचेतन। यदि इनके स्वरूपका विचार किया जावे तब

सब पदार्थ अपने अपने द्रव्यादि चतुष्टयमें लीन हैं, कोई पदार्थ किसी पदार्थके साथ नहीं मिलता। हम अज्ञानी लोग कर्तृत्व बुद्धिके द्वारा जगत्के स्रष्टा बनना चाहते हैं। यही हमारी महती अज्ञानता है, इसे हटाओ। सभी पदार्थ सत्ता सामान्यकी अपेक्षा समान हैं उनसे क्या स्नेह किया जावे? विशेषकी अपेक्षा विचार किया जावे तब सब जीव चेतन गुणकी अपेक्षा समान हैं। इनसे भी क्या सम्बन्ध किया जावे? क्योंकि सब अपने अपने स्वरूपमें रत हैं।

(७।९।५१)

राजरोग राग

१ गल्पवादसे यथार्थ पदार्थका निर्णय होना सुसाध्य नहीं। प्रतिदिन शास्त्र प्रवचनमें यह निकलता है कि रागादिक ही आत्माके गुण विकाशमें बाधक हैं। मैंने साठ वर्ष तक प्रयास किया परन्तु इस पर विजय प्राप्त न कर सका। कहनेसे करनेमें महान् अन्तर है। सभी कहते हैं कि रागादिक परम दुःखके कारण हैं नित्य पाठ पढ लेते हैं परन्तु कर्तव्य पथसे प्राय वञ्चित रहते हैं।

(२।९।४७)

२ ज्ञानसे अज्ञाननिवृत्ति होती है किन्तु एतावता जो ज्ञानान्तरभाविनी चारित्रकी प्राप्ति है उसका कारण रागद्वेषकी निवृत्ति है। अनादि कालसे यह सम्बन्ध है। शरीरके सम्बन्धसे रागद्वेष है यह कुछ बुद्धिमें नहीं आता क्योंकि रागद्वेषकी उत्पत्ति आत्मामें होती है और शरीर जड़ है। उसकी शक्ति ऐसी नहीं जो आत्मामें राग द्वेष उत्पन्न करनेमें प्रबल प्रेरक हो। यदि कर्मोंको

कारण पड़ा जावे तब वह भी अचेतन है अतः आत्मा रागादिका उपादान कैसे हो सकता है? और रागादिक भाव होते हैं यह तो निर्विवाद है। यदि ये आत्माके स्वभाव माने जावें तब आत्मा का नाश करनेका प्रयास करना है वह व्यर्थ हो जाय। कुछ बुद्धिमें नहीं आता है। अब जब यही मन्तव्य कर लेना पड़ता है कि जो रागादिक भाव हैं वे होते अवश्य हैं इसलिए उनका उपादान कारण आत्मा है निमित्त कारण कर्म होना चाहिये। जैसे स्फटिक मणि स्वयं तो रागादि रूप नहीं परिणमता किन्तु रागादि भावापन्न जो जपापुष्प है उसके निमित्तसे रागादिरूप परिणम जाता है।

(१०।४।५१)

३ सुमार्ग तो यही है कि सबसे स्नेह त्यागो। यही कल्याण मार्ग है। परके साथ एकत्व भावना ही संसारकी जड़ है। जहाँ परमें निजत्वकी परिणति हो जाती है वहीं अनायास राग द्वेषकी सन्तति होती रहती है। जिनको हम निज मानते हैं उनको अपने अनुकूल रखनेका प्रयत्न करते हैं और यही व्यग्रता आत्माको निरन्तर खिन्न रखती है। इसी परिणतिका नाम संसार है। बहुतसे व्यक्ति दृश्यमान जगतको संसार मानते हैं, उससे अपनी परिणति हटानेकी चेष्टा करते हैं सो कुछ बुद्धिमें नहीं आता। आत्मासे भिन्न जितने पदार्थ हैं वह तो भिन्न ही हैं उनका त्यागने की आवश्यकता नहीं किन्तु उनमें निजत्वकी कल्पना होती है, उसे घटाओ, यही परिणति संसारकी जननी है।

(२४।४।५१)

४ राग परिणाम संसारका कारण है चाहे वह शुभ हो, चाहे अशुभ हो। अग्नि चाहे चन्दनकी हो, चाहे नीमकी हो, दोनों ही जलावेंगी।

(२६।४।५१)

५ 'संसारके धनका मूल कारण राग द्वेष है। इस पर विजय प्राप्त करना चाहिये' यह व्याख्यान तो प्रत्येक देता है तथा तर्क पूर्ण वाक्योंसे अपने व्याख्यान द्वारा जनताको मन्त्रमुग्ध कर देता है, स्वयं भी तन्मय हो जाता है परन्तु उत्तरकालमें गजस्नानका ही क्रिया करता है। न जाने केवल व्याख्यानसे क्या लाभ ? यदि उसपर अमल न किया जाय तब इस प्रकारकी चेष्टा कुछ लाभदायक नहीं।

(२०।८।५१)

६ संसारका जो अस्तित्व है वह जीवके रागादि परिणामों से होता है। उनके निमित्तको पाकर जो कार्मण वर्गणाएँ जीवके प्रदेशोंमें हैं वे ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमती हैं। उनका उदय शरीरादि नोकर्म और रागादि परिणामोंमें कारण रूप होता है। संसारमें ऐसा एक भी समय नहीं जिसमें आत्माके रागादिक परिणाम न हों।

(२२।९।५१)

७ 'प्राणीमात्रका कल्याण राग त्यागनेमें है'। त्यागकी महिमा का गान करते हैं किन्तु रागत्यागकी ओर अणुमात्र भी लक्ष्य नहीं। पञ्च परम गुरुकी उपासना इस अभिप्रायसे पुष्ट करनेकी थी कि राग न्यून हो किन्तु उसकी ओर तो लक्ष्य ही नहीं। केवल पूजन प्रभावना कर रागवर्द्धन ही हाथ रह जाता है। इसीमें पूर्ण पुरुषार्थ लगा देते हैं।

(२८।९।५१)

८ राग-द्वेषके वशीभूत होकर मनुष्य जो कुछ न करे सो अल्प है। आगममें लिखा है कि रावणने एक सीताके रागमें अपने प्रति नारायण पदको तिलाञ्जलि दे दी। जिस समय रावणने लक्ष्मणपर चक्र चलाया और चक्र लक्ष्मणके हाथमें

आया उस समय श्री रामचन्द्रजी ने रावणसे कहा कि हमको न तो तुम्हारा राज्य चाहिये और न चक्र चाहिये, हमारी सीता हमको दे दो, वनमें किसी कुटियामें रहकर अपना निर्वाह करेंगे, तुम मानन्द अधचक्री पदका उपभोग करो किन्तु रावण इन वाक्योंको श्रवणकर आग बबूला हो गया और बोला कि कुम्भकारके चक्रको पाकर इतना गर्व मत करो। इतना श्रवणकर लक्ष्मणने जो करना था सो किया। अतः इससे यह सिद्धान्त निकला कि कषायके वशीभूत होकर जीवोंकी जो दशा होती है वह प्रायः प्राणी मात्रके प्रत्यक्ष है। विशेष आशय यह कि हम लोग अन्य संसारको उपदेश देना जानते हैं, स्वयं रागद्वेष दूर करनेका प्रयत्न नहीं करते। रागद्वेष त्यागनेके लिये लम्बे लम्बे व्याख्यान देते हैं। दूसरे श्रवणकर मोहित हो जाते हैं और प्रशंसावादका बहुत कुछ आडम्बर होता है। किन्तु जल बिलोलनेके सदृश ही यह कार्य होता है। अतः निरन्तर संसार बन्धनसे मुक्त होना है उन्हें सब कार्योंको गौणकर रागद्वेषके त्यागनेकी चेष्टा करना ही अपना कर्तव्य समझो।

(१८।११।५१)

स्नेह

१ स्नेह ऐसा प्रबल परिणाम है जो इस अनन्त संसारकी रक्षा कर रहा है। यदि यह मिट जावे तब अन्तर्मुहूर्तमें इस संसार का ध्वंस हो जाता है। अतः जिन्हें इस संसारका अभाव करना है वे स्नेह त्यागें।

(४।७।४८)

२ संसारमें बन्धका कारण स्नेह ही तो है। उसके वशीभूत होकर यह जीव क्या क्या अनर्थ नहीं करता? सब अनर्थोंकी

जड़ यही स्नेह तो है जिसने इस पर विजय पा ली उसने जगपर विजय पा ली।

(५।७।४८)

३ जहाँपर रहो वहीं समुदायसे स्नेह हो जाता है तथा व्यक्ति विशेषसे भी स्नेह हो जाता है। यह स्नेह ही संसारका कारण है। इसे लोग धार्मिक स्नेह कहते हैं। पर्यवसान में इसका फल उत्तम नहीं। जहाँ श्री अर्हद्नुरागको चन्दन जन्य सन्तप्त अग्निकी तरह दाहोत्पादक कहा है वहाँ अन्य स्नेहकी कथाकी गिनती ही क्या है? अतः सामान्य मनुष्यसे स्नेह करना तो सर्वथा ही हेय है। यदि स्नेह करनेकी प्रकृति पड़ गई हो तब चेतनसे स्नेह हटाकर अचेतनसे करो या उस चेतनसे करो जो स्नेही न हो। इससे यह सिद्ध होता है कि एक ही का उपाय करना पड़ेगा अर्थात् एककी ही चिन्ता रहेगी अन्य चिन्ता न रहेगी। अपना मोह ही त्यागनेकी चिन्ता रहेगी। वह भी निराश्रय होकर स्वयमेव विलय जावेगा।

(७।६।५१)

४ परमार्थसे स्नेह बन्धन ही का कारण है।

(२०।६।५१)

५ अनादिसे यह आत्मा पर पदार्थोंसे मिलकर अपने स्वत्वको खो बैठा है। यह स्वत्व बिना त्यागे नहीं मिल सकता। त्यागका अर्थ यह है कि परको जो स्नेह साथ अपना रहे हो उस स्नेहको त्यागो। स्नेहका त्याग क्या है? स्नेहमें राग न करो, यह स्वयं राग है। तब क्या द्वेष करें? द्वेष भी न करें। तब क्या करें? उपेक्षा करो। यही तुममें हो सकता है। रागमें उपेक्षा कैसी? इसका अर्थ यह है कि राग आत्माकी आत्मकृत विभाव शक्तिके सद्भावमें मोहके द्वारा प्रीतिरूप परिणति है। इसके उदयमें पर-

पदार्थको यह प्रीतिरूप परिणाममें अपनाता है, यही संस
उत्तर है। इसमें उपेक्षा होना अनुभवगम्य ही है। आ
अनन्तगुण हैं, प्रत्येक गुणका परिणमन पृथक्-पृथक् है।

(१० । ६ । १

६ संसारमें बन्धनका मूल कारण स्नेह है, जिसने
निश्चय प्राप्त की उसने संसारका पार किया। प्रतिदिन हम क
थन करते हैं कि इसे त्यागना चाहिये, इसीका आलाप क
परन्तु यह आलापमात्र ही है।

(२८ । ९ ।

७ संसारमें प्राणीमात्रके स्निग्ध परिणाम होते हैं।
प्राणी हैं प्रायः परको निज मान अपनाते हैं। सबमें प्रथम
शरीरको निज मानना इस संसारीका मूल मन्तव्य है। जहाँ श
निज कल्पना हुई वहाँ शरीरकी अवस्थाओंमें किसीपर राग,
पर द्वेष या किसीपर उपेक्षा हो जाती है। जैसे जब असाता
नीयका उदय होता है तब बुभुक्षा उत्पन्न होती है, उसक
करनेका प्रयत्न करता है। जिससे वह दूर होती है उस प
स्वाभाविक प्रेम हो जाता है।

(९ । ११ ।

८ न जाने संसारमें स्नेह कितनी बड़ी बला है कि
अधीन होकर प्राणी परको प्रेमदृष्टिसे देखने लगता है।
देखता ही नहीं अपनाना भी चाहता है। यद्यपि यह अप
अभिप्राय मिथ्या है। कोई पदार्थ किसीका नहीं होता। जितने
जगत्‌में हैं सब अपनी सत्ताको लिये हुए भिन्न-भिन्न हैं। जैसे
और अजीव दो ही पदार्थ मूल हैं। उनमें चेतना लक्षणवाला
है। जिसमें चेतना न पायी जावे वह अजीव है। अजीव
पाँच हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

रूप-रस गंध स्पर्श पाये जाँय उसे पुद्गल द्रव्य कहते हैं। जो पुद्गल द्रव्य जिसका पुनर्विभाग न हो सके परमाणु हैं। वे अनन्तानन्त हैं। जितने परिमाणमें परिमाणु हैं उतने ही रहेंगे। उनमें न एक कम हो सकता है और न एक वृद्धिरूप हो सकता है। उनमें एक विभाव नामक शक्ति है जिससे वे शब्द-बन्ध-सौक्ष्म स्थूल आदि रूप परिणमनको प्राप्त हो जाते हैं। चलनेमें सहकारी धर्म, स्थिरतामें सहकारी अधर्म, अवकाशदाता आकाश और परिणमनमें सहकारी काल द्रव्य है। ये चारों द्रव्य सर्वदा शुद्ध ही परिणमन करते हैं। इनमें विभाव शक्ति नहीं। जीव द्रव्य अनन्ता नन्त हैं। इनमें भी विभाव परिणमन शक्ति है। मोहादि कर्मके विपाक कालमें रागादिरूप परिणमनको प्राप्त हो जाते हैं। किन्तु फिर भी जितने जीव हैं वे परस्पर भिन्न भिन्न ही रहते हैं। सबकी सत्ता भिन्न भिन्न है। जहाँ एक शरीरमें अनन्तानन्त निगोदिया जीव रहते हैं, एक श्वासमें अठारहबार मरते तथा जन्मते हैं, फिर भी उनकी सत्ता पृथक् पृथक् है। जीव तो परस्परमें भिन्न हैं किन्तु एक द्रव्यमें जितने गुण हैं उनका स्वरूप भी भिन्न भिन्न है। जैसे पुद्गल द्रव्य स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवाला है फिर भी स्पर्शादि गुण भिन्न भिन्न हैं। एक आत्मामें जो सम्यग्दर्शन गुण है वह भिन्न है, ज्ञान गुण भिन्न है। ज्ञान गुणको छोड़कर शेष सब गुण निर्विकल्प हैं।

(१२।११।५१)

मोह महाभट

१ संसारकी प्रक्रियाओंको देख मोही जीव नाना कल्पनाएँ करता है। होनेवाले कार्योंको कोई परमेश्वरकी इच्छा से, कोई

कर्मके उदयसे, तो कोई भवितव्यतासे होना मानता है परन्तु यह निर्विवाद सिद्ध है कि जबतक मोहका सद्भाव है तबतक आत्मा दुःखोंका पात्र है। जब तक मोहकी सत्ता है तबतक संसार है। जबतक संसार है तबतक आकुलता है। आकुलता ही दुःख है और प्रत्येक मनुष्य दुःखसे छूटना चाहता है। छूटनेका उपाय सम्यश्रद्धा है। सम्यश्रद्धाके बिना न तो सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्ति होती है और न सम्यक्चारित्र ही। और जबतक सम्यक्चारित्रकी उत्पत्ति नहीं होती तबतक मोक्ष नहीं।

(३०।१।४७)

२ वास्तवमें आत्माका कार्य तो जानना और देखना ही है। कषायके जितने कार्य हैं वे आत्माके स्वभाव नहीं फिर भी जीवोंको मोहके सद्भावमें सभी कार्य करने पड़ते हैं। कौन चाहता है कि मुझे भूख लगे, प्यास लगे, काम वेदना हो फिर भी यह सब वेदनाएँ होती हैं और उनका प्रतीकार इसे करना पड़ता है। अन्यकी कथा छोड़ो सबसे प्रकृष्ट पुण्यशाली पुरुष तीर्थङ्कर होते हैं उनको भी नोकषायके उदयमें चतुर्थ गुणस्थानमें उसका प्रतीकार करना पड़ा अन्यथा आदिनाथ भगवान्के १०० पुत्र और २ कन्याएँ कहाँसे आईं? तथा षष्ठ गुणस्थानमें असाताकी उदीरणामें आहारके लिये जाना पड़ा। अतः सिद्ध होता है इन आठ कर्मोंमें सबसे प्रबलतम मोह कर्म है जिसके द्वारा सात कर्मोंको रस मिलता है और वह स्वयं रहता है। जिन्हें आत्मकल्याण करना हो उन्हें सबसे पहिले इसकी सत्ताको मिटाना चाहिए। इसकी सत्ता ही चतुर्गति संसारका मूल है।

(२०।५।४७)

३ मोहका विलास अद्भुत है। अभी तक तुमने जाना ही

नहीं। जिस दिन जान जाओगे उसी दिन मोक्षमार्गकी सीढ़ी पर पहुँच जाओगे।

(१४।६।४७)

४ हम अपने मोहके अनुकूल पर पदार्थमें इष्ट या अनिष्ट कल्पना कर लेते हैं यही कल्पना अशान्तिका मूल है। अशान्ति का अर्थ है कि यह पदार्थ हमारे अनुकूल होता है तब हम उसके सद्भावका प्रयास करते हैं। उसमें चाहे हमारा सर्वस्व भी लग जाय।

(३०।८।४७)

५. लोग सरल हैं, प्रत्यकके जालमें आ जाते हैं। अनादिसे मोहके जालमें फँसे हैं। कोई निवारण करनेवाला नहीं। स्वयं ज्ञानानन्दसे वञ्चित रहते हैं, पर मानते नहीं। या तो स्वयम्बुद्ध मनुष्य हो, या परकी माने, तो उसका उपाय नहीं।

(३०।८।४७)

६ कोई न तो किसीको फँसाता है और न कोई फँसता है। मोही जीव कल्पना करता है कि 'मुझे फँसा लिया, मैं फँस गया' इत्यादि विकल्पोंसे दुःखका अनुभव करता रहता है।

(२४।४।४८)

७ परमार्थसे तो मोही जीव सदा ही दुखी रहता है। उसकी दृष्टि ही दूषित रहता है। उसे वास्तवमें आत्मबोध नहीं होता।

(१३।७।४८)

८ शारीरिक दुर्बलता उतनी घातक नहीं, आत्माकी निर्बलता महती घातक है। मोह परिणाम आत्माके वास्तव गुणके घातक हैं। यदि संसार दुःखसे अपनी रक्षा करना है तब उचित है कि मोहको त्यागें।

(२६।७।४८)

९ अनन्त पर्याय मुनि लिङ्ग धारण कर ग्रैवेयिक तक हुआ परन्तु सम्यग्दर्शनके बिना आज भी संसारी ही रहा। संसारका अन्त यदि इष्ट है तो मोहके परिणाम अपने रंग पर। मनुष्य चलता नाम मात्र नहीं मिलेगा।

(२८।१०।४८)

१० सभी पदार्थ अपनी अपनी सत्ताको लिये हुए परिणमन करते हैं। कोई पदार्थ किसीके साथ सम्बन्ध नहीं रखता। जितने पदार्थ हैं वे गुण पर्यायें हैं उन्हींके साथ उनका तादात्म्य सम्बन्ध है चाहे चेतन हो चाहे अचेतन हो। जिस पदार्थका जो गुण है वह उसके गुण पर्यायोंके साथ है यह निर्णीत है किन्तु अनादि कालसे आत्मा सम्बन्धसे आत्माके साथ बद्ध हो रहा है। मोह पुद्गलका द्रव्य परिणमन है किन्तु जब उसका विपाक काल आता है उस कालमें यह आत्मा रागादि रूप परिणमन करता है। आत्मामें चेतना गुण है, चेतन-स्व आत्मा है, ज्ञान जानना है। ज्ञान गुणका काम जानना है। जैसे दर्पणमें स्वच्छता है, उसमें अग्निका प्रतिबिम्ब पड़ता है किन्तु अग्निमें जो उष्णता और ज्वाला है वह दर्पणमें नहीं है। ऐसे ज्ञान गुण स्वच्छ है उसमें मोहके उदयमें रागादि होते हैं वह आत्माकी उपादान शक्तिसे ही हुए हैं, नैमित्तिक हैं। यह नहीं स्वभाव मान लेना है यही इसकी भूल है। यही भूल अनन्त संसारका नियामक है। फिर अनन्त संसारसे पार होना हो तो इस भूलको त्याग। संसारको किन मत बनाओ और न किसको संसार बनाओ। न तुम किसीके हो और न कोई तुम्हारा है परन्तु मोहसे आजतक तुम्हें कुछ सूझता नहीं।

(१४।११।५१)

११ सभीकी इच्छा होती है कि सांसारिक झंझटोंसे निवृत्त हो शान्तिमार्गका आश्रय करें परन्तु जबतक उसका साधक कारण

अपना ही मोह राग द्वेष परिणाम अंतरङ्ग सतर्क है इन्द्रा फलवता नहीं हो पाती।

(१९।११।४१)

१० अन्यकी कथा छोडो जो जीव सम्यग्ज्ञानी हो चुके हैं वे भी अभिप्रायसे तो कुछ करना नहीं चाहते परंतु फिर भी जो औदयिक कषाय विद्यमान है उसके अनुकूल कार्य करते ही हैं। यद्यपि उनके प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये चार गुण प्रगट हो चुके हैं, असंख्यात लोक प्रमाण कषाय और विषयासे मनको शिथिल कर चुके हैं फिर भी विषयोंमें प्रवृत्ति देखी जाती है। अन्य सामान्य मनुष्योंकी कथा छोडो जो तीर्थङ्कर हैं जिनके द्वारा अन्य जगतका कल्याण होना है वे भी इस चारित्रमोहके उदयमें सामान्य मनुष्यों के सदृश ही व्यवहार करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि चारित्र मोहके उदयमें महान् आत्मा भी दिगम्बर पद धारण करनेमें असमर्थ रहता है। जिनकी सामर्थ्य अनन्त है वे भी इसके उदयमें उदासीनताको छोड विशेष पुरुषार्थ करनेमें असमर्थ हैं। तब अन्यकी कथा ही क्या है? किन्तु यह भी पुरुषार्थ सम्यग्दर्शनके सद्भावमें होता है। सकल कार्य करते हुए भी कर्ता नहीं बनते।

(१२।३।५१)

११ ऐसा प्रबल मोह है कि अपनी उन्नतिके लिये समर्थ होते हुए भी यह जीव कुछ नहीं कर सकता। ज्ञानार्जन करना प्राणी मात्रके लिये आवश्यक है और अवकाश भी प्रत्येकके पास है किन्तु यह मोही उसमें प्रयत्न नहीं करता, इधर उधरकी कथाएँ करके निज समयको विना देना ही इसका कार्य है।

(१५।३।५१)

१२ यद्यपि वस्तुतः कोई पदार्थ किसीका परिणमाया नहीं

परिणमता यह निर्विवाद सिद्धान्त है। फिर भी अपनी मोह परिणतिसे व्यर्थ ही कर्ता बनते हैं। यह अभाव ही संसारका कारण है। यही मान्यता आत्माको अनन्त संसारका कारण होता है। सभी द्रव्योंका परिणमन स्वाधीन है, कोई द्रव्य किसीका परिणमाता नहीं केवल निमित्त है।

(२२।४।५१)

१५ न जाने यह जीव अपना परसे भेद जानकर भी निरन्तर परको क्यों अपनाता है? यद्यपि प्रत्येक प्राणीका यह विश्वास है कि परके द्वारा हमारा सुख दुःख कुछ भी नहीं होता फिर भी अनादि मोहका ऐसा विभ्रम है कि उन्हींकी संगतिमें आत्मीय कल्याण समझता है। सामान्य मनुष्योंकी कथा तो दूर रहे, बड़े-बड़े महापुरुष भी सम्यग्दृष्टि होकर [illegible] पदार्थोंके संसर्गको छोड़नेमें असमर्थ रहते हैं। श्री रामचन्द्रजी महाराज जैसे महापुरुष लक्ष्मणके मोहकी बलवत्तामें सीताजीके आया होने पर भी गृह नहीं त्याग सके। जब उनका मरण हो गया तब भी छह मास तक उनका मृत शरीर लेकर भ्रमण करते रहे। विभीषण आदिने बहुत कुछ समझाया परन्तु एककी न सुनी। क्या उनको यह ज्ञान नहीं था कि यह निर्जीव है, परन्तु मोहकी प्रबलताने इतना विह्वल करा दिया कि बालकों जैसी चेष्टा करते रहे। जब छह मास पूर्ण हो गए, उस मोहकी मन्दता हुई तभी विरक्त हुए अतः जहाँ तक बन सके ऐसा मोह किसीसे न करो जो जन्म-जन्म दुःखका कारण हो। आत्मा ज्ञान दर्शन वाला है उसे ज्ञाता दृष्टा ही रहने दो। मिथ्या भावसे आत्मामें उसे रागी द्वेषी मत बनाओ। अन्यथा पछताओगे।

(५।५।५१)

१६ संसारमें जो जीव हैं उनके स्निग्ध परिणाम होता है उस परिणामसे मोहादि कर्म होता है। कर्मसे कोई गति होता है,

गतिसे देह होता है और देहसे इन्द्रिय होती हैं। इन्द्रियोंसे विषय ग्रहण होता है और विषयसे रागद्वेष होते हैं। रागादि परिणामोंसे अन्यतम गतिमें जाता है। गतिकी प्राप्तिसे देह होता है, देहसे इन्द्रियाँ होती हैं, उनसे विषय ग्रहण होता है, विषयसे रागद्वेष भाव होते हैं? इस प्रकार संसार चक्रमें यह जीव अनादि अनन्त काल तक भ्रमण करता है।

किसीका अनादि होने पर भी स्वरूपोपलब्धिसे सान्त हो जाता है।

आत्मामें जो मोह परिणाम होता है वही संसार सन्तनी भित्ति है। उसीके सहकारसे रागद्वेष भाव होते हैं। यद्यपि इनकी सत्ता मोहसे भिन्न है परन्तु इस मोहके सहकारसे ही उनमें पुरुषार्थ रहता है। मोहका नशा इतना प्रबल है कि उसमें आत्माके स्वपर का भेद ज्ञान नहीं होता। पर पदार्थमें आत्मीय सत्ताकी कल्पना करता है। मोहका निर्वचन करना अति कठिन है। इसके उदयमें आत्मामें विपरीत अभिप्राय होता है और जब यह चला जाता है तब यह आत्मा स्वतः परको पर मानता है, उनको निज नहीं मानता। इसका वर्णन इस तरह है। जैसे किसीको कामला रोग था वह उस अवस्थामें दूधको पीला देखता था और यदि उसे दूध दिया जावे तब उसे पीला जान पीनेकी इच्छा नहीं करता। यह इच्छा उसे होती है। यही जन्मान्तरका अनुमापक है।

(११।५।५१)

१७ अनादिसे अनायास ही परका सम्बन्ध बन रहा है। किसने बनाया? इसकी मीमांसा तुम क्या कर सकते हो? जिसके त्रिकालवर्ती निखिल पदार्थोंकी पर्याय ज्ञानमें आ रही है वह कहता है—'अनादिसे यह सम्बन्ध है'। प्रमाण भी है कि यदि ऐसा न होता तो तुम्हीं बताओ तुम्हारे पिता कौन थे?

'असुर थे।'
'उनके कौन थे?'
'अन्य थे।'
फिर उनके कौन थे?'
'और अन्य थे।'

अन्ततो गत्वा स्वीकार करना ही पड़ता है कि—'अनादि सम्बन्ध है। हम इससे अधिक कुछ नहीं जानते।' यह हालत भा यही कहता अन इस विडम्बना होगा। यह सम्भव भी है। जिसका अपना कुछ निर्णय करना हो सिवाय नहीं करता। इसी तरह जिसे आत्मीय संसारका विध्वंस करना इष्ट है उसे उचित कर्तव्य यह पालन करना चाहिए कि मोहादि भावोंमें आसक्ति त्यागे। समय पाकर आपसे आप इनकी अनुत्पत्ति होने लगेगी।

(१५।५।५१)

१८ संसार क्या है? रागद्वेष और इनका मूल मोह यह मिलकर ही संसारके प्रवर्तक हैं। जहाँ पर पदार्थोंमें निजत्व बुद्धि हुई वहीं पर जहाँ मोह हुआ वहाँ उसमें प्रीति रूप परिणाम होने लगा। जहाँ प्रीति वहाँ अप्रीति होनेका अवसर अनायास आ ही जाता है। अन्यकी कथा छोड़ो यह शरीर कितना प्रिय और सुन्दर मालूम होता है। परन्तु जब रोगसे आक्रान्त हो जाता है तब अनायास ही इससे अरुचि होने लगती है। यहाँ तक लोग कहते हैं कि मर जावें तो अच्छा है। देखा भी जाता है जब असह्य वेदना होती है तब विष खाकर मनुष्य अपने प्राण गमा देता है। अतः संसारसे मुक्त होना अभीष्ट है तो मोहको त्यागो।

(१७।५।५१)

१९ संसारमें अनन्तानन्त जीव हैं और पुद्गल द्रव्य इनसे भी अनन्तगुणे हैं। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, तथा आकाशद्रव्य ये

तीनों द्रव्य एक एक ही हैं। काल लोकप्रमाण असंख्यात द्रव्य हैं। इन द्रव्योंमें चार द्रव्य स्वभावतः शुद्ध हैं, इनमें विभाव शक्ति नहीं। अतः एक भी विकृतभावको नहीं परिणमता। जीव और पुद्गल दो द्रव्य ही ऐसे हैं जो विकृतावस्थाको प्राप्त होते हैं। यही कारण है कि गृद्धपिच्छने जीवके दो भेद बताए—संसारी और मुक्त। पुद्गलके भी अणु स्कन्धके भेदसे दो भेद बताए। जीवका लक्षण कुन्दकुन्द भगवानने प्रवचनसार पञ्चास्तिकायमें लिखा है—

जाणदि पस्सदि सव्वं इच्छदि सुक्खं विभेदि दुक्खादो।
(प्र० १८०)

कुव्वदि हिदमहिदं वा भुञ्जदि जीवो फलं तेसिं।
(पञ्चास्तिकाय १२२)

अ० सबको जानता है देखता है, सुखकी अभिलाषा करता है, दुःखसे भय खाता है। शुभाचार और अशुभाचारको करता है और उनके फल भोगता है। इस स्वरूपमें अनायास ही जीवका बोध हो जाता है। हम लोग अनादि कालसे मोहके वशमें इतने उन्मत्त हो रहे हैं कि अनायास ही जिस तत्त्वका बोध भगवान कुन्द कुन्द महाराजने बताया है उसे नहीं जानते। बड़े-बड़े पण्डित और त्यागियोंके द्वारा उसे जाननेका प्रयास करते हैं। अब इतना गहरा यह ज्ञान भी क्या पड़ेंगे? कोई 'उपयोगो लक्षणम्' यह उसकी व्याख्या कर देते हैं कोई—

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई॥

जीव ज्ञानोपयोग-दर्शनोपयोगवाला है, अमूर्तीक है, कर्मोंका

ससारी, सिद्ध तथा स्वभावसे ही ऊर्ध्वगतिवाला है। द्रव्यसंग्रहकी यह गाथा पढ़कर सन्तोष करा देते हैं परन्तु परमार्थसे विचारा तो जो लक्षण कुन्दकुन्द महाराजने किया वही तो मनमें आता है।

(१८।५।५१)

२१ परमार्थसे तो सभी द्रव्य स्वतन्त्र हैं। किसीका तादात्म्य किसीमें नहीं है। पर मोहमें परको अपना मानकर उन्हें अपनाने की चेष्टा करना क्या न्याय है। परन्तु मोहमें यही न्याय है। जिसने मद्य पानकर लिया उसको पदार्थका अन्यथा ज्ञान हो यह देना कोई कठिन नहीं। अतः निज आत्मकल्याण करना हो तो इस पर पदार्थमें निजत्व माननेका जो अनादि प्रकृति है उसे त्यागो।

(२०।५।५१)

२२ कैवल्यपद प्राप्ति अतिदुर्लभ है यह बात मोही जीव कहते हैं। मोही जीव अनादिसे पर पदार्थोंको अपना मानते हैं और अपनको पराया मानते हैं। वह कैवल्य हो तो कैसे सकता है? यद्यपि सर्वदा आत्मा केवल ही है दूसरे द्रव्यका अंश भी उसमें आया नहीं और न आ सकता है परन्तु इसके ज्ञानमें परमें निजत्वकी बुद्धि है इसीसे निरन्तर खिन्न रहता है। खिन्नता कहींसे आती नहीं। हम स्वयं विवेकके अभावमें उनमें या चेष्टा करनेमें ही सुख मानते हैं। वास्तवमें सुख है नहीं। सुखकी परिभाषा है—'किसी प्रकारकी आकुलता जहाँ न हो उसीका नाम सुख है।' यदि सुखकी परिभाषा यही है तब तो प्रायः ससारी मनुष्य सभी सुखी हो जावेंगे। जब हम प्राणोंको रूप देखनेकी इच्छा होती है उस कालमें रूप देखनेके अर्थ यह व्याकुल रहता है। यही दुःख है। किन्तु जब रूप देख चुकता है उस कालमें तो सुखी नहीं। परन्तु उसे सुखी कौन कहता है? यह स्वयं अपनेको सुखी नहीं कहता। इसका कारण यह कि इसे उसी समय विषयान्तरकी

इन्द्रा उत्पन्न हो जाती है। अथवा वासनाम अनेक प्रकारके सरल्प रहत हैं जा प्राय प्रत्येक मनुष्यके अनुभवमें था रहे हैं। यही कारण है जो लोकम प्राय सभी दुःखी देख जाते हैं। सुखका अनुभव उसीको होगा जो सब चिन्ताओंसे रहित हो जाय। औरोंकी कथा छोड़ो जो घर छोड़ देते हैं व भी गृहस्थोंके सदृश व्यग्र रहते हैं। कोई तो केवल परोपकारके चक्रमें पड़कर स्वकीय ज्ञानका दुरुपयोग कर रहे हैं। कोई हम त्यागी हैं, हमारे द्वारा ससारका कल्याण होगा इसे अभिमानमें चूर रहकर काल पूर्ण करते हैं।

(२१। ११। ५१)

७३ कोई मोहको अच्छा मानो तो मानो परन्तु उन्हें सुख दायी नहीं। जिसके द्वारा पर पदार्थमें आकुलता हो वह काहेका हित? अनन्त इसी भ्रान्तिने हम बहुविध आकुलताओंका पात्र बनाया। यदि कोई भ्रान्तिसे रज्जुमें सर्पकी भ्रान्ति कर ले तब सिवाय भयादिके अन्य फल नहीं। भ्रान्तिका कारण रज्जुके ज्ञानका अभाव ही तो है। यदि रज्जुका ठीक ज्ञान हो जाय तो उसी समय भ्रान्तिका अभाव होनेसे मनुष्यके भय आदि अनायास चले जाते हैं। इसी तरह हम अनादिसे इस पञ्चभौतिक शरीरको ही आत्मा मान रहे हैं। अत शरीरको ही पुष्ट करनेकी चेष्टा करते रहते हैं, क्योंकि भिन्न आत्माका परिज्ञान नहीं हुआ। आत्मा ही ज्ञाता-द्रष्टा है। शरीरको आत्मा माननेवाला यह तो मानता ही है कि मैं हूँ, क्योंकि 'मैं हूँ' यदि यह ज्ञान न हो तब अपने शरीरसे भिन्न जो परका शरीर है उसे भी अपना मानने लगे सो मानता नहीं अत निज शरीरमें ही आत्मा मानता है। मेरी समझमें न तो आत्माका ज्ञान है और न शरीरका ही ज्ञान है। क्या है? कुछ ध्यानमें नहीं आता। अनध्यवसाय ज्ञानके सदृश

ही यह ज्ञात है। इसी अनध्यवसायके द्वारा आत्ममें पर्यायमें आत्मा मान दिन व्यतीत करता है।

(२०।६।५१)

७४ इस संसार अरण्यमें भ्रमते भ्रमते हमको कितने संकटोंका सामना करना पड़ा उनका हम वर्णन नहीं कर सकते अन्यका तो वर्णन ही क्या करेंगे? जिस जीवकी जो पर्याय होती है उस पर्यायका उसके साथ तादात्म्य होता है। उस पर्यायका वही जीव अनुभव करता है। अन्य जीव चाहे सर्वज्ञ हो उस पर्यायका जाननेवाला है अनुभव नहीं कर सकता। जब यह सिद्धान्त है तब भगवानको दयालु क्या कहना? यदि कहो कि भगवान दयालु हैं? भगवान तो वीतराग हैं उनके न तो दयालुता है, न अन्यथा होना है। वस्तु तो अनन्त हैं उनके ज्ञानसे भी हमारा दुःख शमित नहीं होता। यह भी निश्चय नाम जो आत्मा उससे स्पर्श हो गयी हो जाते हैं और फिर दुःखोंको दूर करनेका अध्यवसान करते हैं। इस प्रकार सारी नायोंका परिणमन है। हम यह कल्पना करते हैं कि अमुकने अमुकके ऊपर महती अनुकम्पा की परन्तु वस्तुतः कोई भी जीव किसी पर अनुकम्पा करनेवाला न तो आज तक हुआ, न है और न होगा। जितने व्यवहार हैं सभी नाचारी कल्पनाके विषय हैं।

(२२।६।५१)

७५ चित्तमें जो अनेक प्रकारकी कल्पनाएँ आती हैं उनका उत्पादक कौन है? इस पर विशेष विचारकी आवश्यकता है। चित्त कहो या मन कहो ज्ञानविशेष है। ज्ञानमें पदार्थ प्रतिभासमान होता है। किन्तु जो प्रतिभास्य होता है वह वस्तु अन्य है, यद्यपि प्रतिभास्य जो पदार्थ है वह निश्चय प्रतिभासित होता है यह नहीं हो जाता। जैसे दर्पणमें बिम्ब पड़ता है। जिस वस्तुका

प्रतिबिम्ब पड़ता है दर्पण वह वस्तु नहीं हो जाता। हाँ, वर्तमानमें जो परिणमन हो रहा है वह परिणमन दर्पण ही का है। परमार्थसे विचार किया जाय तब दर्पणमें पर वस्तुके निमित्तसे यह पर्याय हुई अत उस पर्यायको दर्पणकी स्वच्छताका विकार कहा जाता है। इसी प्रकार ज्ञानमें ज्ञेय आता है। क्या आता है? कुछ आता जाता नहीं। कुछ ऐसी प्रक्रिया बन रही है जो ज्ञानमें ज्ञेय जैसा आकार प्रतिभासित होता है। वह परिणमन ज्ञान ही का है। इसीसे विज्ञानाद्वैतवादीका कहना है कि "यत् प्रतिभासते तत्प्रतिभासान्त प्रविष्ट सत् प्रतिभासस्वरूपमेव प्रतिभासमानत्वात् प्रतिभासस्वरूपवत्।" यदि ज्ञेयरूप ज्ञान हो जाय तब ज्ञानमें जो स्वपर प्रकाशकत्व है ध्वस्त हो जावेगा। जैन सिद्धान्तमें आत्मा अनन्त गुणोंका पिण्ड है, हाँ, उसमें महत्ता इस बातकी है कि जो ज्ञानमें स्वपरप्रकाशकत्व है। अन्यमें नहीं। एकाकता अतीव भी महान् है। वास्तवमें न तो कोई महान् है और न कोई लघु है। मोह ही यह सब व्यवहार कराता है। मोह जानेके बाद ये सब व्यवहार विलीन हो जाते हैं।

(२० । ६ । ५१)

७६ दुःखका मूल कारण परके साथ समागम है। मोहके बिना परका समागम कदापि नहीं होता। यह अनुमापक है अतः परका समागम छोड़नेकी आवश्यकता नहीं। आवश्यकता इस बातकी है कि आत्मस्थित जो मोह है वही दुःखदायक वस्तु है। जिस महान् आत्माने उसपर विजय प्राप्त की वही इस संसारके क्लेशोंसे निवृत्त हो सकता है। अर्थात् जो क्लेशका मूल है उसपर विचार करो। यह क्या वस्तु है? कुछ नहीं। तुम्हारी ही मलिन परिणति का यह ठाठ दृष्टिपथ हो रहा है, जिस समय चाहो उसे दूर कर

सकता हो। जो कारीगर मकानका निर्माण करता है वह उसे ढह भी सकता है परन्तु ढहनेका भाव हो तभी। हमने आत्मीय अज्ञान परिणामोंसे यह जगत् बना रक्खा है। यदि हम अन्तरङ्गसे प्रयास करें तब आज ही इसी समय इस प्रबल वैरीको निःशेष कर सकते हैं। जो भाव हममें होता है तथा हमारी अज्ञानतासे हुआ उसे दूर करना कौनसा कठिन बात है? अज्ञानताकी निवृत्ति ही तो करना है। अज्ञानताका अपराध ही तो अज्ञानताके हटानेमें कारण है। भ्रमका ज्ञान हो जाना ही भ्रमके दूर होनेका कारण है। जैसे रज्जुमें किसीको सर्पज्ञान हो गया, वह भ्रम कैसे मिटे? भ्रम ज्ञानका यथार्थ ज्ञान हो जाना ही तो भ्रम मिटनेमें कारण है। जिस कालमें रज्जुमें सर्पज्ञान होता है उसीका नाम भ्रम विपर्यय ज्ञान है।

(११।८।५१)

२७ यद्यपि वस्तु स्वरूप तो यह कहता है कि एक पदार्थ अन्य रूप नहीं होता परन्तु मोहमें परिणमन अन्य रूपसे ही होता है। अर्थात् मोही जीव यही मानता है कि मैं परपदार्थके परिणमन का कर्ता हूँ, यह पदार्थ मेरे द्वारा परिणमन करते हैं। यदि मैं न होता तब ये क्या इस रूप हो जाते? हमारे ही प्रयाससे आप आप इस वैभवको प्राप्त हुए। यह सब महती अज्ञानता है। सिद्धान्त तो यह कहता है कि—

"सर्वं सदैव भवति नियतं स्वकीय
कर्मोदयान्मरण जीवित दुःख सौख्यम्।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परात्परस्य
कुर्यान्मरण-जीवित दुःख सौख्यम्॥"

अपने कर्मोदयसे जीना, मरना, सुख, दुःख सभी सदा ही

होते हैं। जो यह मानना है कि परसे परका सुख, दुःख, जीवन, मरण होता है यह मिथ्यादृष्टि है। प्राणीका जीवन अपने आयु कर्मके अधीन है। आयुकर्म अपने परिणामोंसे अर्जन किया जाता है, अन्य कोई अपनी आयु नहीं दे सकता। तब मैंने इसको जिलाया, मैं इसके द्वारा जीता हूँ यह सब मानना मिथ्या है। इसी प्राणीका जो मरण होता है अपने आयु कर्मके क्षीण हो जाने पर होता है। अन्य मनुष्य आदि अन्यकी आयुको क्षीण नहीं कर सकते। अपने भागमें आयुकर्मका क्षय होता है फिर यह मानना कि हमने इसे मारा, इसके द्वारा हम मारे गये, यह भी मिथ्या कल्पना है।

(१।८।५१)

७८ जीवोंमें परस्पर सौमनस्य नहीं, एक दूसरेसे प्रेम नहीं करते, यह सब मोहकी महिमा है। यद्यपि पर पदार्थसे मोह करना अच्छा नहीं और आगममें उपदेश भी निरन्तर मोह दूर करनेका दिया जाता है। वक्ता लोग भी 'मोह त्यागो' यही उपदेश निरन्तर देते हैं फिर आप इसको क्या अच्छा नहीं मानते? यह ठीक है जहाँ परस्परमें स्नेह नहीं होता, वहाँ पर जो स्नेहका त्याग है वह द्वेष नहीं है। त्यागमें उपेक्षाबुद्धि होना परमावश्यक है। आज कल जो त्याग है वह केवल यही अपने अनुकूल प्रवृत्ति नहीं हुई यहीं हम पदार्थसे उदासीन हो गये। इसका अर्थ यह नहीं कि उसमें विरक्त हो गये, उसमें द्वेष करने लगे। उपेक्षा ही वीतरागतारूप है, सम्यग्दृष्टिके जो उदासीनता होती है वह उसका अंश है अतः उसमें वीतरागभावका अंश है, मिथ्यादृष्टिका जो त्याग है सो द्वेष रूप है। जहाँ द्वेष है, वहाँ राग अवश्य है, अतः निजका कल्याणका मार्ग स्वीकार करना है व द्वेष त्यागें।

(१४।८।५१)

२६ आत्मामें जो अशान्ति होती है उसका मूल कारण मोह है। इसीसे ही यह सब हलचल होती है। यहाँ तक कहें यह संसारका सम्बन्ध उसीका विभवका फल है। यदि हमको किसी वस्तुकी आवश्यकता होती है तब उसके पानेका प्रयत्न प्राणपनसे करते हैं। यह वस्तु जब हमको प्राप्त हो जाती है हम इससे फूल जाते हैं मानों सर्वस्व मिल गया। यदि कोई इसमें बाधक हो गया तब उसे शत्रु मान लेते हैं। और साधक हो गया तब मित्र मान लेते हैं। इस तरह हम निरंतर मोहके चक्रमें रहकर भेद ज्ञानके पात्र नहीं बनते।

(२०।८।५१)

"अहो निरञ्जनः शान्तो बोधोऽहं प्रकृतेः परः ।
एतावन्तमहं कालं मोहेनैव विडम्बितः ॥"

३० यह आश्चर्यकी बात है कि मैं निरंजन हूँ, रागादि उपद्रवोंसे रहित शान्तस्वभावरूप हूँ, तथा ज्ञान स्वरूप हूँ परन्तु एतावत्काल पर्यन्त मैंने मोह द्वारा ठगा गया। अनादि कालसे जो पर्याय पाई उसीमें अपनत्वकी कल्पना करता। यद्यपि यह असमान जातीय पुद्गल और जीव द्रव्यका मनुष्य पर्याय है किन्तु मैंने अपने स्वरूपको न जान उस पर्यायको अपना माना कि यह पर्याय मेरी है, यह मैं हूँ, इत्यादि अहंकार ममकारके द्वारा ठगाया गया। नहीं चतायमात्र है चेतनाका विलास जहाँ ऐसा जो आत्मा उसके व्यवहारसे च्युत होकर समस्त क्रिया कुटुम्बको अपना मानकर मनुष्य व्यवहारको आश्रयकर कहीं रागी होता है, कहीं द्वेषी होता है। पर द्रव्य कर्मकी संगत करता हुआ पर समय होता है। अर्थात् जहाँपर द्रव्यको अपना मानता है वहीं परसमय हो जाता है। जो परसे भिन्न अपने आत्माको मानता है। यह जो पर्याय है

यह कजल मेरी नहीं, इसमें पुद्गल द्रव्यका समावेश है। मैं तो चैतन्यका पिण्ड ज्ञान दर्शनवाला आत्मा हूँ, ज्ञाता-द्रष्टा हूँ। यह जो परद्रव्यका सम्पर्क है वह अनादिकालसे जो मेरी आत्मामें कर्मका सम्बन्ध है उसके निमित्तसे है। अब इससे मोहको त्यागता हूँ, अपने आत्मामें ही अपनेको मानता हूँ।

(१०।९।५१)

३१ मोहके सद्भावमें नाना कल्पनाओंका जन्म होता है। जितने महानुभाव धुरन्धर लेखक हुए हैं सभीने प्रायः अपने विचारोंमें सबसे बलवान् शत्रु आत्माका मोह माना परन्तु ऐसा उपाय देखनेमें न आया कि इस शत्रुसे पिण्ड छूट जावे। हम भी निरन्तर यही कहते रहते हैं कि 'मोह वञ्चक है' यह तो कहनेकी बात है। दूसरोंपर प्रभाव डालते हैं परन्तु जब अपनी ओर दृष्टिपात करते हैं तब अणुमात्र भी उसके त्याग करनेमें अपनेको असमर्थ पाते हैं। मोहकी कथा तो दूर रही, पञ्चेन्द्रियोंके विषय जिनके त्यागमें अणुमात्र भी कष्ट नहीं, उनके भी छोड़नेमें असमर्थ हैं। यदि किसीने प्रकृति विरुद्ध कोई बात कह दी तो आगबबूला हो जाते हैं। यद्यपि किसीने क्रोधके आवेगमें अवाच्य उग्र शब्द कह दिये तो जिसने शब्द कहे उनका उत्पाद्य जो है वही तो उनके फलका भोक्ता होगा, उससे हमारा क्या सम्बन्ध? कर्ता और भोक्ता पृथक्-पृथक् नहीं होते—जो कर्ता सो भोक्ता परन्तु हम व्यर्थ ही कल्पनाकर दुःखके भाजन बन जाते हैं।

(१४।१०।५१)

३२ जहाँ कषायोंके द्वारा मन वचन कायके व्यापार हैं वहाँ ही बन्धन है। कषायके अभावमें मन वचन कायके व्यापार रहो, आत्माका कोई घात नहीं। जैसे पङ्कके अभावमें वायुके वेगसे भी पानीकी स्वच्छताका घात नहीं होता केवल प्रदेश कम्पनमात्र ही

होता है अतः आवश्यकता है कि हम आत्माको कलुषित करनेवाले मोह, राग, द्वेषका नाश करें। मन वचन-कायके व्यापार स्वयमेव शान्त होकर मिट जावेंगे। वृक्ष जब मूलसे उखाड़ दिया जाता है तब उसकी हरितावस्था अल्पकालमें ही बिना प्रयासके स्वयमेव चली जाती है। इसी तरह आत्मामें जब मोह राग द्वेषकी निवृत्ति हो जाती है तब अनायास ही शेष चार अघातिया कर्म नष्ट हो जाते हैं। भगवान्ने यही लिखा है—

"मोक्षो विषयवैरस्यं बन्धो वैषयिको रसः ।
एतावदेव विज्ञानं यथेच्छसि तथा कुरु ॥"

पञ्चेन्द्रियोंके विषयमें अनुराग मोहके सद्भावमें रहता है, क्योंकि यह उनको निज मानता है। जब आत्मामें मोह पलायमान हो जाता है तब यह पदार्थमें निजत्व बुद्धि छोड़ देता है। इसके बाद इतर आगमसे जो रस आता है वह उसको आपमें आप नष्ट कर देता है। जिसमें अपना ही आभास है उसमें रस कैसा? अर्थात् परमार्थसे जब पदार्थोंको पर जान लिया तब न तो उनसे राग होता है और न द्वेष। जबतक हम उनको उपकारी और अनुपकारी मानते हैं तभी तक उनके साथ राग और द्वेष करते हैं। जब यह निश्चय हो गया कि वे पर हैं, न तो हमारा कल्याण कर सकते हैं और न अकल्याण कर सकते हैं, परन्तु हमारी अनादि कालसे यह धारणा थी कि राग द्वेषका मूल कारण ये परपदार्थ हैं अतः हम उनकी सत्ता असमना करनेमें व्यग्र रहते थे। यद्यपि यह असम्भव है कि हम किसीकी रक्षा कर सकें। संसारमें जितने पदार्थ हैं वे उतने ही रहेंगे तथा उनके परिणाम भी निरन्तर धारावाह रूपसे होंगे। हम न तो किसीके अस्तित्वको रख सकते हैं और न मिटा सकते हैं, परन्तु मोहके वशीभूत अन्यथा श्रद्धानकर

इस अनन्त संसारकी विविध यातनाओंके पात्र बन रहे हैं। जिन्हें इन यातनाओंसे मुक्त होना है उनको उचित है कि इस मिथ्या धारणाको हृदयसे निष्कासन कर दें। जो पदार्थ हैं वे स्वतः सिद्ध हैं, तथा उनका परिणमन भी स्वतः सिद्ध है। कोई शक्ति ऐसी नहीं जो हम अनन्त पदार्थोंकी प्रवाह परम्पराको अन्यरूप कर सकें। जाव सवदा जीव ही रहेगा।

(१८ । १० । ५१)

४३ हम सर्वदा पराश्रित रहकर आत्मीय उत्कर्ष और अपकर्षकी कल्पना करते हैं। उत्कर्ष और अपकर्ष यह दोनों विकल्प भाव हैं। तथा इनका मानना भी मोहमें होता है। मोही जीव पर्याय बुद्धिवाले होते हैं जो बात इनको रुचिकर हुई और उसका लोग प्रचार करने लगे तो हर्षसे फूल गये और जो बात रुचिकर न हुई और लोग उसका प्रचार करने लगे तो दुखी हो गये।

(१ । ११ । ५१)

४४ जितने ज्ञेय हैं सबका परिणमन स्वाधीन है। हम मोहके आधीन होकर परको अपने रूप परिणमन कराना चाहते हैं, पर यह असम्भव है।

(१० । ११ । ५१)

४५ अनादि कालसे हमने मोहके वशीभूत होकर आत्माको ही न अपनाया, आत्मतत्त्वकी श्रद्धा नहीं की। इसीका यह फल हुआ कि निरन्तर पर पदार्थोंके अपनानेमें ही समय गमाया। यद्यपि ये पदार्थ आत्माके स्वरूपसे भिन्न हैं। यह मोही जीव उन्हें निज मानकर अपनानेकी चेष्टा करता है। आत्माका स्वभाव देखना जानना है। साम्यभाव बदलकर क्रोधादि कषाय हो जाते हैं, उनसे यह कलुषित हो जाता है। इसी कलुषतासे यह आत्मा निरन्तर व्यग्र रहता है। ज्ञानका कार्य इतना है कि उसके द्वारा

पदार्थका ज्ञान होता है, पर वह पदार्थरूप नहीं होता। जैसे दर्पणमें जो स्वच्छता है उसमें यह सामर्थ्य है कि वह अपने स्वरूपको दिखाता है तथा अन्य पदार्थके आकारको भी अपनेमें झलका देता है। किन्तु अन्यरूप नहीं होता। जैसे अग्नि दर्पणमें दृश्यमान होता है किन्तु उसमें ज्वाला और उष्णता नहीं। इसी तरह ज्ञानमें क्रोधादि कषाय झलकते हैं परन्तु ज्ञान क्रोधरूप नहीं होता। जब यह वस्तु मर्यादा है फिर आत्मा दुखी क्यों होता है? इसका मूल कारण यह है कि यह जीव जब अपनेको क्रोधरूप मान लेता है तब क्रोधके कार्य सिद्ध न होनेसे दुखी होता है।

(७।१२।५१)

पिशाच परिग्रह

१ समारम्भ परिग्रह पापकी खानि है। इससे परिग्रही तो दुखी होता ही है परन्तु मेरी तो यह धारणा है कि जो परिग्रहकी चर्चा करता है वह भी व्यग्रताका अनुभव करनेका पात्र हो जाता है।

(२१।७।५७)

२ किसीसे याचना करना महान पाप है। जब अन्तरङ्गकी कामना घट गई तब यह उचित है कि पराये अर्थ जिससे क्लेश हो ऐसी प्रवृत्ति न करो। परिग्रह मनुष्योंको प्राणसे भी प्रिय है। उसे छीननेकी चेष्टा करना कहाँ तक उचित है। बहुत मनुष्योंसे ऐसा सुननेमें आया कि हम किसीसे याचना नहीं करते। दूसरोंके लिये माँगनेमें क्या हानि है? यह भी एक छल है। जो ऐसा करते हैं उनकी भावना परोपकारका बहाना लेकर अपनी कषाय पुष्टकर ख्याति लाभकी ही रहती है।

(८।९।४७)

३ परिग्रह पिशाचसे पीडित मनुष्य विवेक शून्य हो जाते हैं। आज जो मारकाट हो रही है उसका मूल कारण यह परिग्रह ही है।

(१६।९।४७)

४ रुपया वह वस्तु है जो संसारमें मोही जीवोंके पतनका कारण हो जाता है।

(२१।१०।५१)

५ जहाँ परिग्रह पिशाचका आवेश रहता है वहाँ चित्त परका विवेक नहीं रहता। यदि इसके पिण्डसे छूट जावें तब सुमार्ग पर ही आजावें। सामान्य मनुष्योंकी बात छोड़िये श्री रामचन्द्रजी महाराज लक्ष्मणके स्नेहमें छह माह पागल रहे। सीताजीका जबतक रामसे स्नेह था दुखी रहीं, स्नेह त्यागते ही आत्मा हो गई। अतः निजलोंका त्याग ही श्रेयस्कर है।

(१८,१९,।२।४८)

६ परिग्रह पिशाचके वश उत्तमसे उत्तम मनुष्य अधम भावको प्राप्त हो जाते हैं। रावण सदृश प्रतिनारायण कुत्सित भावके वश दुर्गतिका पात्र हुआ तथा वर्तमानमें अनेकोंकी यही गति है।

(१३।९।४८)

७ संसारमें पापका मूल परिग्रह है। इसका जिसने सम्बन्ध किया उसीका संसारमें पतन होगा। जिन्हें परिग्रहसे बचना हो वे इसे त्यागें। यही मार्ग प्रशस्त और उपयोगी है।

(१०।१०।४८)

८ संसारमें परिग्रह ही महापाप है। इसके त्यागका उपदेश देना ही धर्म है। जिन्होंने इसपर विजय प्राप्त की वही सत्य धर्मात्मा है।

(१३।११।४८)

९ संसारमें जहाँ परिग्रह होता है वहाँ पारस्परिक सौमनस्यकी प्रक्रिया समाप्त हो जाती है। अतः मनुष्योंने विचार किया कि जब परिग्रह अनर्थका मूल है तब इसे ऐसे कार्योंमें लगाओ जहाँ इसके द्वारा अशान्ति न हो। परन्तु यह तो विष परिणामका है जहाँ गया अपना कार्य करेगा। और की कथा छोड़ो, मन्दिरमें गया तो वहाँ पर भी इसने अपना रङ्ग जमाया। मन्दिरमें निधि रखनेवालेके हृदयमें ऐसा अभिमान उत्पन्न किया कि 'मैं मन्दिरका स्वामी हूँ।' फलतः झगड़ा हो गया।

(२०।१।५१)

१० द्रव्य अनर्थकारी है परन्तु मन्दिरका द्रव्य तो सबसे अधिक अनर्थकारी है। जो मनुष्य मन्दिरके द्रव्यका स्वामी बन जाता है वह शेषको तुच्छ समझने लगता है और जो मन्दिरका द्रव्य उसके हाथमें रहता है उसको अपना समझने लगता है। परिणाम यह होता है कि समय पाकर दरिद्र बन जाता है और अन्तमें जनताकी दृष्टिमें उसकी प्रतिष्ठा नहीं रहती। अतः मनुष्यमात्रकी रक्षा करनेवालेको उचित है कि मन्दिरका द्रव्य कभी भी अपने निजी उपयोगमें न लावे। द्रव्य वह वस्तु है जिसके वशीभूत होकर मनुष्य न्यायमार्गसे च्युत होनेकी चेष्टा करने लगता है।

(१०।३।५२)

११ संसारकी दशा इतनी विचित्र है कि इसके मिटानेका प्रयास करना ही व्यर्थ है। यह कर्मभूमि है। यहाँ पर मनुष्योंमें एकता होना असम्भव है। हाँ, यह अवश्य है कि यदि इनमेंसे कोई परिग्रह त्याग दे तब परस्परमें अपेक्षा न होनेसे किसीका किसीके साथ वैमनस्य नहीं हो सकता। वैमनस्यका कारण परिग्रह

हा है। कहाँ तक कि इसके कारण पति पत्नी, पिता पुत्र, भाई बहिन में भी वैमनस्य हो जाता है।

(२२।३।५१)

१२ भगवानने मूर्च्छाको परिग्रह कहा है। हम निरन्तर जनताको कहते रहते हैं—'परिग्रह त्यागो' और परिग्रहका अर्थ मूर्च्छा है। इस प्राणीके प्रबल मूर्च्छा तो परम निजत्व कल्पना है। जो पदार्थ आपसे भिन्न हैं उसे निज मानना मनमें ममता मूर्च्छा है। इस मूर्च्छाने बहुमतकी सृष्टि की है। आज संसारमें जितने मत हैं सभी मूर्च्छाके प्रभावसे जन्मे हैं। जैसे ईसाई कहते हैं कि निज संसार यातनाओंसे मुक्त होना है वे ईसा पर विश्वास करें। मुसलमानोंका कहना है कि धर्म खुदाके द्वारा जगतमें आया है। अतः खुदा पर विश्वास करो और यह भी कहते हैं कि खुदाकी शक्तिसे सब संचालन हो रहा है।

(१८।६। १)

१३ संसारमें द्रव्यके अर्थ जो-जो अनर्थ न हो थोड़े हैं। इसके वशीभूत होकर मनुष्य आत्मस्वरूपको भूल जाता है। आत्मस्वरूपकी कथा छोड़ो, आज कितने मनुष्य रणक्षेत्रमें जाते हैं और जानकी चेष्टा करते हैं केवल एक अर्थार्जनके लिये ही तो यह प्रयास है। इस अर्थके लिये मनुष्य अदालतमें साक्षी दे आता है। इस अर्थके लिये भाई-भाईको विष देकर मारनेका प्रयत्न करता है। इस अर्थके लिये गरीबकी रोटी तक छीन लेता है। इस अर्थके लिये आज हजारों स्थलों पर पण्डा लोग जलकी पूजा कराकर तृप्त नहीं होते। इस अर्थके लिये गया (बिहार) में १० पीढ़ी पहिलेकी और १० पश्चात्‌की सुगति भेज दी जाती है। इस अर्थके लिये हजारों स्थान तीर्थ रूपमें परिणत हो गये

उन स्थानों पर धन देनेसे सीधा स्वर्ग मिलेगा ऐसा प्रलोभन दिया जाता है।

(१० । ११ । ५१)

१४ जो मूर्च्छाका स्वरूप जानते हैं, फिर भी उसे दूर नहीं कर सकते तब जिनको इसका स्वरूप परिज्ञान ही नहीं वे दूर न कर सकें तब इसमें आश्चर्य ही क्या ? आशय तो इस बातका है कि जितने विद्वान हैं वे स्वयं इसके द्वारा पराभूत हैं अतः अन्यसे त्याग करानेकी उनकी चेष्टा निष्फल है। यदि कोई ज्ञान लेकर पालनेका उपदेश देवे तो वहाँ तक उचित है ? यदि कोई पराया कल्याण करना चाहे तब सबसे पहिले उसे उचित है कि वह स्वयं कल्याणके मार्गमें लगे।

(२८ । ११ । ५१)

१५ जो सुख आकिञ्चन होने पर होता है वह [illegible] परिग्रहके सद्भावमें भी नहीं होता।

(१२ । १२ । ५१)

परसमागम

१ समागम उत्तम होता है परन्तु धर्मके अनुकूल हो तभी, अन्यथा संसार गर्तमें पड़नेका कारण हो जाता है।

(२ । ११ । ४७)

२ संसार अशान्तिका सागर है। इसमें न शान्ति मिली और न मिलनेकी है। अनन्तकालसे हम संसारके चक्रमें आ रहे हैं और अनन्तकाल आगे भी रहेंगे, क्योंकि आत्मतत्त्व अनवधानसे पराङ्मुख हैं। परको आत्मीय मानकर निरन्तर

में अपनी चेष्टा लगा देते हैं। उसका जो फल होता है सो प्रत्यक्ष है।

(२२।१२।४७)

३ पर सम्पर्कसे ही रागादि दोषकी उत्पत्ति होती है और रागादि दोष ही संसारके कारण होते हैं।

(१०।१।४८)

४ अनेक मनुष्योंके सम्पर्कसे स्वात्मतत्त्वकी उपलब्धि दूर होती जाती है, क्योंकि सम्पर्क ही स्नेहका कारण है और यदि सम्पर्कमें मनोमालिन्य हुआ तब द्वेषका होना अनिवार्य है। कहाँ तक इस विषयमें विवेचना की जावे, दुःख राशिका कारण यह समागम ही है।

(२९।१।४८)

५ परके साथ संसर्गसे ही वचनोंकी प्रवृत्ति होती है और वचनोंसे नाना प्रकारके विकल्प आत्मामें होते हैं और आत्मा उनसे अनेक सङ्कटोंमें पड़ता है अतः जिनकी परिणति स्वच्छ हो वे इन संसर्गोंका परित्याग करें।

(१६।२।४८)

६ जिन जीवोंको आत्मकल्याणमें पतित होना हो उन्हें गृहस्थोंका सम्पर्क करना चाहिये। जब अनात्मीय पदार्थोंमें आत्मबुद्धि दूर हो जाती है तभी तो यह कल्याणमार्गका पथिक होता है और उन्हींका सम्पर्क करने लगा तब कालान्तरमें उस स्थानसे च्युत होकर उन आत्मीय पदार्थोंमें निजत्वकी कल्पना करने लगता है।

(१६।२।४८)

७ परके संसर्गसे ही मनुष्योंके चित्तमें नाना प्रकारके विभ्रम होते हैं। विभ्रम ही संसारका मूल कारण है। विद्वानोंने पर पदार्थसे

संसर्ग नहीं छोड़ा वे ही संसारके पात्र होते हैं। संसार कुछ नहीं, आत्माकी परिणति विशेष ही है।

(१०।९।४८)

८ संसारमें समागम करना ही पतनका कारण है। जिस विषयमें अनुकूल प्रवृत्ति करे ? स्वाधीन रहना ही धर्म साधनमें मुख्य हेतु है।

(११।९।४८)

९ मोह पर सम्पर्क छोड़ो, भगवान आत्माकी उपासना करो परन्तु अनुराग मत लाओ। सम्पर्कसे सङ्कल्पोंकी उत्पत्ति होती है और फिर मनके अनेकविध विकल्प होते हैं। जिनसे अनेक प्रकारकी आकुलता होती है। आकुलतामें निरन्तर दुःखी रहता है क्योंकि जहाँ पर आकुलता है वहीं दुःख है।

(१२।९।४८)

१० समुदाय ही मनुष्यको फँसानेका यन्त्र है। इसके चक्रमें जो आता है वह संसार परिभ्रमण करनेका पात्र होता है।

(२१।९।४८)

११ परके समागममें हानि ही होती है। प्रथम तो परके समागममें अपना समय नष्ट होता है। दूसरे जिसका समागम करते हो उसके अनुकूल प्रवृत्ति करनी पड़ती है। अनुकूल प्रवृत्ति न करने पर उसके रुष्ट होनेकी सम्भावना हो जाती है। अतः परका समागम हेय है।

जिस समय आत्मा अपनेको जानता है उस समय निज स्वरूप ज्ञान दर्शन ही है। दर्शन ज्ञानका काम देखना जानना है इससे अतिरिक्त मानना अपनेको ठगना है। आत्मा तो द्रष्टा ज्ञाता है। उसे रागी, द्वेषी, मोही बनानेवाले भाव सर्वथा आत्मासे स्वयमेव नहीं होता। यदि परकी निमित्तता इसमें न मानी जावे तब आत्मा

हा ना ग्पादान हुआ और आत्मा ही निमित्त हुआ तब सतत यह होते रहग, कभा भा आत्मा इनस अलिप्त न हागा। अत किसी भी आत्माका मान न होगा। इसलिये यह मानना चाहिये कि आत्मामे यह जो रागादि भाव हैं वह विकारी भाव है। जो विकारी भाव होता है यह निमित्तके दूर होनेपर स्वयमेव पृथक हो जाता है। जैसे अग्निके सम्बन्धसे पानी जलमे उष्णता आ जाती है यह उष्णता औपाधिक है। अग्निके अभावमे यह उष्णता या तो काल पाकर स्वयमेव विलाय जाती है क्योंकि जल स्वाय स्वभावत उष्ण नहीं, आत्मा भी स्वभावसे रागादि रूप नहीं, यह काल पाकर जाते हा ह। स्व इस जानता है कि जब यह उदय देकर जाते हैं हम उनमे इतना भ्रम करते है कि उन्हें आत्मीय मानकर रखना चाहते हैं। उनका कहना है कि हम तो अब रह नहीं सकते, हाँ हम ऐसी प्रक्रिया बन जायेंगे कि कालान्तरमें निरन्तर आवेंगे। परन्तु जिस दिन तुम हमसे स्नेह छोड दोगे और हम आत्मीय न समझोगे तो फिर हम तुम्हारे पास भूलसे भी न फटकेंगे। तुम्हारी कथा दूर रहे, जो मनुष्य तुम्हारे वचनोंपर विश्वास करेगा उसके पास भी न आवेंगे। अत रागादि होनेका खेद मत करो, उनके होनेम राग मत करो, उसे अच्छा न समझो, विकार परिणति जान उसके होनेके अभावका प्रयास मत करो। एक ही अमोघ उपाय उसके दूर होनेका है कि जो पदार्थ रागमे विषय आया है उसको आन दो, उसकी अपनानेकी चेष्टा मत करो। अपनाना ही दुख भविष्यके लिये आह्वानन देना है। जिन महाशयोंको कल्याणकी अभिलाषा है उन्हें उचित है कि सब प्रथम अपनेको जाननेका प्रयत्न करें अनन्तर जो पर हैं उनका समग छोड तथा जिन्होंने आत्मतत्त्वकी यथार्थ अवस्था प्राप्त कर ली उनका स्मरण करें।

शरीर यद्यपि पर है और हम तथा अन्य वक्ता भी यही निरूपण

करते हैं। श्रद्धा भी यही है कि 'पर पर है' परन्तु जब कोई आपत्ति आती है तब ऊपरसे तो वही बात पर तु अन्तरङ्गमे वेदन कुछ और है। श्रद्धा मानमात्रसे कल्याण नहीं, सो इस चरित्र गुणका भी विकाश होना चाहिये। हम अन्तरङ्गमे चाहते हैं, हम ही क्या प्राय अधिकतर प्राणी रागादि कषायोंको नहीं चाहते क्योंकि ये साक्षात् आकुलता उत्पादक हैं। आकुलता ही दुःख है, कौनसा मानव है जो दुःखके कारणको इष्ट मानेगा? किन्तु लाचार हैं, जब रागादिक होते हैं और तज्जन्य पीडा सहन नहीं कर सकता तब उसके मेटनेका उपाय करता है। वह चाहे किसीके प्रतिकूल हो चाहे अनुकूल हो। जैसे जब पिता पुत्रको खिलाता है और उसके अधरोंका, कपोलोंका चुम्बन करता है। यद्यपि यह चुम्बन पुत्रका अनिष्ट हो फिर भी पिता आत्मीय रागादिजन्य पीडाको मेटनेके लिये चेष्टा करता ही रहता है। यही प्रक्रिया सब कषायोंका दूर करनेम देखी जाती है। जब क्रोध कषायका उदय होता है तब परपदार्थमें अनिष्ट मान उसके नाश होनेका प्रयत्न करता है व उन्हें कष्ट देनेकी चेष्टा करता है, उनका अनिष्ट स्वयमेव हो जाय तब आप प्रसन्न होता है। अथवा जो उसे इष्ट पदार्थ मिले तब आप उन इष्ट पदार्थोंसे रागभाव कर शत्रुओंकी वृद्धि करता है। इससे शायद आकुलता की अपेक्षा उससे शतगुणी हो गई अतः जो मनुष्य अपना कल्याण चाहे उन्हें उचित है कि इन परपदार्थोंसे त्यागें।

(२५, १६, २७, २८ । १० । ५१)

१२. कोई भी वस्तु अपनी नहीं तब उसे अपनाना कहाँ तक सुखकर होगा? जिनको कुछ उपशमभावका उदय हो उन्हें तो सर्वथा ही पर पदार्थोंसे मात्र सम्पर्क छोड देना चाहिये। यद्यपि सम्पर्क छूटा ही है, केवल कल्पनामात्र यह मानना है कि 'ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ' अथवा 'मैं यह हूँ, यह मैं हूँ, ये पहले हमारे थे, हम

पहले इनके थे, यह फिर हमारे होंगे, हम इनके फिर होंगे,' यह मिथ्या विकल्प यह जीव निरंतर करता रहता है। जबतक अज्ञान है यह विकल्प होता है, अज्ञानके अभावमें यह विकल्प स्वतः चला जावेगा। अज्ञानमें जिनकी मति मोहित होगई है वह बद्ध अबद्ध पदार्थोंको अपना मानता है, चाहे वह चेतन हो, चाहे अचेतन हो, जिन्होंने निखिल पदार्थोंको जान लिया है उन्होंने यह बताया है कि जीवका लक्षण उपयोग है, यह पुद्गल द्रव्य नहीं हो सकता।

(८।११।५१)

संकल्प विकल्प

१ सर्वत्र ही विकल्प रहते हैं। विकल्पोंकी निवृत्ति तो तब हो जब अन्तरङ्गमें पर पदार्थोंमें मूर्च्छा छूटे। कहने और करनेमें बड़ा अन्तर है। अन्तरङ्गसे मूर्च्छा त्यागना बड़ा कठिन है। मूर्च्छा त्याग ही तो व्रत है। व्रत वस्तु भीतरकी है। यो तो सबका व्रत है परन्तु परमार्थसे विरला ही व्रती होगा।

(११।३।५०)

२ चिंता क्यों होती है इसका मूल कारण अन्तरङ्गकी जिज्ञासा है। जहाँ जिज्ञासा है वहाँ सद्विषयक जिज्ञासा होगा। उसकी सिद्धिका उपाय करना पड़ता है। उसमें अथ अनेक प्रकारके विकल्प होते हैं और उस विषयकी सिद्धि होनेसे यह प्राणी अनेक दुःखोंका पात्र होता है।

(९।७।५०)

३ मनमें नाना विकल्प होते हैं। उनकी शान्तिका उपाय

केवल कषायोंका उपशमन करना है। कषायोंके दूर करनेका उपाय पर पदार्थोंमें मूर्च्छाका त्याग ही है। अतः मूर्च्छाका त्याग ही मुख्य कार्य है।

(२६।८।४७)

४ संसारमें जो हमारी यह बुद्धि है कि अमुक कार्य हमने किया, अमुक व्यक्तिने हमारे प्रभावमें आकर अमुक कार्य किया यह सब मोहजन्य कल्पना है। कोई भी किसीके द्वारा कुछ नहीं करता। अपने अभिप्रायसे ही करता है। निमित्त अन्य हो जाय यह बात दूसरी है, इससे 'हमने यह किया' नहीं हो सकता। मेरी तो यह श्रद्धा हो गई है कि कोई जीव किसीका कुछ नहीं करता।

(१०।११।४७)

५ चित्तमें जो विकल्प आते हैं वह क्यों आते हैं? इनमें जो अन्तरङ्ग शक्ति है वह तो हमारे ज्ञानमें आती नहीं, केवल बाह्य निमित्तोंकी हम कल्पना करते हैं और उन्हींके छोड़नेका प्रयत्न करते हैं। परन्तु इनके छोड़नेसे कुछ साध्य नहीं। साध्यकी सिद्धि तो यथार्थ हेतुसे होती है, गल्पवादसे कुछ नहीं।

(२९।२।४८)

६ वास्तवमें विकल्पोंको आश्रय देनेवाला आत्मा ही तो है। यह भी सर्वथा नहीं। यद्यपि उपादानकी अपेक्षा तो यही है फिर भी कार्यकी उत्पत्तिमें सहकारी कारणोंकी भी आवश्यकता रहती है। फिर भी अपने ही में अपना आप देखना चाहिये।

(२२।४।४८)

७ मनमें जो विकल्प आते हैं, उनका मूल कारण कषाय है। वही उन विकल्पोंका जनक है। वे विकल्प जो कार्य करते हैं वह दुःख रूप है अर्थात् उन विकल्पोंकी उत्पत्ति होनेसे चैन नहीं

अतः जिन मनुष्योंको कल्याण करना इष्ट है उन्हें विकल्पोंके मूल कारण पर पदार्थोंमें निरन्तर कल्पनाओंको दूर करना चाहिये।

(३।९।५१)

८ प्रतिदिन मनुष्योंके प्रति मानव जातिके अनेक विचार होते हैं। मनुष्य अपनेको बहुत चतुर समझता है और निरन्तर ऊहापोह करता रहता है कि कब इस संसार बन्धनसे छूटें। संसारमें प्रत्येक जीवको नाना प्रकारकी आपत्तियाँ व्याप्त हुए हैं। मनुष्य तीन मत जानोंमें श्रेष्ठ है। यदि यह चाहे तो आत्मीय चित्तवृत्तिको सभालकर अपना कल्याण कर सकता है परन्तु यह तो जगत्मात्रकी चिन्तामें अपनेको फँसा लेता है और फल उसका अत्यन्त कटुक होता है। अर्थात् न तो उसका उपकार कर सकता है और न अपना ही कल्याण कर सकता है। कोई भी शक्ति संसारमें ऐसी नहीं जो निर्मोहीका दुःख दूर कर सके। प्रायः संसारमें अधिकतर मनुष्य परमेश्वरकी उपासना करते हैं कि हमारे दुःखोंको दूर कर हमको सुमार्ग पर लाओ परन्तु फिर भी संसारमें अनेक प्राणी दुःखी ही देखे जाते हैं। सुख दुःख यह दोनों प्राणियोंके विकल्प हैं। जैसे जो बात अपनेको रुचिकर न हुई तथा जिस पदार्थका संयोग इष्ट न हुआ वहाँ यह आत्मा दुःखानुभव करने लग जाता है। और जो वस्तु आपको इष्ट हुई अथवा जो पदार्थ इष्ट हुआ उसका समागम होने पर सुखका वेदन करने लग जाता है।

(१२।११।५१)

इच्छा

१ कार्य करनेमें इच्छा मुख्य कारण होती है। इच्छा ही प्रेरणा कराके प्रवृत्ति कराती है। अतः सबसे उत्तम मार्ग तो यही

है कि ऐसा अभ्यास करो जो किसी भी विषयकी इच्छा न होवे। इच्छा ही जगतका मूल कारण है। इच्छाके अभावमें कोई भी कार्य नहीं होता।

(१६ । ४ । ५१)

२. संसारमें प्रत्येक प्राणी उत्कर्षको चाहता है। आत्माकी प्रकृति न तो उत्कर्षरूप है न अपकर्षरूप है। ऊँच नीच व्यवहार कल्पित है। आत्मा द्रव्य तो ज्ञान दर्शन गुणवाला है। स्वाभाविक रूपसे विचार किया जाय तब आत्मा न तो किसीको देखना चाहता है और न जानना चाहता है। देखने जाननेकी अभिलाषा संसारी जानके होती है। देखने जाननेकी इच्छा मोह उत्पन्न नियामक नहीं। देखने जाननेकी इच्छा प्रत्युत दुःखका कारण है। जब तक हम जिस देखनेकी इच्छा है वह पदार्थ न देख पावें हम दुःखी रहते हैं। देखनेके बाद सुखी हो जाते हैं। विचारो, देखनेसे क्या मिल गया? कुछ भी नहीं मिला, केवल देखनेकी जो इच्छा मिट गई जो दुःखकी जननी थी। अतः मेरी समझमें यह आता है कि सर्व विषयोंकी इच्छाओंको त्याग देना चाहिये। जिससे दुःखका बीज ही मिट जावे। मुझे तो यह विश्वास है जो महाज्ञानी होते हैं उनका कहना है कि मोक्षकी भी इच्छाको त्याग दो। इन इच्छाओंका त्याग ही सब दुःखोंको दूर करनेका उपाय है। आज हम ज्ञानार्जन करते हैं, जगतको समझावेंगे, यह भी उपद्रवका जड़ है। ज्ञान सम्पादनकर दिन रातकी इच्छा भी दुःखकी जड़ है।

(१४ । ६ । ५१)

३. शास्त्रकारोंने तपका लक्षण—'इच्छा निरोध' किया है। इच्छा दो प्रकारकी है, शुभोपयोगजनिका, अशुभोपयोगजनिका। शुभोपयोगजनिका जो इच्छा है उससे पञ्च परमेष्ठीके गुणोंमें अनुराग होता है। अथ च परोपकार, अनुकम्पा, दानादि विषयक भाव

होते हैं। इनमें भी वो तड़पके जीव होते हैं। एक तो ये जान हैं कि जिनका मूल अभिप्राय तो पर पदार्थोंमें अणुमात्र भी अनुरागका नहीं परन्तु पूर्वका तरका संस्कार इतना प्रबल है कि उनके मरण कालमें निज स्वरूपको जानते हुए भी इन पर पदार्थोंके सहवासको छोड़नेमें असमर्थ हैं। यद्यपि उनका दृढ़ निश्चय यह है कि इन पर पदार्थोंसे हमारा अणुमात्र भी सम्बन्ध नहीं और न ये हमारा कुछ भी बिगाड़ या सुधार करनेमें समर्थ हैं परन्तु ऐसा जानकर भी कुछ ऐसी परिस्थिति आ जाती है कि उन्हें छोड़नेमें अशक्य हैं। जैसे कोई मनुष्य अपने अपराधसे अज्ञान वश मलेरिया ज्वरसे पीड़ित हो गया, वैद्यने उसे कुटकी, नीम, चिरायताका क्वाथ पानेका उपदेश दिया, वह रोगी चिरायता आदि कटुक पदार्थोंके क्वाथको सुखपूर्वक पी रहा है परन्तु वह नहीं चाहता कि मैं इस क्वाथका पान करूँ। इसी प्रकार भेदज्ञानी जीव इन विषयोंको नहीं भोगना चाहता परन्तु उदयमें आये जो भाव उनको दूर करनेके लिये विषयोंमें प्रवृत्त होता है।

(१०।९।५१)

४. दूसरा कारण हमारी इच्छा है। हम विषयोंको भोगना चाहते हैं परन्तु वे कभी भी भोगनेमें नहीं आते क्योंकि यदि इच्छाके अनुकूल हो तब तो शान्ति हो, सो होता नहीं, क्योंकि उनका परिणमन उनके आधीन है, होना भी चाहिये। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये पुद्गलके गुण हैं, इनका परिणमन भिन्न भिन्न है। ये भिन्न इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहणमें आते हैं। हम सबको एक कालमें विषय करना चाहते हैं पर यह सर्वथा असम्भव है। इन्द्रियजन्य ज्ञानमें यह सामर्थ्य नहीं, क्योंकि इन्द्रिय प्रतिनियत विषयको ग्रहण करती है। ज्ञान ज्ञेय सम्बन्धसे वे विषय ज्ञानमें भासमान होते हैं। परमार्थसे न तो विषय ज्ञानमें जाता है और न ज्ञान विषयमें जाता

है। ज्ञेयके सम्बन्धसे ज्ञानमें ऐसा परिणमन होता है कि हमने ज्ञेयको जाना और स्वेच्छासे हम ज्ञेयकी नाना कल्पना करते हैं।

(३।१०।५१)

आकुलता

१ सन्तोषका फल सरस मधुर होता है। सन्तोषका अर्थ किसी भी विषयमें आकुलताका न होना है। संसार मार्गमें आकुलता ही दुःखकी जननी है और मोक्षमार्गमें भी आकुलता दुःखकी जननी है। जहाँ दुःख वहाँ सुखका होना सम्भव नहीं?

(१९।४।४८)

२ आकुलता ही शान्तिकी बाधक है।

(२१।५।४८)

मूर्खता

१ स्थिर चित्त उसीका हो सकता है जो अपनी प्रतिज्ञा पर स्थिर है। जो जगतको प्रसन्न करना चाहता है वह परम मूर्ख है। आत्माको प्रसन्न करनेका जो प्रयत्न करता है वही विवेकी है। वही मोक्षमार्गका पात्र है। यों तो जन्म लेनेवाले और मरनेवाले बहुत हैं।

(१०।७।४७)

२ बहुत कथा करना मूर्खता है।

(४।२।४८)

३ धर्म तो लौकिक यातनाओंसे निवृत्ति करानेका कारण है। इसे लौकिक कार्योंके लिये करना महान् मूर्खता है।

(८।२।४८)

४ नियम करना एक तरहसे मूर्खता है। नियमकी अपेक्षा काम करना उत्कृष्ट है। कोई भी किसीको विवशकर अन्य रूप परिणमन नहीं करा सकता। मोही जीवोंकी प्रकृति स्वयं अनाप शनाप प्रवृत्ति करनेकी होती है।

(१५।४।४८)

चिन्ता

१ सरदी गरमी तो शारीरिक रोग है। इनमें उतना कष्ट नहीं जो कष्ट मानसिक चिन्ताओंमें होता है। मानसिक चिन्ताएँ कषायोंके कारण होती हैं। खेद है कि हम आत्मीय दुःखसे जितने दुःखी नहीं जितने पराये दुःखसे दुःखी हो जाते हैं। हम मनमानी कथा करते हैं होता जाता कुछ नहीं। जिन कार्योंका हम स्वप्न में भी नहीं कर सकते उनका भी प्रयत्न करते हैं।

(११।७।४७)

२ प्रत्येक मनुष्य यही चाहता है कि जगतका कल्याण हो और इसके फलका श्रेय उसे प्राप्त हो। परन्तु जगत तो अनादि निधन है। यह तो सदा ऐसा ही रहेगा। जिसको इसके फन्दसे बचना हो उसे उचित है कि जगतकी चिन्ता त्याग, अपनी चिन्ता कर, उपाय सरल है।

(२८।५।४८)

है। ज्ञेयके सम्बन्धसे ज्ञानमें ऐसा परिणमन होता है कि हमने ज्ञेयको जाना और स्वेच्छासे उस ज्ञेयका नाम कल्पना करते हैं।

(७।१०।५१)

आकुलता

१ सन्तोषका फल सदा मधुर होता है। सन्तोषका अर्थ किसी भी विषयमें आकुलताका वर्तनाका मिटना है। संसार मार्गकी आकुलता ही दुःखकी जननी नहीं, मोक्षमार्गमें भी आकुलता दुःखकी जननी है। जहाँ दुःख वहाँ सुखका होना सम्भव नहीं?

(१६।४।४८)

२ आकुलता ही शान्तिकी बाधक है।

(२।५।४८)

मूर्खता

१ स्थिर चित्त उसीका हो सकता है जो स्वप्रतिज्ञा पर स्थिर है। जो जगतको प्रसन्न करना चाहता है वह परम मूर्ख है। आत्माको प्रसन्न करनेका जो प्रयत्न करता है वही विरक्त है। वही मोक्षमार्गका पात्र है। यों तो जन्म लेनेवाले और मरनेवाले बहुत हैं।

(१७।७।४३)

२ बहुत बका करना मूर्खता है।

(४।२।४८)

३ धर्म तो लौकिक यातनाओंसे निवृत्ति करानेका कारण है। उसे लौकिक कार्योंके लिये करना महान् मूर्खता है।

(८ । २ । ४८)

४ नियम करना एक तरहसे मूढता है। नियमका अपना काम करना उत्कृष्ट है। कोई भी किसीको विवशकर अन्य रूप परिणमन नहीं करा सकता। सभी आत्माकी प्रकृति स्वयं अनाप शनाप प्रवृत्ति करनेकी होती है।

(१५ । ४ । ४८)

चिन्ता

१ शरदी-गरमी तो शारीरिक रोग हैं। इनसे उतना कष्ट नहीं जो कष्ट मानसिक चिन्ताओंसे होता है। मानसिक चिन्ताएँ कषायोंके कारण होती हैं। खेद है कि हम आत्मीय दुःखसे जितने दुःखी नहीं जितने पराये दुःखसे दुःखी हो जाते हैं। हम समाजकी कथा करते हैं होता जाता कुछ नहीं। जिन कार्योंको हम स्वप्नमें भी नहीं कर सकते उनका भी प्रयत्न करते हैं।

(११ । ७ । ४७)

२ प्रत्येक मनुष्य यही चाहता है कि जगतका कल्याण हो और उसके कर्तृत्वका श्रेय उसे प्राप्त हो। परन्तु जगत तो अनादि निधन है। वह तो सदा ऐसा ही रहेगा। जिसको इसके फन्दसे बचना हो उसे उचित है कि जगतकी चिन्ता त्यागे, अपनी चिन्ता करे, उपाय सरल है।

(२८ । ५ । ४८)

२ परकी चिन्ता ही संसारमें दुःखोंकी खानि है।

(१०।८।४८)

मिथ्यात्व

१ अनादिकालीन गुप्तम मिथ्यात्वके सम्पर्कमें हमारी बुद्धि भ्रमात्मक हो रही है। इसका फल जो भ्रमज्ञानमें होता है वही होता है। विभ्रम ज्ञानमें पदार्थ विपरीत भासता है। यद्यपि पदार्थ अन्यथा नहीं हुआ परन्तु हमारे ज्ञानमें अन्यथा भासमान होता है। जैसे रज्जुमें किसीको सर्प भ्रान्ति हो जावे तब वह मनुष्य भयभीत हो वहाँसे दूर भागता है। यद्यपि रज्जु सर्प नहीं हुआ परन्तु हमारे ज्ञानमें तो सर्प है। जबतक यह ज्ञान न हो—"नायं सर्पः, भ्रमज्ञानात् रज्जौ सर्प इति ज्ञानं हि मे यदभूत् तत् मिथ्या अत एव दोषवशात् तद् ज्ञानं जातम्" ऐसी प्रतीति होनेसे हम भागनेसे रुक जाते हैं।

(२०।१।५१)

२ सबसे महान परिग्रह मिथ्यादर्शन है क्योंकि मिथ्यात्वके उदयमें यह जीव विपरीत अभिप्राय पोषण करता है। अनात्मीयको आत्मीय मानता है, शरीरमें आत्मबुद्धि करता है। जैसे कामला रोगवाला शङ्खको पीला मानने लगता है। एक बार मुझे श्री कुण्डलपुर क्षेत्रपर चातुर्मास करनेका अवसर आया। उस समय मुझे बड़े वेगसे मलेरिया ज्वर आ गया और पित्त ज्वर हो गया। एक वैद्यने कहा तुम सांठा (गन्ना) चूसो, ज्वर शान्त हो जावेगा। मैंने गन्ना चूसा किन्तु चिरायता व नीमसे भी वह बहुत कडुवा लगा, मैंने उसे फेंक दिया।

मांजीने कहा—'बेटा! चूस लो!'

मैंने उत्तर दिया—'कैसे चूसूँ, यह तो चूसा नहीं जाता!'

यद्यपि साँटाका रस मीठा था परन्तु मुझे ताप था इसलिये वह कडुवा लगता था। इसी प्रकार जिनके मिथ्या रोग है उन्हें मोक्षमार्गका उपदेश देना हितकर नहीं होता क्योंकि मोक्षमार्गमें तो प्रथम सम्यग्दर्शन है।

(१२।१२।५१)

सङ्कोच

१ सङ्कोच ही पापकी जड़ है। सङ्कोचके वशीभूत होकर मनुष्य उत्तमसे उत्तम कार्यसे पराङ्मुख हो जाता है। निर्भीक द्वारा अपनी प्रकृतिको विपरीत करना अच्छा नहीं।

(२२।७।५१)

लोकप्रशंसा

१ मनुष्यमें सबसे बड़ा अवगुण अपनी प्रतिष्ठाका है। प्रायः अधिकांश मनुष्य अपनी प्रशंसा चाहते हैं। प्रशंसाके लिये पुत्र कलत्रादिका त्याग कर नाना प्रकारके कष्टोंको सहन करते हैं। व्रत करें, उपवास करें, एक बार भोजन करें। यहाँ तक कि तिल-तुषमात्र परिग्रह भी न रक्खें। किन्तु लोग हमको उत्तम कहें ऐसी जिनकी अभिलाषा है उनका यह बाह्य त्याग दम्भ ही है।

(२०।४।४७)

२ लोकेषणा बहुत ही प्रबल संसारवर्द्धक अनात्मीय भाव

की जनता है। बहुत ही कम महानुभाव ऐसे होंगे जो इससे रक्षित रहे हों।

(७।८।४९)

३ स्वजन ताप प्रशंसासे न कुछ लाभ है और न होगा। स्तुतिवादमें हृद मानना पतनका कारण है।

(१२।९।४७)

४ लौकिक प्रशंसा का आजकल संसार में कुछ गिरा रहा है। जिसका लौकिक प्रशंसा रुचिकर है उसे निन्दाका अवश्य दुःख होगा, जो निन्दा करेंगे उन्हें वह नियमसे अनिष्ट समझेगा और जो प्रशंसा करेंगे उन्हें इष्ट समझेगा। यही इष्टानिष्ट कल्पना आर्तध्यानमें कारण होगी। तथा पर द्रव्यका अपनानेका जो भाव है वह रौद्रध्यानमें कारण पड़ता है अतः कल्याणकी इच्छा है तब मनसे पहिले जिस भावसे यह अपनायें गये हैं वह त्यागो।

(१०।५। १)

५ जिनसे जो न हो थोड़ा है। परमार्थसे जगत्में कोई भी किसीका उपकार और अनुपकार नहीं करता। हमारे नियममें हम स्वयं कल्पना कर सुख और दुःख, यश अथवा अपयश, निन्दा या प्रशंसा मान लेते हैं। कोई कुछ कहे यदि हम उसका भय न बनावें कुछ भी कल्पना नहीं हो सकती। प्रथम तो हम स्वयं उसका भगन करनेकी अभिलाषा करते हैं। उसके अन्दर यह लिप्सा बैठी है कि कुछ हमारी प्रशंसा ही तो होगी। यही पाप हमारेका प्रेरणा करता है। कहो भाई! क्या अमुक व्यक्तिने क्या कहा? यदि प्रशंसा वाचक शब्द श्रवणमें आये तब तो हम मसककी तरह फूल गये, यदि निन्दा वाचक शब्द श्रवणमें आये तब हृदय फट गया। मसककी तरह पचक गया। भीतर चलन पैदा हो गई। संक्लेश परिणामोंकी प्रचुरतासे पाप प्रकृतियोंका बन्ध

होने लगा। इससे यह सिद्ध होता है कि इन पाप प्रवृत्तियोंका प्रथम कारण कौन हुआ? हम स्वयं हुए। इतना ही न हुआ हमारा अभिप्राय भी मिथ्या हुआ किन्तु निमित्त द्वारा व परिणाम कराए गये इससे उन संकल्पका मूल कारण माना। यह अज्ञानता या न कर अल्प है। अनादि कालसे हमारा यही पद्धति बन गई है कि हम पुण्य पापके कारण अन्य हो को मानते हैं। और जबतक यह भावना रहेगी तबतक संसारसे मुक्त होना असम्भव है।

(४।१।।)

६ मानिका मार्ग इस लोकैषणामें पर है। लोक प्रतिष्ठाके अर्थ त्याग व्रत संयमादिका अर्जन करना धूलके अर्थ रत्नका चूर्ण करनेके समान है। पञ्चेन्द्रियके विषयोंको सुखके अर्थ सेवन करना जीवनके लिए विष भक्षण करना है। जगतके मनुष्य आत्मीय स्वार्थके लिए ही कार्य करते हैं। यह कोई निन्दाकी बात नहीं। सामान्य मनुष्योंकी कथा तो छोड़ो किन्तु जो विद्वान् हैं वे भी जो कार्य करते हैं आत्मप्रतिष्ठाके लिये ही करते हैं। जब वे व्याख्यान देते हैं तब यही भाव उनके हृदयमें रहता है कि हमारे व्याख्यानकी प्रशंसा हो। अर्थात् लोग कहें कि महाराज! आप धन्य हैं, हमने तो ऐसा व्याख्यान नहीं सुना जैसा श्रीमुखसे निर्गत हुआ। हम लोगोंका सौभाग्य था जो आप जैसे महापुरुषों द्वारा हमारा ग्राम पवित्र हुआ। ग्राम ही नहीं आज हम लोगोंके गृह आपके चरणस्पर्शसे पवित्र हो गये। महान् पुण्यका उदय होता है तभी आप जैसे महात्माओंका मिलाप होता है। इत्यादि वाक्योंको सुनकर व्याख्याता महोदय हृदयमें प्रसन्न हो जाते हैं। ऊपरसे कहते हैं महाशय! हम तो कुछ नहीं जानते। यह आपकी गुणज्ञता है जो अल्प योग्यताको महान् मानते हैं। पानीका

स्वभाव ऐसा होता है जो उसमें एक बिन्दु मल डालनेसे सम्पूर्ण जल ऊपरसे मलरूप दीखता है। ऐसे ही आप लोगोंका हृदय है, वक्ता-श्रोता दोनों प्रसन्न हैं। इसका कारण यदि देखोगे तो दाताकी इच्छाएँ पूर्ण होगई यही प्रसन्नताका हेतु है।

(२४।६।५१)

७ वर्तमानमें सभी मनुष्य लोक प्रशंसाके लोभी हो रहे हैं। धर्म भी करते हैं परन्तु अभ्यन्तर उनका लौकिक प्रतिष्ठाका रहता है।

(१६।७।५१)

८ मेरा यह अनुभव है कि प्रशंसासे आत्माकी गुरुता लघुतामें परिणत हो जाती है। जहाँ प्रशंसा हुई आत्मा उसे सुनकर प्रसन्न होता है और जहाँ निन्दा हुई वहीं दुःखी होता है। प्रशंसा और निन्दा दोनों ही विकृत रूप हैं, इन्हें निज मानना ही भयङ्कर भूल है, इस भ्रमका फल संसार है। संसार ही दुःखमय है।

(९।११।५१)

९ यदि आज हम लोग प्रशंसाका त्याग देवें तो अनायास ही सुखी हो सकते हैं। परन्तु लोकैषणाके प्रभावमें हैं। यही हमारे कल्याणमें बाधक है।

(२७।१२।५१)

भोजन

१ अनुमति त्यागके लिये आगममें भोजनमें अनुमति देनेका त्याग किया है। भोजन तो उपलक्षण है पापारम्भके समस्त ही कार्योंमें अनुमति नहीं देगा। इसका यह अर्थ है कि धर्ममें अनुमति दे सकता है।

(८।७।४७)

२ भोजन करानेवालोंमें सबसे महान दोष यह है कि मर्यादासे अधिक खिलानेकी चेष्टा करते हैं। यदि खानेवालेकी रसना वशमें न हो तब अनर्थ हो जावे। परन्तु यह पञ्चम काल है। जैसे ही खानेवाले वैसे ही परोसनेवाले। 'कुट्टीदेवी ऊँट पुजारी।' संयमका पालना कठिन बात है, जिनका संसार तट अल्प है वही इसके पात्र हो सकते हैं।

(१० । ७ । ४७)

३ जो भोजन कराता है वह पात्रबुद्धिसे ही कराता है, उसके परिणाम निर्मल रहते हैं। वह यही जानकर दान देता है कि मैं पात्रको भोजन करा रहा हूँ। उसके कोई विकल्प नहीं। अतः वह पुण्यभागी अवश्य होता है।

(४ । ८ । ४७)

४ भोजनकी लालसा जिसने त्याग दी वह बहुत ही अल्पकालमें शरीर और आत्मा दोनोंको नीरोग बना सकता है।

(१२ । ८ । ४७)

५ संसारमें यदि वैरको मिटाना है तब परस्पर भोजनका व्यवहार रक्खो। यही वैर मिटानेका सबसे उत्तम साधन है।

(१८ । ८ । ४७)

६ भोजनमें यदि निर्जरा होना चाहे तब रसनेन्द्रिय पर विजय प्राप्त करे। दाताके द्वारा यह कार्य नहीं हो सकता। इस कार्यमें पात्रको उचित है कि अपनी कषाय पर विजय प्राप्त करे। दाता तो अपने परिणामके अनुकूल भोजनको तयारी करेगा पात्रको अपनी इच्छा रोकना चाहिये।

(२० । १० । ४७)

७ भोजनसे कभी भी तृप्ति नहीं होती। आहार संज्ञा

अनादिकालसे रागी है। निरन्तर नवीनता चाहता है। कोई पुद्गल नहीं बचा जो अनन्तबार भोगनेमें न आया हो?

(२०।१०।४७)

८ भोजन करानेमें प्रायः प्रत्येककी रुचि रहती है। यदि पात्र उत्तम हो तो दाताको महान् पुण्यबन्धका कारण होता है। पात्रकी विशेषतासे परिणामोंमें अधिक निर्मलता होती है और यही विशेषता विशेष पुण्यका कारण होती है।

(२०।११।४७)

९ भोजनकी गृद्धता ही स्पर्शनेन्द्रियवत् अधःपातका कारण है। चाहे मानो, चाहे न मानो, अग्नि सम्बन्ध दाह करेगा।

(८।२।४८)

१० जो भोजन उत्तम हो परन्तु पदके विरुद्ध हो तो वह आत्मामें गृद्धता उत्पन्न करता है, और गृद्धता ही चारित्रकी घातक है।

(१२।२।४८)

११ यद्यपि भिक्षाभोजन अमृत है परन्तु विषभोजी जीवको ऊँटकी तरह मिष्ट इक्षु नहीं रुचता। अनादिसे परमें आत्मबुद्धि वालोंको यह नहीं रुचता।

(१४।२।४८)

१२ भिक्षाभोजनको शास्त्रमें अमृत कहा है, यह भाव आज अनुभवमें आया। धन्य है उत्तम जीवोंको जो यह अमृतभोजन करते हैं।

(१८, २१।२।४८)

१३ भोजनकी प्रक्रिया वही है जो थी। न तो दाताकी शुद्धि मार्गपर है और न पात्रकी। विशेष दोष पात्रका है। यदि पात्र चाहे तो सब रस होनेपर भी नीरस भोजन कर सकता है।

अन्तरङ्गसे कषायनिवृत्ति होना चाहिये। कषाय दुःखकर हैं, एतावता कषाय छूट गई सो नहीं।

(११।४।४८)

१४ आजकल साधुओंकी भोजनकी प्रक्रिया निर्मल नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि भोजनमें अशुद्धि रहती है या देयद्रव्य पात्रकी प्रकृतिके अनुकूल नहीं। किन्तु भोजनमें ऐसे पदार्थ बनाते हैं जो पात्रको लालचके कारण बन जावें। अनादिकालसे भोजनकी संज्ञा है। इसका त्याग होना सरल नहीं।

(४।१।४८)

१५ त्यागीको वह भोजन मिलना चाहिये जो उसके ज्ञानादि गुणोंका साधक हो अर्थात् भोजन सादा होना चाहिये।

(५।१।४८)

१६ भोजन वह सुस्वादु होता है जो पथ्य हो, आलस्य न लावे, उदराग्नि जिससे शान्त न हो जावे। जो विकृत भोजन करने वाले होते हैं वे मोही रागी द्वेषी होते हैं। प्रथम तो भोजन पर है, उसे निज मानना ही तो मोह है। साथमें उसमें स्वादमें राग होना स्वाभाविक है। यदि प्रकृतिके अनुकूल हुआ तब अनायास राग हो जाता है। जो प्रकृतिके अनुकूल भोजन बनाता है उसमें अनायास मोह और राग होता है। तथा यदि प्रकृति विरुद्ध भोजन मिला तब उस बनानेवालेमें अनायास राग नहीं रहता। अन्य क्या छोड़ो उस भोजनको फेंक देते हैं। अतः जो मनुष्य प्राकृतिक भोजन करते हैं उनकी परिणति विकृत नहीं होती। समयपर जो मिल गया उसीसे सन्तोष कर लेते हैं। परन्तु यह उन्हीं महानुभावोंसे बनता है जिन्होंने वस्तुका यथार्थस्वरूप समझा है। वास्तवमें यदि वस्तु स्वरूप समझमें आ जावे तब अनायास आत्माका

सुधार हो सकता है। अतः ; उसे न मान हमारा 5
रही है।

१७ यह मानन की मिथुना अमून हैं जो उसके लि(५।८।
न बनाया जाय।

१८ जो गृहस्थ शुद्ध भोजन करनेवाला है, अष्टमूल
पालन करता है, पञ्चाणुव्रत और मद्य, मांस, मधुका भक्षण नहीं
तथा निसकी श्रद्धा पञ्च परमेष्ठीमें है, बिना छना पानी नहीं पी
नीरस्याग पालन करता है, वही भोजन देनेका पात्र है। इ
लेनेवाला है यह उत्तम, मध्यम जघन्यके भेदसे तीन प्रकारका है।
उत्तम पात्र तो निराम्बर है जिनके बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह
नहीं है। मध्यम पात्र ग्यारहवी प्रतिमाओंमें अन्यतम प्रतिमावाले
हैं। उनके भी तीन भेद हैं। उत्तम तो दशम और ग्यारहवी प्रतिमा-
धारी हैं। इह उत्कृष्ट श्रावक कहते हैं। मध्यम सप्तम प्रतिमासे लेकर
नवम प्रतिमावाले हैं। और प्रथम प्रतिमासे लेकर छह प्रतिमा
तक जघन्य कहलाते हैं। इनमेसे जिनके कोई प्रतिमा नहीं
किन्तु जैनधर्मकी दृढ़तम श्रद्धा है उन्हें जघन्य पात्र कहते हैं किन्तु
अष्टमूलगुणका नियमसे पालन होना आवश्यक है। यदि अष्टमूलगुण
से रिक्त हैं तब वे जैनधर्मकी श्रुति भी श्रवण नहीं कर सकते।
यह नियम उन्हींके लिये हैं जो कुलक्रमसे जैनधर्म माननेवाले कु
लमें पैदा हुए हैं।

(५।१०।५१

पराधीनता

१ पराधीनता ही संसारकी जननी है। अनादिकालसे हमने
पर पदार्थमें आत्मीय बुद्धिके द्वारा अपने स्वरूपकी अवहेलना की

रु पौद्गलिक पदार्थोंमें व्यामोहमें उन्मत्तकी तरह इतस्ततः भ्रमण कर रहे हैं। जो निज ज्ञान है, जिसके द्वारा जगतको जानते हैं उसकी उत्पत्ति पर द्वारा मानते हैं।

(३।११।४०)

२ अनादिसे इन प्राणियोंने आत्मतत्त्व नहीं समझा और न समझनेकी चेष्टा ही करते हैं। यों ही आते हैं और यों ही संसारमें जाते हैं। संसारके बन्धनसे मुक्त होना कठिन बात है। वे ही पार हो सकते हैं जो पराये दास नहीं बनते। हम लोग परकी ममतासे ही घूम रहे हैं।

(२।१२।४०)

३ ऐसा प्रयत्न करो कि परका अवलम्बन छूट जावे। परके अवलम्बनसे ही स्वाधीनताका अभाव होता है।

(२।८।४१)

४ यदि आत्माको संसारमें रखनेवाली कोई शक्ति है तो वह पराधीनता ही है और कल्याण करनेवाली कोई शक्ति है तो वह स्वाधीनता ही है। पराधीनताका मुख्य पाठ सिखानेवाले नैयायिक और स्वाधीनताका पाठ सिखानेवाले हैं जैनदर्शन। इन दोनोंमें जो पराधीन है वह सर्वदा अकिञ्चित्कर है, क्योंकि वह स्वयं तो कुछ कर ही नहीं सकता।

(२।१५।४१)

५ यदि आत्माकी उन्नति इष्ट है तो पराधीनताको छोड़ो। पराधीनताके उपासक हैं वे कदापि आत्मशान्ति नहीं पा सकते।

(१२।५।४१)

दुख

१ किसीका अपराध नहीं, अपनी निर्बलता ही दुःखकी जननी है।

(...)

चित्तवृत्तिमें व्यग्रता मत आने दो। व्यग्रता ही दुःखका मूल है।

(२०।१०।४८)

२ संसारके मनुष्योंकी प्रवृत्ति स्वेच्छानुसार होती है और वे औरोंको अपने रूप परिणमाया चाहते हैं परन्तु जब वे परिणमते नहीं तब महादुःखके पात्र होते हैं। इसलिये यदि यह मानना छोड़ देवें कि पदार्थोंका परिणमन अपने अनुकूल होता है तो दुःखकी कोई बात नहीं।

(१७।११।४८)

३ बहुत चाहना दुःखका मूल कारण है।

(२०।१२।४८)

४ प्रथम तो आपसे भिन्न पदार्थोंमें जो निजत्वकी कल्पना है वही मिथ्या कल्पना दुःखका मूल है; क्योंकि जिसे हमने अपना मान लिया उसका परिणमन उसके आधीन है, हमारा परिणमन हमारे आधीन है। हम नाना परिणमनोंको एक रूप बनाना चाहते हैं यही महान दुःखका कारण है। यदि दुःखसे छूटना चाहते हो तब पर पदार्थोंसे सम्बन्ध छोड़ दो। यही सब दुःखोंसे छूटनेका उपाय है। दुःखका मूल कारण अपना अज्ञान है अज्ञानताका निरास जिसने किया वही मानव है।

(४।१।४९)

५ संसार दुःखमय है। दुःखका मूल कारण आकुलता है। आकुलताका उपादान मोह कर्म है। मोह कर्मके उदयमें मिथ्यात्व और रागादिक उत्पन्न होते हैं। जबतक इनका नाश नहीं होता तब तक आत्मामें शान्ति नहीं होती। नाश होनेके अनन्तर पुनः शान्ति हो जाती है। जैसे जब क्रोध कषायकी उत्पत्ति होती है तब अन्यको अनिष्ट माननेका विचार होता है। उसके अनिष्ट होनेसे यद्यपि इसे कुछ नहीं मिलता परन्तु दुःख देनेवाला कषाय है अतः

कषायका अभाव ही सुखका मूल कारण है। अत निरन्तर इससे वचना हो वे कषायको त्यागो।

(१६ । १२ । ५१)

तृष्णा

१ तृष्णानदी इतनी भयङ्कर और गहरी है कि संसारकी सारी सम्पदा भी इसके एक कोण तकको नहीं भर सकती। अत समभावसे ही उसकी पूर्ति हो सकती है। हम चाहते हैं कि संसारके समस्त पदार्थ हमारे उपयोगमें आवें, सम्पूर्ण ज्ञान हम हो जावें, किन्तु यह विचार नहीं करते कि कल्पना करो यदि सभी पदार्थ तुम्हारे उपभोगके लिए तुम्हें प्राप्त हो गये परन्तु उनका उपभोग एक कालमें तो नहीं कर सकते। एक रूपपर ही विचार करो, सब रूपवान तुम्हारे समक्ष हैं परन्तु तुम एक कालमें एकहीका तो उपभोग करोगे फिर भी दूसरेके देखनेकी अभिलाषा बनी ही रहेगी। कभी सब रूपोंका देखना एक कालमें नहीं हो सकता। इसी प्रकार सब इन्द्रियोंकी व्यवस्था जानो। ज्ञानकी भी यही बात है। अत यदि शान्तभावको चाहते हो तब यह अशान्तिके कारण त्याग दो। जो मारा जो परिणमन है वह आत्मा तक ही रहने दो।

(१५ । ११ । ५१)

हिंसा

१ अहिंसाका अर्थ है—हिंसाका अभाव जहाँपर होता है वहाँ पर अहिंसा होती है। 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा।' वाह्य प्राण दश हैं, पाँच इन्द्रिय—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र, तीन बल—मनोबल, वचनबल और कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास। कषायके वशीभूत होकर जहाँ इन प्राणोंका घात हो जाता है वहींपर हिंसा होती है। परकी हिंसा होनेपर यदि प्रमत्त योग

नहीं तब हिंसा नहीं होता। हिंसाके मूल कारण प्रमत्तयोग है। जहाँपर यह है वहाँ पर अन्यका घात भले हो न हो आत्मीय ज्ञान दर्शन-सुख वीर्यका घात तो होता ही है अतः प्राणोंका घात ही हिंसा है। (२९, ३०।८।४८)

२ दो प्रकारके कार्य हैं एक शुभ, दूसरा अशुभ। इनका विस्तार ही सब कार्य बताए हैं। शुद्ध कार्य लोकके उपकारक और शुद्ध आत्मोपकारक होते हैं। जैसे हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह ये कार्य लोकमें अपनेको और परको कष्ट देनेवाले हैं। हिंसासे पर जीवका ही घात नहीं होता, अपना भी घात होता है। यहाँ तक कि हिंसकके द्वारा किसी परके घातके अभावमें आपका ही घात हो जाता है। हिंसा वह पाप है जिसने जगतको आदि कालसे व्याप्त कर रक्खा है। हिंसाका मूल कारण कषाय है—

"यत्खलु कषाययोगात् प्राणानां द्रव्यभावरूपाणां।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति हिंसा॥"

सभी असत्यादि पाप हिंसामय हैं—

"आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात् सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय॥"

आत्माके परिणामोंका जहाँ घात है वहीं हिंसा है। असत्यादि पापोंमें आत्मपरिणामका घात ही तो होता है। अतः असत्यादि जितने पाप हैं सभी हिंसा हैं। शिष्योंको बोध करानेके लिए यह भी हिंसा हैं यह बताया है। परमार्थसे यही पाप है। परमार्थसे आत्मामें जो मोह राग द्वेष होते हैं वही हिंसा है। रागादिक परिणामोंका न होना ही अहिंसा है।

(१०।५।५१)



स्वतन्त्रताके सुप्रभातमें

स्वतन्त्रताके सुप्रभातमें

संसारकी दशा इस समय भयङ्कर है। भारतवर्षमें मनुष्योंमें परस्पर सहानुभूति नहीं इसीसे विदेशी लोग यहाँ आकर अपनी सत्ता जमा लेते हैं और इनको बुद्धू बनाकर अपना स्वराज्य जमाते हैं। अतः परस्परमें सहानुभूति रक्खो, किसीसे भी वैर भावना न रक्खो शत्रुको मित्र मानो यदि यह दूर है तब शान्ति पानेका प्रयत्न करो।

(२७।७।५१)

२ आज रात्रिके १२ बजे बाद भारतको स्वतन्त्र सत्ता मिलेगी। समय परिवर्तनशील है। जिनके राज्यमें सूर्य अस्त नहीं होता था वे ही भारतको राज्य समर्पित कर रहे हैं। संसारमें उचित तो यह है कि मनुष्यको निरन्तर ऐसे कार्योंको करना चाहिये जिसमें प्राणी मात्रको कष्ट न पहुँचे। जीवन तथा लक्ष्मी क्षण भङ्गुर हैं, न जाने कब इसकी अवधि आ जाय। अतः जिस नीतिसे उपयोगकी शुद्धता हो वही नीति उत्तम है।

(१४।८।४७)

३ आज भारतवर्षके प्राणियोंको पूर्ण स्वराज्य मिला। सागर (म०) जिलेके अन्दर इसका उत्सव था। २०,००० बीस हजार जनता होगी। सबके हृदयमें उल्लास था, महिलावर्ग बड़ा प्रसन्न था। हर एक मनुष्य स्त्री, बालक, बालिकाओंके मुखपर प्रसन्नताकी ज्योति झलकती थी। प्रबन्ध सराहनीय था। यह सब हुआ परन्तु आपत्ति कालमें परस्पर सहानुभूति ही उत्तम होगी।

(१५।८।४७)

४ स्वराज्यका तात्पर्य प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्रताका प्रेमी है। स्वतन्त्रताकी उत्पत्ति निर्मल परिणामोंसे होती है। चाहे लौकिक हो चाहे पारमार्थिक हो, मायाचारकी स्वतन्त्रता स्थायिनी नहीं।

(१७।८।४७)

५ यह जमाना बहुत ही सङ्क्लेशमय है। लाखों निरपराधी मनुष्योंकी हिंसा निर्ममताके साथ हो रही है। स्वराज्यमें आशा थी कि शान्ति रहेगी परन्तु हुआ इससे विपरीत ही—सारा संसार अशान्तिमय हो रहा है। इसका मूल कारण तो निर्बलता है तथा हमको जो शिक्षा दी जाती है उसमें आत्मतत्त्वकी सिद्धिका कोई पाठ नहीं पढ़ाया जाता। केवल—'खाओ, पीओ, सुखसे रहो' यही सिखाया जाता है।

(२०।८।४७)

६ संसारमें इस समय अशान्तिका साम्राज्य है। भारतके दो विभाग हो गये, एकका नाम हिन्दुस्तान और दूसरेका पाकिस्तान। हिन्दुस्तानमें कांग्रेसका राज्य और पाकिस्तानमें मुसलमानोंका राज्य। पाकिस्तानमें रहनेवाले हिन्दू, सिक्ख तथा जैन महान् सङ्कटमें हैं। लोगोंकी निर्मम हत्या हो रही है, वैदिक मन्दिर, गुरुद्वारा तथा जैन मन्दिरोंका ध्वंस कर दिया है। मूर्तियोंको तोड़ फोड़ दिया है। सहस्रोंकी संख्यामें जो शास्त्र थे उनको भस्मसात् कर दिया है। कोई सुननेवाला नहीं। जो गवर्नर जनरल हैं वे ऐसा प्रबन्ध नहीं निकालते जिससे प्राणियोंकी रक्षा हो। यह सब अनर्थ परिग्रह पिशाचसे पीड़ित मनुष्यों द्वारा हो रहा है। बलात्कार पूर्वक धर्म परिवर्तन कराते हैं, मातृगणोंको, उनके बालकोंका कत्ल करनेमें रञ्चमात्र भी निर्दयी जीवोंको दया नहीं आती। अहिंसाकी महिमा अपरम्पार है परन्तु उसके पालनेका पात्र होना चाहिये। इस समय न तो वे ऋषि हैं, न वे मुनि हैं जो

अपने चमत्कारके द्वारा कुछ करते। एक गाँधीजी हैं, उनका अभिप्राय साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा बहुत अच्छा है परन्तु देखो बर्बर जातिके साथ भारतका सम्बन्ध है कि एक पक्षवाले तो गाँधीजी को देवता मानते हैं परन्तु दूसरे पक्षवाले उनके बातोंका विशेष आदर नहीं करते, अन्यथा शान्ति होना असम्भव न था। पहले नोआखालीमें निरपराध लोगों हिन्दू धर्मवालोंको सम्पत्ति लूटी, स्त्रियोंका सतीत्व अपहरण किया, जब विहारमें उसका प्रतिकार हुआ तब इस पक्षके नेताओंने उनको दबा दिया। [illegible] हिन्दू दयावाले थे मान गए। फल यह हुआ कि पञ्जाबमें [illegible] सहस्रगुणा नुकसान हिन्दू धर्मवालोंका हो गया [illegible] विशेष बात हो गई कि कोई उपाय शीघ्र रक्षाका नहीं।

७ संसारमें इस समय भयङ्कर उपद्रव है, पञ्जाबमें [illegible] का निर्मम संहार हो रहा है, अराजकता हो रही है। [illegible] कारण जो पुरुष इसे दमन न करेगा वह विपत्तिमें [illegible] अतः सबको उचित है कि राष्ट्रकी रक्षा करनेमें [illegible] लगा देवें।

(१ ४ ५, १ ० ५ १७)

८ आज परम दयालु महात्मा गाँधीका [illegible] अन्त हो गया।

[illegible]

९ संसारकी दशा अत्यन्त भयंकर [illegible] उपकारी एवं कल्याणका कर्ता हो उसको [illegible] मानते हैं।

[illegible]

१० भारतका महान आत्मा [illegible] शुक्रवारके ५ बजे एक मनुष्य द्वारा [illegible]

बन्दूकसे परलोक सिधार गया। संसार कषायका पुञ्ज है, ऐसे इसमें मनुष्योंका निवास है जिनकी निर्दयता वचनातीत है।

(१।२।४८)

११ श्री गाँधीजी के शवकी भस्मको श्री जवाहरलालजी नेहरूने उठाया, प्रायः सब स्थानोंमें उनकी भस्म प्रवाहित की हुई। भारतवर्ष ही क्या संसार भरको शान्ति चाहनेवाला महापुरुष था।

(२।२।४८)

देशका दुर्भाग्य

१ भारतवर्ष परोपकारी ऋषि आदि महापुरुषोंका कितना उत्तम देश था। आज उनका ही अपनी गुणगरिमासे गिर गया है। पश्चिम देशकी सभ्यतासे केवल विषय पोषक कार्योंको भारतने इस समय अपनाया है। जहाँ प्रथमावस्थामें मद्य, मांस, मधुका त्याग कराया जाता था वहाँ अब तीनों अनुरूप मान चाकर नर बिना गृहस्थोंका निर्वाह नहीं होता। बालकोंको औषधिमें मद्यपान करानेकी चेष्टा की जाती है। थोड़े दिन पहिले कोई साबुन आदिका स्पर्श नहीं करता था, आज उसके बिना स्त्रियोंका निर्वाह नहीं होता। सब असंगत कार्य हो रहे हैं। अंग्रेजोंमें जो गुण थे वह भारतने नहीं अपनाया। वे समयका दुरुपयोग नहीं करते थे, जिसको जो वचन देते थे उसका निर्वाह करते थे। उन्होंने भारतवर्षकी महिलाओंसे सम्बन्ध नहीं किया, प्राचीन वस्तुओंकी रक्षा की, विद्या प्रेमी थे, स्वच्छता रखते थे इत्यादि।

मुसलमानोंमें भी बहुतसे गुण हैं। जैसे एक बादशाह भी

अपनी जातिके अदना आदमीके साथ भानपानादि करनेमें संकोच नहीं करता। यदि किसीके पास एक रोटी हो और१०मुसलमान आ जावें तब वह एक एक टुकड़ा खाकर सन्तोष कर लेंगे। नमाजके समय कहीं हों वहींपर नमाज पढ़ लेंगे। परस्परमें मैत्री भावना रक्खेंगे। यही कारण है कि आज भारतवर्षमें उनकी संख्या ३ हो गई। वह अपनाना जानते हैं। यदि इनमें मांसादिक खानेका व्यवहार और गाय भैंसोंको मारनेका व्यापार न होता तो उनकी गणना सभ्य मनुष्योंमें होती। अतः हम लोगोंको इतर जातियोंके सद्गुणोंका अनुकरण करना चाहिये। उनके विशेष गुणोंका आदर करना चाहिये और अवगुणोंको त्यागना चाहिये।

(३ ४। ७। ५१)

२. सद्गृहस्थका सबसे पहला लक्षण 'न्यायोपात्तधन' अर्थात् न्याय पूर्वक धनका अर्जन करे। न्यायका निर्वचन क्या है? सब कोई जानता है कि जिस द्रव्योपार्जनमें प्रमत्तयोग है वह धन यद्यपि न्यायानुकूल नहीं होता। सिद्धान्त तो यह है कि जितने द्रव्य संसारमें हैं उनमें परिग्रहका व्यवहार रूपी पुद्गल द्रव्यमें होता है। आकाशादि अमूर्त द्रव्य हैं, निर्विकारी हैं, सबके साथ उनका सम्बन्ध एक सदृश है। रूपी पुद्गलमें विकृति है। उसका परिणमन नाना प्रकार है। उसका पञ्चेन्द्रिय विषय करता है। सामान्यतया सबके उपभोगमें वह आता है। कोई न कोई उसका अनुचित उपयोग करते हैं। सभी मनुष्य चाहते हैं कि हमको यथेष्ट भोजन मिले। इसके अर्थ नाना प्रकारके यत्न करते हैं। मनुष्यके भोजनके लिए आटा ।।।, दूध ।।।, घी ।-, शाक तथा लकड़ी आदि कुल मिलाकर १।≈) में यथेष्ट निर्वाह हो सकता है, परन्तु जिसके पास पैसा है वह ५) में भी तृप्त नहीं होता। ५) मद्यपानमें ही व्यय कर देता है। इसके लिए बड़े बड़े

धनार्जन करता है, घूस लेता है, डाका डालता है १०) का धाती जोड़ा २०) में बेचकर भी सन्तोष नहीं करता।

(२४।७।५१)

धर्मके नामपर ?

१ लुनसर (जबलपुर) ग्राममें ३-४ घर विनैकाया जैनियोंके हैं। गरीब हैं। दर्शन करनेसे भी लोग उन्हें रोकते हैं।

(२१।१।४७)

२. आजका न्यायका गला घोंटकर धर्मके कार्य कराये जाते हैं।

(१६।२।४७)

३ मन्दिरजीमें प्रवचनमें ब्राह्मण क्षत्रिय स्वर्णकार आदि सभी आये। जैन धर्मकी रुचि हुई परन्तु लोगोंका विशाल हृदय नहीं उनको अपनाते नहीं, धर्मको पैतृक सम्पत्ति मान बैठे हैं।

(१०।४।४७)

४ मन्दिरोंमें अनाप सनाप द्रव्य पड़ा है और किसीके उपयोगमें नहीं आता। देव तो वीतराग हैं। वे जगतको यही उपदेश दे गये कि यदि कल्याण करना है तो हमारा मार्ग अङ्गीकार करो।

(५।७।४७)

५. बहुतसे महानुभाव मुझसे यह प्रश्न करते हैं कि आपकी दस्साओंके पूजा करनेके विषयमें क्या सम्मति है ? तथा हरिजनोंके मन्दिर प्रवेशमें क्या सम्मति है ? मैं चरणानुयोगका आगम तो जानता नहीं परन्तु जब आगममें उनका पञ्चम गुणस्थान लिखा है उसके अनुसार वे स्वयं यहाँ तक पहुँच सकते हैं। व्रतोंको देव पूजा

स्वय आ गया। अत मेरी सम्मति तो उनके पक्षमें हैं। रहा यह बात कि आप लोग माने या न मानें यह अन्य बात है।

(४, ५। ३। ४८)

६ गोपाचल पर्वत [लश्कर-ग्वालियर] के बीच अनेक जैन मूर्तियाँ पत्थरोंमे बनाई गई हैं। बहुत ही सुन्दर और चित्ताकर्षक हैं। परन्तु जब यवनोका राज्य हुआ उन लोगोंने धर्मायतनोंको ध्वस्त कर दिया। राज्य मदोन्मत्त होकर मनुष्य घोर पाप करनेमें नहीं हिचकता।

(१२। ७। ४८)

७ आज यहाँ पर श्री महिसागर दिगम्बर मुनि आये। लोगोंने चर्याके लिये प्रार्थना की थी फिर क्या था? आप कहने लगे किसके यहाँ भोजन करें। किसीके शूद्र जलका त्याग है? दस्साओंके यहाँ भोजन तो नहीं करते। परस्पर जातियोंमें (अन्य जातीय) विवाह तो नहीं करते? आदि अनेक मानव जातिके अर्थ उपदेश था।

एक भिण्डनिवासीने कहा—'मेरे शूद्र जलका त्याग है।'

"किसके समक्ष लिया?" मुनिने प्रश्न किया।

"श्री १०८ सूर्यसागर महाराजके समक्ष लिया था" श्रावकने उत्तर दिया।

'यह तो उत्तरका मुनि है, प्रतिमाको स्पर्श कर प्रतिज्ञा लो।" श्रावक मन्दिरमे गया और प्रतिमा स्पर्श करके आया। आपने इस कृत्यका कराया। श्रावक फिर नीचे आया, पडगाहे गये, परन्तु आहार देनेवाली औरतके मुँहसे यह नहीं निकला कि—'मैं दस्साके घर भोजन नहीं करूँगी।" अत मुनि भोजन छोड़कर भग गये। स्टेशन पर साथके मनुष्योंके साथ भोजन करके चल गये। माम भ्रम चलता होता है, यहाँसे भी ६०। चला...

साथमें मंदिर है, हर जगह चर्चा होता है, पञ्चम काल है अब यही धर्म रह गया है !!!

(६।१।५१)

८. आजकल हरिजन समस्याकी प्रायः जैन जनतामें चर्चा रहती है। एक पक्षका कहना है कि धर्मका अधिकारी प्रत्येक मनुष्य हो सकता है। इसमें शूद्र भी धर्मका अधिकारी है, क्योंकि आत्माका जो स्वभाव है वह प्रत्येक प्राणीमें है। परन्तु अनादि कालसे प्राणियोंके कर्मका सम्बन्ध है जिससे कारण आत्माएँ विकृत हो रही हैं। उनमें उनके दो भेद हो गये। असञ्ज्ञी और सञ्ज्ञी। असंज्ञी तो मन रहित होनेसे धर्मधारणके अधिकारी नहीं। सञ्ज्ञी जीवोंमें चाहे वे देव, मनुष्य तिर्यञ्च या नारकी कोई भी हों, योग्यता पाकर आत्मकल्याणका पात्र जो सम्यग्दर्शन है उसके पात्र हो सकते हैं। यह जो सम्यग्दर्शन गुण है वह सञ्ज्ञी जीवोंमें उदय होता है। यही आत्माको संसारसे मुक्त होनेमें मूल कारण है। इसका सम्बन्ध साक्षात् आत्मासे है। परन्तु उसमें निमित्त कारण बाह्यमें देवादिकका श्रद्धान भी है, परिणामोंकी अपेक्षा इसमें कोई बाधा नहीं। परन्तु व्यवहारमें जो धर्म करना चाहते हैं उन्हें देव मन्दिर आदिमें जाना चाहिये। देवके दर्शन, गुरुकी श्रद्धा और आगमकी श्रद्धा होनी चाहिये। इसमें एक पक्ष महासभाका अनुयायी है वह कहता है कि जो अस्पृश्य शूद्र हैं वह मन्दिर नहीं जा सकते। उनके जानेसे अव्यवस्था हो जावेगी। अतः न तो वे मन्दिर जा सकते हैं और न शास्त्र छू सकते हैं। इसीको लेकर वे हरिजन मन्दिर प्रवेश बिलका विरोध कर रहे हैं।

दूसरा पक्ष दिगम्बर जैन परिषद्का है कि यदि हरिजन भी मद्य, मांस, मधुको त्याग देवें और बाह्यमें शुद्धतासे आवें तब वह भी श्री जैन मन्दिरमें आकर भगवान्के दर्शन कर सकता है। जब

पशु व्रत धारण करनेका पात्र है तब मनुष्य कुलमें जन्म लेनेवाला यदि निर्मल आचरणका धारी है तथा हिंसक न हो तब क्या धर्मका पात्र नहीं हो सकता है ? पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में—

"मद्य मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन ।
हिंसाव्युपरतिकामै मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥"

यह उपदेश मनुष्य मात्रके लिये है। केवल जैन मनुष्यके लिये ही नहीं है। प्रत्युत विचार कर देखा जाय तब जैनियोंमें तो प्राय मद्यादि सेवन करनेवाले देखे ही नहीं जाते तब उन कुलोंका यह उपदेश है आइ। यदि हिंसासे बचनेकी प्रबल इच्छा है तब प्रथम मद्यपान, मांसभक्षण और औषधिमें भी मधुका उपयोग करते हो उसे त्यागो। यदि न त्यागोगे तब यह लिखा है—

"अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितान्यमूनि परिवर्ज्य ।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ॥"

अर्थात् यह जो आठ अनर्थ पापके मूल हैं जबतक इनका त्याग न करोगे तबतक जैन धर्मकी देशनाके पात्र न होगे।

अब आप ही शान्त मस्तिष्कसे विचार कर उत्तर दीजिये यदि किसी हरिजनने इन वस्तुओंका परित्याग कर दिया और धर्म सुनना चाहता है तब उसे शास्त्र सभामें न आने दोगे ? बैठनेका स्थान मण्डपमें ही तो होगा, या बाहर निकाल दोगे। धर्म तो व्यक्तिगत सम्पत्ति है। जो आत्मा संज्ञी है, योग्य है, चाहता है, यदि आप उसे रोकोगे तब महती अज्ञानता है। प्रथम तो ऐसे मनुष्य आने सुभागम लग जावें तब यह जो अनर्थ पशुवध हो रहा है अनायास कम हो जावेगा। तब स्वयमेव अहिंसा धर्मकी प्रचुरता संसारमें होनेका सुअवसर आ सकता है। तीर्थङ्कर भगवानने यही तो उपदेश दिया—"अहिंसा परमो धर्मः" यह

धर्म किसी जाति विशेषका नहीं। धर्मका सम्बन्ध आत्मासे है। सभी आत्माओंमें यह शक्ति रूपसे विद्यमान है परन्तु इसका पूर्ण विकास मनुष्य पर्यायमें होता है।

(७, ८, ९, १२।१।५१)

९ समाजमें हरिजन समस्याको लेकर परस्परमें वैमनस्य हो रहा है। भगवन्! संसारकी चेष्टा सबकी आत्मीय उत्कर्षकी रहती है, यह नियम है। परन्तु उत्कर्षके साधनोंको भी तो संग्रह करना परमावश्यक है। लेकिन मनुष्य अन्यको तुच्छ गिनते हैं तथा जिससे हमारी प्रशंसा न हो ऐसे कृत्यसे उनमेंसे भी निर्दोष चारित्र होने पर भी दोष प्रगट करनेमें नहीं चूकते। मनुष्योंने अपने स्वार्थके लिये समाजकी स्थापना की और जो पुरुषार्थी हुए उन्होंने अपनी सत्ता कायम की और अपने कार्यके लिये जिन मनुष्योंने स्वीकारता दी वे कालान्तरमें वही कहलाने लगे। अर्थात् जिन लोगोंने वस्त्रोंको स्वच्छ किया वह धोबी और जिन्होंने बाल बनानेका कार्य किया वह नाई कहलाने लगे। इसी तरह भंगी चमार आदि अनेक जातियाँ हो गयीं। मनुष्य समान होने पर भी कार्यके भेदसे कोई तुच्छ कोई उच्च हो गये। उच्चता आत्मामें पाप त्यागसे होती है परन्तु अब जो उच्च जातिमें पैदा हुआ वह अपनेको उच्च मानता है।

(२९।१।५१)

१० काका कालेलकर विद्वान् हैं। आपने हरिजनोंके विषयमें बहुत कुछ व्याख्यान दिया। यहाँ तक कह गये कि यह स्पृश्या-स्पृश्यका रोग जैन धर्मका नहीं, हिन्दू धर्मसे आया है। यदि जैनियोंमें ऐसी ही प्रवृत्ति रही तब मुझे कहना पड़ेगा कि आप लोग नामसे नहीं तो परिणामसे हिन्दू बन जावेंगे। जैनधर्म अत्यन्त विशाल है। इस धर्मकी यह विशालता है कि चारों गतिके जीव जो संज्ञी पञ्चेन्द्रिय हैं वे अनन्त संसारके दुःखोंको हरनेवाले

सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर सकते हैं। धर्म किसी जाति विशेषका नहीं, धर्म तो अधर्मके अभावमें होता है। अधर्म आत्माकी विकृतावस्थाको कहते हैं। जब तक धर्मका विकास नहीं तबतक सब आत्माएँ अधर्म रूप ही रहती हैं। चाहे ब्राह्मण हो, चाहे क्षत्रिय हो, चाहे वैश्य हो, चाहे शूद्र हो, शूद्र में भी चाहे चाण्डाल हो चाहे भङ्गी हो—सम्यग्दर्शनके होते ही वह जीव कोई जातिका हो पुण्यात्मा जीव कहलाता है अतः किसीको हीन मानना अनुचित है।

(१९। २। ५१)

८८ बाबा कालेलकरजी ने जो कहा वह प्रायः हरिजन विषयक था और मनुष्य समाजके नाते उनका उपकार करना ही चाहिये। यह तो यहाँ तक कह गये कि जैनधर्ममें यह व्यवहारकी प्रथा न था। यह तो हिन्दू सम्प्रदायमें ली हुई वस्तु है। यदि जैन जनता इसे अपनावेगी तब मैं उन्हें हिन्दू कहूँगा क्योंकि स्पृश्यास्पृश्यता उन्हीं का ध्येय है।

(२१। २। ५१)

८९ ज्ञानका आदर नहीं। जो कुछ द्रव्य लोग व्यय करते हैं मन्दिरोंमें ही लगाते हैं। ज्ञान गुण आत्माका है उसके विकासमें न द्रव्य लगाते हैं और न समयका सदुपयोग करते हैं। केवल बाह्यमें सङ्गमरमर आदिका फर्श लगाकर तथा वेदीमें स्वर्ण आदिकी चित्रकारी कराकर नयनोंके विषयको पुष्ट करते हैं। आत्मा का स्वभाव ज्ञाता-दृष्टा है उसको दूषित कर राग और द्वेषके द्वारा किसीको इष्ट और किसीको अनिष्ट मानकर निरन्तर परको अपनानेमें ही दुःखके पात्र बनते हैं। (२४। २। ५१)

९३ जैनधर्म विश्व धर्म है, प्राणीमात्रके कल्याणका कारण है परन्तु आजकल मनुष्योंने इसे अपना धर्म समझ रक्खा है।

किसीको उच्चदृष्टिसे नहीं देखते। कहाँ तक कहें। आज अन्यको उसका पात्र नहीं समझते।

(२०।३।५१)

१४ सभी सुविधाओंके होते हुए भी तीव्र कषायके शमन-का कोई साधन नहीं। धनिक वर्ग बाह्य सामग्री द्वारा सुन्दर मका-नोंमें ही बैठकर अपना रुपया खर्च करनेमें अपनी प्रभुता मानते हैं। किसीके यह परिणाम नहीं होते कि यहाँ एक विद्वान् स्वाध्याय करनेके लिए रहे। केवल पत्थरादि जड़ोंके ऊपरी चमक दमकमें प्राणियोंके मनको मोहित करनेमें रुपयेका उपयोग करते हैं। प्रथम तो इन बाह्य वस्तुओंके द्वारा आत्माका कुछ भी कल्याण नहीं होता। द्वितीय जो कल्याणका मार्ग है 'कषायका कृशता' सो इस बाह्य सामग्रीसे उसकी विपरीतता देखी जाती है। कृशता और पुष्टतामें अन्तर है। विषयोंके सम्बन्धसे कषाय पुष्ट होती है और ज्ञानसे विषयोंमें प्रेम नहीं होता सो इन दोनोंमें मान साधारण रूप से अभाव है।

(२७।३।५१)

१५. आजकल धर्मका मर्म दम्भमें रह गया है। दम्भी पूजे जाते हैं।

(१।४।५१)

१६ किसीको तुच्छ रूपमें देखना धर्मका स्वरूप नहीं। यह कषाय परिणतिका कार्य है तथा कषायोदयमें किसीको भी अ[illegible] कहना अन्याय है।

(८।५।५१)

१७ तालबहट (झाँसी) में एक रामस्वरूप योगी हैं। संस्कृतके अच्छे विद्वान् हैं, साहित्यके आचार्य हैं। आप योगी हैं अतः ब्राह्मण लोग इनसे वह प्रेम नहीं रखते जो सजातीय ब्राह्मणों[illegible] रखते हैं। आप हाईस्कूलमें अध्यापक हैं। संस्कृत पाठशाला प्रा[illegible]

बेच चला रहे हैं। उसमें कई हरिजनोंको विशारद मध्यमा तक परीक्षा उत्तीर्ण करा चुके हैं। यह सब उच्च वर्णवालोंको अप्रिय प्रतीत होता है। न जाने लोगोंने इतनी संकीर्णता क्यों अपनाई है? किसी किसी व्यक्ति विशेषकी नहीं फिर भी इतनी संकीर्णता क्यों? यह सब मोहका कार्य है जो हम ही उच्च कहलावें, चाहे कितना ही नीच काम करें।

(१२।७।५१)

२८ जैनधर्म आत्मधर्म है। लोगोंने उसे निज सम्पत्ति मान रक्खा है। अतएव मन्दिर आदि जो धर्मके आयतन हैं उनमें अन्य लोगोंके आनेका निषेध करते हैं। माना, उनका बनाया जो मन्दिर है वह उन्हींका है किन्तु उसमें जो मूर्ति स्थापना करते हैं वह भी उन्हींकी है। फिर भी जिसकी स्थापना करते हैं वह उनका नहीं। उसमें अपनी स्थापना कर लें या अपने पितादिककी स्थापना कर लेवें तब तो अन्यका रोध करनेका अधिकार कथञ्चित् हो सकता है परन्तु श्रीआदिनाथदेवकी स्थापना कर परको रोकना सर्वथा अनुचित है। यह आत्मा निगोदसे जहाँ एक श्वासमें अष्टादश बार जन्म होता है निकलकर मोक्षका पात्र होता है फिर संज्ञी मनुष्य होकर मन्दिर जानेका भी पात्र न हो बुद्धिमें नहीं आता।

(१५।१२।५१)

२९ आजकल केवल द्रव्य प्राप्तिके लिए ही धर्म कार्य होते हैं। जिसने द्रव्य दिया उसकी प्रशंसा होने लगी।

(२१।१२।५१)

उच्चता और नीचता

१ संसारमें सभी अपना उत्कर्ष चाहते हैं अपनेको कोई

तुच्छ नहीं मानता। इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा स्वभावसे उच्च है परन्तु इन कलङ्कोंके द्वारा नीच सदृश हो रहा है।

(७।४।४७)

२ जितने मनुष्य हैं सब अपनेको उच्च समझते हैं। किसी तरह उनका ऐसा समझना संगत भी है क्योंकि सारे आत्मा हैं। सबका स्वरूप ज्ञाता दृष्टा है। उच्चता और नीचता व्यवहार मोहकर्मके औपाधिक भावसे होता है। जैसे मद्यपान कर मनुष्य उन्मत्त हो जाता है। उस समय उसका जो व्यवहार होता है वह मदिराके निमित्तसे हुई जो उन्मत्तता है तत्कृत है। वह मनुष्यका स्वभाव नहीं। यदि मनुष्यका स्वभाव होता तो सर्वदा उस व्यवहारकी प्रवृत्ति दृष्टिगत होती देखी जाती, अतः सिद्ध हुआ कि ज्ञाता दृष्टा आत्मा स्वभावसे ही है। इसके अतिरिक्त जितने भाव होते हैं वे सब औपाधिक हैं। उनमें परकृत जान ममता न करना। अतः जो मनुष्य अपनेको उच्च माननेकी चेष्टा करता है वह भी स्वकीय परिणामोंसे गिरा हुआ है। जैसा वह वैसा वह। तत्त्व तो यह है कि परपदार्थोंमें जब निजत्वबुद्धि हट जाती है तब अनायास ही उच्चता नीचताका भाव स्वयमेव विलीन हो जाता है।

(२२।२।५१)

३ उच्च और नीच व्यवहार परकृत है। आत्मा न तो उच्च है, न नीच है, वह तो ज्ञाता दृष्टा है।

"ण वि होदि पमत्तो न अपमत्तो जाणओ दु जो भावो।
एव भणन्ति सुद्ध णाओ जो सो उ सो चेव ॥"

४ आत्मा न तो प्रमत्त है और न अप्रमत्त है, क्योंकि जहाँ तक प्रमादका उदय है इसे प्रमत्त कहते हैं तथा प्रमादके अभावमें अप्रमत्त कहते हैं।

(८।५।५१)

स्त्रियोंकी समस्याएँ

१ कन्याओंको शिक्षा देनेकी ओर समाजका कोई भी ध्यान नहीं। विवाहमें समाज लाखों रुपया व्यय करती है परन्तु कन्याके कर्तव्यको समझानेका कुछ भी ध्यान नहीं।

(५।२।५१)

२ प्राचीन ऋषियोंने यहाँ तक लिख दिया है कि—"स्त्री-शूद्रौ नाधीयाताम्" स्त्री और शूद्रको नहीं पढ़ाना चाहिए। यह अन्याय नहीं तो क्या है? स्त्रीको पूजन करनेका अधिकार नहीं। उनके हाथका बना नैवेद्य चाहे देवता, मुनिआदि सब मान लेते हैं, प्रतिग्राम इन्द्राणी बनती है, परन्तु न जाने इन मनुष्योंने कितने प्रतिबंध लगा रक्खे हैं? अन्य कथा छोड़ो, यहाँ तक आज्ञा कि एकान्तमें अपनी माँसे भी मत जाना। 'माँ' शब्द उपलक्षण है। स्त्रीमात्रका ग्रहण है। परिणामोंकी मलीनता जैसे जैसे वृद्धिको प्राप्त हुई वैसे वैसे यह सब नियम बने।

(१२।७।५१)

३ स्त्री समाजकी उपेक्षा न करो। स्त्री समाज उदार और सरल होती है। हम लोग उनकी उपेक्षा करते हैं। इसका जो फल हुआ सो प्रत्यक्ष है। आप जानते हैं स्त्री समाजको नीरोग रखना ही मनुष्य समाजके हितका मार्ग है। यदि स्त्री समाज नीरोग न होगा तो मनुष्य समाज कभी नीरोग न रहेगा परन्तु इस ओर हमारा अणुमात्र भी लक्ष्य नहीं। शरीरका पोषक भोजन है वह भोजन स्त्री वर्गसे ही हमें मिलता है। मनुष्य (पुरुष) समाज जब भोजन कर लेता है तब स्त्रीसमाज भोजन करता है। विचारो तो सही, जब १० बजे तक पुरुष भोजन करते रहते हैं तब बादमें

उनका अवसर आता है। प्रथम तो भोजन ठंडा हो जाता है, दूसरे भोजन बेला टल जाती है। वैद्य लोगोंका कहना है कि—

"याममध्ये न भोक्तव्यं यामद्वयं न लंघयेत्।"

यदि किन्हीं मनुष्योंको पहले भोजन करना पड़े तो वे बासे अन्न खाते हैं जो उनके स्वास्थ्यके सर्वथा प्रतिकूल रहता है। एक यह भी बात है कि जो उत्तमसे उत्तम वस्तु होगी वह न पुरुष वर्गको खिला देगी। इन कारणोंसे उनकी नीरोगता चिरस्थायिनी नहीं रहती। तथा पुरुष लोग मर्यादासे अधिक विषय सेवन करते हैं इससे क्षय नाना रोग तथा राजयक्ष्मा आदि रोग भारतवर्षमें वृद्धिपर हैं। अतः जो मनुष्य स्वात्माका हित चाहते हैं उन्हें सबसे प्रथम सदाचारी होना चाहिये। दो या तीन सन्तानके बाद सन्तान पैदा करनेकी लिप्साका त्याग देना चाहिये। ५० वर्षके बाद अपने जीवनको आत्मकल्याणमें लगा देना चाहिये।

(२७, २८।७।४१)

अभ्युदयकी ओर

१ यह निश्चित है कि कोई भी मनुष्य किसीसे भी तिरस्कार जनक शब्द सुननेके लिये प्रस्तुत नहीं। शिष्य गुरुसे अध्ययन करता है परन्तु शिष्यता सदा सुरक्षित रहे यह नहीं चाहता। शिष्य हो कर भी निरन्तर गुरु बननेकी भावना रखता है। जब भगवानकी पूजा कर निवृत्त होता है तब यही पाठ तो पढ़ता है—

"तव पादौ मम हृदये मम हृदयं तव पदद्वये लीनम्
तिष्ठतु जिनेन्द्र तावत् यावन्निर्वाणसम्प्राप्तिः॥
तव पद मेरे हियमें, मम हिय तेरे पुनीत चरणोंमें।
तबलौं लीन रहै प्रभु जबलौं न प्राप्ति मुक्तिपदकी हो॥"

इससे सिद्ध होता है कि कोई भी जीव अपनी जघन्य अवस्था को नहीं चाहता। देखिये मूर्खसे मूर्ख जब मन्दिरमें दर्शन करने जाता है तब यही तो प्रार्थना करता है कि हे भगवन्! हम संसार बन्धनसे मुक्त कर दो। इसका यही अर्थ तो हुआ कि हम भगवान हो जावें। अतः जब आत्मा उस पदको चाहता है जिससे उत्कृष्ट अन्य पद नहीं तब वह कार्य करो जिससे यह संसार बन्धन ही न हो। फिर तुम्हें भगवानके पास जाकर याचना करनेकी आवश्यकता न होगी कि—हमारा बन्धन काट दो, क्योंकि बन्धनका मूल कारण कषाय है, कषायके अभावमें बन्धन नहीं होता। अतः जिन्हें भगवान होनेकी अभिलाषा है वे भगवानसे प्रार्थना करना त्यागकर भगवन्निर्दिष्ट मार्गपर चलनेकी चेष्टा करें तो अनायास भगवान हो जावेंगे और यदि पथ पर न चलकर केवल भिखारी बने रहेंगे तब भगवान बनना तो असम्भव ही है भगवानका नाम भी न ले सकोगे।

(२५।७।५१)

९. संसारका कल्याण वही कर सकता है जो स्वयं संसारसे विरक्त हो। जिस मनुष्यने अपने ऊपर शासन नहीं किया वह अन्यका शासक हो यह सर्वथा असम्भव है।

आजकल सब मनुष्य नेता बननेके प्रयासमें हैं। जो मनुष्य आत्मीय गुणोंका विकाश करनेमें असमर्थ है, निरन्तर व्यग्र रहता है, जिसका कोई लक्ष्य नहीं ऐसा उद्देश्यशून्य मनुष्य क्या उपकार करेगा? जो स्वयं दरिद्र है वह परका पोषण क्या करेगा? जो स्वयं अन्धा है वह परको मार्ग नहीं दिखा सकता। इसी तरह जो स्वयं आत्मज्ञानशून्य है वह परके हितकी बातें क्या करेगा?

(२६।७।५१)

नशा निषेध

१ मन्वादि आदि लोग मद्यपान बहुत बुरा कहते हैं, प्राय ये वकर्मी मदिरा पान कर जाते हैं जब इनके पास द्रव्य सचय नहीं होता। आरतराज्य, सभापति, मन्त्री आदि इसकी रोकनेमें प्रयत्न शील हैं परन्तु ऐसा उद्धार कैसे हो? इसपर दृष्टि नहीं। जो लोग जनमानस सुधार करते हैं केवल उनसे कहते हैं कि इनसे घृणा मत करो। उचित हो है, परन्तु जबतक इन लोगोंमें मद्य सामग्री प्रचार है तबतक न तो लोग इनके साथ सम्मानका व्यवहार करेंगे और न उनका सुधार भी होगा। उनके साथ घृणा आदि सहजमें दूर हो सकती है। प्रथम तो राज्यकी ओरसे मद्य बिक्री रोका जाय, क्योंकि मद्य (मदिरा) पान करके मनुष्य उन्मत्त हो जाता है और उन्मत्त अवस्थामें अपने स्वरूपको भूल जाता है। इसका कारण है कि मदिराका प्रभाव इन्द्रियादिकों पर पड़ता है। वे काम तो करता है परन्तु विपरीत करने लगती हैं। यहाँ तक देखा जाता है कि उसका मनुष्य माताको भार्या और भार्या को माता मानने लगता है। मदिराके नशामें अनेक निकृष्ट व्यवहार करने लग जाता है। यदि उसके मुखमें कुत्ता भी मूत्र कर दे तब उसे 'मधुर है, मधुर है' ऐसा कहते हुए भी लज्जाका पात्र नहीं होता। इसके अतिरिक्त—गांजा, चरस, मदिरा लिया करो किया जाय। भारतवर्षमें करोड़ों रुपयेकी आय सरकारको तमाखूसे होती है। आज यह छूट जाय तब करोड़ों आदमी निरोग हो सकते हैं। राज्य जो चाहे सो कर सकता है। क्योंकि सत्ताका बल है। आज जो भी अधिकारी वर्ग है वह स्वयं सिगरेट पान करते हैं। यहाँतक देखा कि अधिकांश मद्यादि पान भी करते हैं। अन्य विभागके अधिकारियोंकी क्या छोड़ो, जो धर्मकी शिक्षा देते हैं व स्वयं

सिगरेट पान करते हैं। उनके द्वारा सुकुमार बालक वहाँतक शिष्टा-चारका पालन करेंगे अतः यदि देशका श्रेय चाहते हो तब इन नशाकारक पदार्थोंका त्याग करो। जिनसे परिणाममें विकृति पैदा हो ऐसे पदार्थ भी त्यागो। जिन पदार्थोंके भक्षण करनेसे विशेष रोग उत्पन्न हो उनका भी त्याग करो। उदरसे न्यून भोजन करो, निरन्तर भोजनकी कथा मत करो। मनको मलीनता जिनसे हो ऐसे भक्ष्य पदार्थ भी त्यागो। जो मनुष्य मिले उसे त्यागकी बात बताओ।

(२९।१०।४। तथा ३।९।५१)

भयङ्कर भूल

१. लोग जिन कार्योंमें रुपया मानते आ रहे हैं उनसे भिन्न कामोंमें आवश्यकता होनेपर भी एक पैसा व्यय नहीं करना चाहते। देखा गया है कि मन्दिरमें नवीन वेदियाँकी आवश्यकता नहीं फिर भी उसमें वेदी जड़वा देंगे, (१०,०००) तक व्यय कर देवेंगे। पड़ोसमें जाति भाई आजीविकासे भी रहित होगा तो भी उसे १०) पूँजीका न देंगे। सिद्धचक्र विधानमें हजारों रुपया व्यय कर देवेंगे किन्तु एक विद्यार्थीको पढ़ानेमें (१००) भी न देवेंगे। पञ्च कल्याणककी आवश्यकता न होनेपर भी ५०,०००) रुपया व्यय करनेमें विलम्ब न करेंगे। किन्तु अपने ग्राममें ही धर्म शिक्षा देनेके लिए एक अध्यापकको ५०) देनेमें उनका हृदय द्रवीभूत न होगा। देशमें लाखों मनुष्य अन्नके कष्टसे पीड़ित होनेपर भी लोग विवाहादि कार्योंमें लाखों रुपया पानीकी तरह फूँक देनेमें संकोच न करेंगे। लाखों रुपया शरीरको चमक दमकमें स्वाहा कर देवेंगे परन्तु अन्न वस्त्र विहीनकी रक्षामें ध्यान न देवेंगे। देवदर्शनादि करनेका समय नहीं मिलता ऐसा बहाना कर देवेंगे परन्तु सिनेमा

आदि दुर्व्यसन और व्यसन हों और इनसे परहेज न करे। धिक् इन भावोंको।

(१९।७।५१)

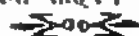
ग्रामोंकी ओर

१ ग्रामीण नर बहुत ही सरल और उदार होते हैं। इनमें मायाचारका प्रवेश नहीं होता। तथा विषयोंके लम्पट भी नहीं होते। कारण भी ऐसे ग्रामोंमें नहीं होते अतः इनके संस्कार निर्मल होते हैं। (१०।३।५१)

२ अभी तक ग्रामीण मनुष्योंमें आतिथ्य सत्कार है। पर साथमें देखा जाय तब यह सब व्यवहार लौकिक मनुष्योंका कृत्रिम महत्ता रखता है। शुद्धोपयोगकी न तो इनको इच्छा है और न यह इसको उपयोगी ही समझता है।

(१९।३।५१)

३ प्रायः जहाँ व्याख्यानोंका विशेष प्रचार है तथा बहुजन समुदाय जहाँ निवास करता है, अनेक धर्मायतन जहाँ हैं तथा विषय विकारके साधन विपुल हैं वहाँ अनेक अनर्थोंकी राशि देखी जाती है। इसका कारण यह है कि वहाँ पुष्कल विषयोंकी सामग्री पाई जाती है। यह प्राणी अनादिसे परको निज मानता है। जहाँ पर यह विषयकी पुष्कल सामग्री होती है वहाँपर लोग विषयोंके लम्पटी हो जाते हैं और जब विषयोंकी पूर्णता नहीं होती तब जैसे बने वैसे पूर्ति करनेकी चेष्टा करते हैं। इसके लिये अनेक अनर्थ करते हैं। हिंसादि पाँच पापोंमें प्रवृत्ति करनेमें अनायास प्रवृत्त होने लगते हैं। अतः जिनको इन विषयोंमें न फँसना हो उन्हें शहरका निवास नहीं करना चाहिये।



(२०।५।५१)

सूक्ति सुधा

१ संसारकी यही दशा है कि जो वस्तु आज जिस रूपमें है कल उसका अभाव है। संसारकी यह परिवर्तनदशा देख किसी भी वस्तुका अभिमान मत करो। तुम स्वयं जो आज हो कल नहीं रहोगे। जो पदार्थ आज दिन तुम्हारे हैं कल वे सब पलट जावेंगे। तुम स्वयं परिवर्तनशील हो पलट जाओगे।

(१।१।४७)

२ श्रीमहावीर स्वामीकी मनोहर मूर्तिके दर्शनसे वीतरागताका अनुमिति होती है। शरीरकी मुद्रा और है। वीतरागता आत्माकी परिणति है उसका दर्शन नहीं होता यह तो अनुभवगम्य है।

(२।१।४७)

३ गल्पवादमें स्वपर मनोरञ्जनकी चेष्टा अपाय कारिणी है।

(६।१।४७)

४ संसारमें सभी मनुष्य कीर्ति चाहते हैं परन्तु कीर्ति होना पुण्यके अधीन है। पुण्यका लाभ शुभ परिणामोंके अधीन है तथा शुभ परिणाम उत्तम कार्योंके करनेसे होते हैं। उत्तम कार्य वह है जिनसे प्राणियोंको कष्ट न पहुँचे। सबमें उत्तम तो वह जीव है जो स्वयं अपनी आत्माको कष्ट नहीं देते। जो मनुष्य अपनी आत्माको संसार यातनाओंसे नहीं बचा सकता वह परको बचावे यह असम्भव है।

(१५।१।४७)

५. आगमकी कथा द्वारा ही प्रायः अनेक जीव आत्मतत्त्वका ज्ञान करते हैं। परन्तु श्री कुन्दकुन्द महाराजका कहना यह है कि आगम, गुरुपरम्परा तथा तर्क इन सभीसे परे स्वीय अनुभवमें वस्तुका निर्णय करो। जिस पदार्थका निर्णय आगमसे वर्षोंमें नहीं हो पाता उसका निर्णय अनुभवसे मिनिटोंमें हो जाता है।

(१६।१।४७)

६. भोजनकी विशेषता न जानेसे है शुद्ध हो तथा सादा हो।

(२।१।४७)

७. जहाँ तक बने मनको वशमें करनेकी चेष्टा करो। भोजनकी शून्यता और पर पदार्थोंमें ममता छोड़ो। ममताका मूल कारण अनात्मीय पदार्थोंमें आत्मीय बुद्धिकी कल्पना है। इस अनात्मीय बुद्धिके त्याग बिना यह ममता छूटना अति कठिन है।

(५।२।४७)

८. जो मनुष्य मद्याचारशील होता है उसका पद पदमें पतन होता है।

(२५।२।४७)

९. वर्तमानमें अधिक सरल होना लौकिक उन्नतिका बाधक है। यह समय इतना भयानक है कि सरल मनुष्योंकी गणना पशुमें की जाती है।

(२६।२।४७)

१०. चित्तकी स्थिरता तथा चञ्चलता दोनों ही शुभ और अशुभ हैं। मनोव्यापार जहाँ शुभ कार्योंमें प्रवृत्ति करता है वहाँ पर चाहे वह स्थिर हो चाहे चञ्चल हो शुभ ही कहलाता है। जहाँ अशुभ कार्योंमें प्रवृत्ति करता है वहाँ चाहे चञ्चल हो चाहे स्थिर हो अशुभ ही है। मनकी चञ्चलता आत्मसुखकी घातक नहीं,

उसम जो कषायकी पुट है वही इसको संसारमें फन्सानेवाली है। चाहे वह शुभोपयोगकी साधक हो, चाहे अशुभोपयोगकी जननी हो।

(१३।२।४७)

११ अपने दोषोंको कोई नहीं कहना चाहता, निरंतर महान यत्नसे चेष्टा करता है, मन ही काम अन्यथा करे, यही तो मूल है।

(१६।२।४७)

१२ लोकैषणाकी मूर्च्छा ही तो कम काय करनेमें प्रवृत्ति कराती है। भयसे जो बचना है उसम भी यही लोकैषणा कारण है। लोक भयसे कोई पाप छोड़ना कोई मोक्षमार्गका साधक नहीं। जैसे पित्त रोगके भयसे कोई उष्ण पदार्थ छोड़ दे तब वह उसका त्यागी नहीं। इसी प्रकार नरकादि भयोंसे पापसे बचना लाभप्रद नहीं, परमार्थ वस्तुके मनन करनेसे ही आत्मलाभ होता है।

(१८।२।४७)

१३ मनुष्य पर्यायका प्रत्येक क्षण दुर्लभ है। इसमें प्रमाद मत करो। शुभ परिणामोंकी परम्पराका घात मत करो। अशुभ परिणामोंको आश्रय मत दो। गृहस्थोंके संसर्गसे आत्महानि होती है।

(२१।२।४७)

१४ वास्तवमें केवल पदार्थ ही रहना संसारका नाशक है। जहाँ दो पदार्थोंका सम्पर्क है वहीं सब उपद्रव है। जो सृष्टि हमारे देखनेमें आती है वह दो पदार्थोंके विलक्षण सम्बन्धसे उत्पन्न हुई है। दो पदार्थोंका तादात्म्य तो होता ही नहीं, बन्ध ही होता है। जब इस प्रकारकी वस्तु मर्यादा है तब हमें उचित है कि इन पर

पदार्थमें अपना सम्बन्ध मान दवें। आत्मा एक पदार्थ है, उसका लक्षण ज्ञानदर्शन है, उसमें भिन्न जितने भी पदार्थ हैं उनमें देखने जाननेकी शक्ति नहीं, यत न तो उनमें दुःख वेदन होता है और न सुख ही होता है। यह सब विकार आत्मद्रव्यमें ही होते हैं। रागादिक भाव भी आत्माके हैं परन्तु पौद्गलिक कर्म विपाकके उदयमें होनेसे विकृत भाव हैं अतएव हेय हैं। सर्वथा परका मानना उचित नहीं। यदि हेय हैं तब अपने ही हैं। हेय इससे हैं कि परनिमित्तक जायमान हैं तथा आकुलताके जनक हैं। क्षायिक भाव भी तो कर्मके अभावमें होता है, पारिणामिक नहीं परन्तु हेय नहीं। उपशमादि सम्यक्त्व भी तो कर्मके उपशमादिसे होते हैं, उनको हेय नहीं कहा। जब क्षायिक सम्यक्त्व होता है, यह पर्याय स्वयमेव नहीं रहती। चारित्रके उदय होते ही रागादिक स्वयं विलय जाते हैं फिर भी उन्हें हेय माना है क्योंकि रागादिक परिणाम आत्माको आकुलताके उत्पादक हैं। इस तरह उपशमादि परिणाम आकुलताके जनक नहीं। ये भाव यद्यपि कर्मके उपशमसे होते हैं फिर भी इनमें उनमें बड़ा अन्तर है, वे भाव कर्म बन्धके कारण हैं, उपशम भाव बन्धके कारण नहीं। जो भाव आत्माको संसारमें रुलाते वे हेय हैं। चरणानुयोगमें जो त्याग बताया है उसका यही तात्पर्य है कि रागादि भाव छूटें तथा चरणानुयोगमें जो विधि है उसका तात्पर्य भी मोक्षपरम्परा निवृत्ति परक ही है।

(२५ । ५ । ४७)

१५. मनुष्योंको उचित है कि अपनी प्रतिज्ञासे च्युत न हों अन्यथा उनकी कोई प्रतिष्ठा नहीं।

(२८ । ५ । ४७)

१६. शूरता ही संसार परम्पराको नाश करनेवाली शक्ति है।

जो कायर होते हैं वे न तो लोकमें प्रतिष्ठा पाते हैं और न परलोकमें ही।

(२३।६।४७)

१७ परमार्थसे पापोंका प्रायश्चित्त 'पाप करनेका अभिप्राय न रहे' यही है। परका विभव देख विषाद न हो और निज गुणका विकाश हो, उसमें अभिमान न हो। ऐसा होना बुरा नहीं है।

(२७।६।४७)

१८ जबतक अनात्मीय पदार्थोंमें रुचि है तबतक यही उपद्रव है। सम्यग्दृष्टिके भी तो भोजनादिकी यही चेष्टा रहती है। आसक्तता ही उसमें कारण है। जो उसमें आसक्त नहीं, काल पाकर एकदम विरक्त हो जावेगा।

(३०।६।४७)

१९ संसार है। यहाँ तो मनुष्य स्वार्थ देखते हैं। तदनन्तर [illegible] होना चाहिए। यहाँ तो जिसने स्वार्थ साधा वही मनुष्य बन्धनसे छूट गया। परन्तु यहाँ तो नहीं साधा।

(१०।७।४७)

२० जो मानव जातिका कल्याण करनेके इच्छुक हैं उन्हें उचित है कि मनुष्य जातिको पञ्च पापसे रक्षित करें अन्यथा कल्याण नहीं हो सकता। जो पापाचार छोड़नेमें असमर्थ हैं वह संसार बन्धनसे नहीं छूट सकते। बन्धका करनेवाला पाप ही तो है।

(२२।७।४७)

२१ प्रतिकूल कारण उपस्थित होने पर यदि चित्तमें उद्वेग न हो, उद्वेग ही नहीं पदार्थान्तरमें अन्यथा भाव न हो तो समझो हमारी प्रवृत्ति कुछ सरल मार्गकी ओर जा रही है।

२२ भूलकी खनि तुम स्वयं हो। निमित्त कारणों पर आरोप करना अपनेको गर्तमें पटकना है।

(२३।७।४८)

७३ वस्तु स्वरूप निरूपण करनेवाला यदि वस्तुके स्वरूपको न जाने तब निरूपण करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। जिसने मिश्री भक्षण नहीं की वह मिश्रीका स्वाद नहीं कह सकता। मिश्रीका स्वाद मिश्रीमें नहीं क्योंकि मिश्री अचेतन है। जिसमें चेतना है उसमें पदार्थ जाननेकी सामर्थ्य है। आत्मा ही इसका यह जानता है कि मिश्री मधुर होती है। यह भी जानता है कि इस ज्ञान घालता है। वस्तुतः यह ज्ञानका विषय मिश्री मीठी होती है, नीम कटुक होता है, मिर्च चरपरी (तिक्त) होती है यह नहीं। यह तो निर्विकल्प ज्ञान है, शब्दातीत है। इसका विषय क्या है यह हमारे ज्ञानमें नहीं आता। हमारा जो ज्ञान है उसका अनुभव हमको है। हम इससे आगे ज्ञानके विषयको नहीं कह सकते। यथार्थ ज्ञानका क्या विषय है, यह तो सर्वथा अगम्य है।

(२१।७।४७)

७४ संसारमें प्रत्येक पदार्थ परिणमनशील है, कूटस्थ नहीं। किसी भी पदार्थका नाश नहीं होता। केवल पदार्थमात्र एक अवस्थाको त्याग कर अवस्थान्तरको ग्रहण करता है। जैसे मृत्तिकाका घट बनता है। अर्थात् पहिले मिट्टी पुद्गल पर्यायमें स्कन्ध रूपसे थी, पश्चात् कुम्भकार द्वारा पानीके सम्बन्धसे गीली अवस्थामें हुई। पश्चात् स्थासादि अवस्थाओं द्वारा घट रूप हो गई।

(११।८।४७)

७५ बहुत मनुष्योंमें गल्पवाद ही की प्रचुरता रहती है। एकान्तमें चित्त विक्षेपताके कारणोंकी प्रचुरता नहीं रहती। चित्तमें व्यग्रताका कारण प्रतिकूल सामग्रीका सद्भाव है। जहाँ प्रतिकूल सामग्रीका सद्भाव रहता है वहाँ चित्त शुद्धताकी उत्पत्ति नहीं होती। संक्लेशताका उदय होता है।

(२१।८।४७)

२६ शरीरमें कोई रोग नहीं। वास्तवमें रोग तो आत्मामें है। जब आत्मामें कषाय उत्पन्न होती है तब यह उनके शमन करनेके अर्थ नानाप्रकारके मनोरथ करता है। मनोरथ कितने ही कर परन्तु भोगनेके लिये केवल स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द ही पाँच पदार्थ हैं।

(१३।८।४७)

२७ संसारमें दुःखका मूल कारण परपदार्थोंमें स्वामीपनेका है। जहाँ स्वामीपन है वहाँ इष्टानिष्ट कल्पना होती है। जो इष्ट हुआ उसे अनुकूल और जो अनिष्ट हुआ उसे प्रतिकूल मान लेना ही दुःखका कारण है।

(२२।८।४७)

२८ आत्मामें चारित्र गुणका एक ऐसा भी विलक्षण परिणाम होता है जो आत्माके न चाहने पर भी संवर और निर्जराका कारण हो जाता है।

(२१।९।४७)

२९ जो छात्र अपना लक्ष्य पठन पाठनसे हटाकर अन्य कार्यमें लगाता है वह गलत मार्ग पर है। मनुष्यको एक लक्ष्य स्थिर रखना चाहिये। बिना लक्ष्य स्थिर किये उन्नति होना कठिन है।

(२७।९।४७)

३० संसार उपद्रवोंका घर है। वह धन्य है जो संसारसे पृथक् हो गये। संसारसे पृथक् होनेका मूल मन्त्र पर पदार्थमें मूर्च्छाका त्याग है। परमें जो निजत्व बुद्धि है उसे त्यागो। कहनेमें कोई बड़ी बात नहीं परन्तु करनेमें कष्ट है।

(२९।९।४७)

३१ मनुष्यको साहस चाहिये बड़े-बड़े कार्य कर सकता है।

(३०।९।४७)

३२ प्रतिज्ञा पर दृढ रहना विजयका कारण है। यदि आत्मा चाहे तब संसार पर विजय प्राप्त कर सकता है।

(३०।१०।४७)

३३ वास्तवमें पित्तरोगीको मिसरी नहीं रुचती। एवं जिनके हृदय मलिन हैं व धर्मसे विमुख रहते हैं। पर पदार्थको अपना मानना ही उनका कार्य है।

(११।११।४७)

३४ ज्ञानका निमित्त पाकर परिणामोंकी निर्मलता हो जाती है। बहुत बार ऐसा देखनेमें आया कि कालादि निमित्त पाकर परिणाम निर्मल हो जाते हैं।

(१८।११।४७)

३५ बुद्धिकी न्यूनतामें शक्ति होकर भी उत्तम कार्य करनेसे वञ्चित रहते हैं यह सब अज्ञानका फल है।

(२९।११।४७)

३६ मूर्ख मनुष्योंको रञ्जायमान करना अति कठिन है। उन्हें स्वपरविवेक नहीं, क्योंकि उन्होंने कभी शास्त्रज्ञ पुरुषोंका संसर्ग नहीं किया।

(८।१२।४७)

३७ आजकल संसारमें धन पुरुषार्थकी मुख्यता है।

(९।१२।४७)

३८ परमेश्वरसे सुखाभिलाषा करना सुखका साधक नहीं।

(१३।१२।४७)

३९ संसारकी अवस्था यही है कि जिसका उदय है उसका नाश भी।

(१६।१।४८)

४० भवितव्य दुर्निवार है। प्राणियोंके सुख दुख उसी पर अवलम्बित है

(१७।१।४८)

४१ कल्याण प्राप्तिके लिये केवलभावना परमावश्यकता है। बात कहनेमें कुछ भी नहीं लगता परन्तु तद्रूप होना कठिन है। हम लोग पर पदार्थोंमें गुण दोषकी विवेचना करते हैं। पर ही गुणोंका उत्पादक है, और पर ही दोषका जनक है, यही हमारी विरुद्ध धारणा है।

(२८।१।४८)

४२ जिस व्याख्यानको कहकर आप स्वयं उसके करनेमें अशक्य हो तब उस व्याख्यानसे क्या लाभ? अन्धकी लालटेन सदृश है। जिसको श्रवण कर कोई आचरण न करे उससे भी क्या लाभ? सर्वथा इसका निषेध नहीं परन्तु वर्तमानमें ज्ञानमात्र लाभ है।

(२२।२।४८)

४३ अन्तर्दृष्टिसे कार्य लो, कोई किसीका नहीं, बाह्यदृष्टिसे इष्ट कार्य नहीं होता।

(२६।२।४८)

४४ भावनाका फल कभी नहीं मिल सकता। भावना तो यहाँ तक होती है कि त्रैलोक्यके प्राणियोंका कल्याण हो परन्तु होना अशक्य है।

(१५।३।४८)

८५ दुःखका कारण अधीरता है। अधीरताका मूल कारण संसारकी लोलुपता है।

(९।४।४८)

८६ बालकका निर्वाह करना कठिन है। वह देना कोई नय नहीं रखता। मद्य सद्य त्यागना कठिन नहीं। आत्माका कल्याण करना कठिन है।

(१०।४।४८)

८७ जो परको उपदेश करते हो पहिले यह विचारो कि हम स्वयं उसका पालन करते हैं या नहीं। स्वयं पालन किये बिना दूसरोंको उसका उपदेश देना नटकारे द्वारा किये गये नाटकके प्रदर्शन सदृश है।

(२९।५।४८)

८८ परके सम्बन्धसे जो भाव आत्मामें होते हैं वे उस सम्बन्धके अभावमें मिट जाते हैं। जैसे मोहके उदयमें आत्मामें मिथ्यादर्शन होता है यह भाव मोहजन्य है। जिस कालमें मोहोदय नहीं उस कालमें वह भाव भी नहीं। इसी तरह चारित्रमोहके उदयमें जो भाव होते हैं उनकी भी यही व्यवस्था जानना। क्षयोपशमसे भी जो भाव होते हैं वे उसके अभावमें नहीं होते। अतः जो ये औदयिक, औपशमिक तथा क्षायोपशमिक भाव हैं सभी परके सद्भावमें होनेसे त्यागने योग्य हैं। एक पारिणामिक भाव जो कि द्रव्यकी सत्ता रखता है तथा कर्मोंके अभावमें होनेवाला क्षायिक भाव ही नित्य है अतः उसकी ओर लक्ष्य दो।

(२२।५।१।६।४८)

८९ संसारको प्रसन्न करनेकी चेष्टा करना मरुमरीचिकामें जल खोजनेका प्रयास है।

(२।६।४८)

५० बड़ा कलङ्क यह है कि तुम जो कहते हो उस पर अमल नहीं करते।

(१६।७।४८)

५१ धर्मपिपासाका ऋण समझना उचित है। जो ऋण लिया है उसे बिना तकाजेके दे देना चाहिये। तकाजा होनेपर देनेमें आत्माकी महती नीचता है।

(२०।७।४८)

५२ सत्समागम उसे कहते हैं जिससे कषाय उत्पन्न न हो।

(२८।७।४८)

५३ साम्यभावका यह अर्थ नहीं कि अपनेको उच्च और परको तुच्छ समझो। अपितु अपनी आत्माको रागादिक कषायोंसे कलङ्कित न करो। परकी अपेक्षा न करो, यही तो संसार बन्धनकी जड़ है। परके दृष्टा बने रहो। तुम्हें क्या अधिकार है कि किसीको निर्मल या समल कहो?

(२९।८।४८)

५४ अनादि अनन्त अथवा स्वसंवेद्य चैतन्य ही आत्माका लक्षण बतलाया है। यह लक्षण सर्वावस्थाव्यापक है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि लक्षण अनादि अनन्त होनेसे हम स्वरूपसे च्युत हो गये।

(१।९।४८)

५५ समयसारका कर्तृकर्म अधिकार जानना कठिन है, फिर भी जाननेकी अपेक्षा यथार्थ श्रद्धान होना अति सरल नहीं तथा सरल भी है। किन्तु हम उसरूप होनेकी चेष्टा नहीं करते। आत्माको संसार बन्धनसे निवृत्त करना कठिन नहीं।

(७।९।४८)

५६ वास्तवमें जब आत्मामें संवर हो जाता है तब निर्जराके लिये विशेष परिश्रमकी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि जो कर्म उदयमें आवेगा उस कालमें यदि आत्मामें आगामी कर्म बन्धका कारण राग द्वेष नहीं तब निर्मोही ही तो होगा।

आगममें उस निर्जराको मुख्य दिया है जो संवर पूर्वक होती है। 'आस्रवनिरोधः संवरः' तथा 'कर्मफलानुभवनं निर्जरा' यहाँ पर फलानुभवनके समय यदि रागद्वेष न हो तब निर्जरा होना कार्यकारिणी है।

आत्मामें मन, वचन और कायके व्यापार यदि राग सहित हों तब ज्ञानावरणादि कर्मोंका बन्ध अवश्यम्भावी है। उपयोगके साथ यदि रागादिक नहीं है तब बन्ध होना असम्भव है।

(२८, २९ ३०।९।४८)

५७ तत्त्वज्ञानमें तात्पर्य यह है कि आत्माको आत्मा और परको पर जाना। इसका यह तात्पर्य है कि आत्मामें पर निमित्तक जो विभाव होते हैं उन्हें त्यागो। जाननामात्र यथार्थमें कोई प्रशस्त कारण नहीं।

(४।१२।४८)

५८ जिसके यह संवर हो जाता है वह आत्मा संसार बन्धनसे अल्प कालमें ही मुक्त हो जाता है।

(१।१०।४८)

५९ संसारमें जो कार्य कारणकूटसे होता है वह अनित्य होता है। उसकी प्राप्तिके लिये परिश्रम करना व्यर्थ है। जैसे शुभोपयोगसे पुण्यकी प्राप्ति होती है और पुण्यसे उत्कृष्ट गतिका लाभ होता है। वह गति आयुकर्मके अभावमें मिट जाती है। अतः उसके लिये प्रयत्न करना व्यर्थ है। यही नियम सभी कार्योंमें लागू होता है। कारणकूटसे जो कार्य उत्पन्न होते हैं वे नाशवान् होते

हैं, अत उनके लिये प्रयास करना कोई महत्त्व नहीं रखता। अत जो वस्तु कमाने अभावमे उत्पन्न हो वही ध्रुव है।

(२१।१०।४८)

६० इस समय ससारमे मनुष्य भौतिकवादका साम्राज्य है। सब मनुष्योंके भाव नाम और आराम आसक्त हैं। निरन्तर धन और विलासिताके अर्जनमे अपनी शक्तिका उपयोग कर रहे हैं। चाहे उसमे आत्मघात हो, चाहे परघात हो इसका ध्यान नहीं।

(२१।१०।४८)

६१ पर पदार्थोंमे जहाँ आत्मीय बुद्धि हो जाती है वहाँ पर आत्मा निरवपूज्य हो जाता है। जिसके अभावमे ही ससार है। अत आत्मद्रव्यका भेदज्ञानकी मुख्यता होना चाहिये। भेदज्ञान बिना शुद्धोपलब्धि होना अशक्य है।

(२३।१०।४८)

६२ आत्माका पुरुषार्थ यही है कि प्रथम तो पापोंसे निवृत्ति करे तदनन्तर निज तत्त्वकी शुद्धिका प्रयास करे।

(१९।१२।४८)

६३ चित्तवृत्ति शमन करनेका अभिलाषा त्यागनेकी महती आवश्यकता है। ख्याति प्रशंसाके लिये ही मनुष्य प्राय ज्ञानार्जन करते हैं, धनार्जन करते हैं, पर निन्दा तथा स्वात्म प्रशंसा करते हैं। पर मिलता-जुलता कुछ नहीं।

(२१।१२।४८)

६४ अपना अनादर जो करता है उससे अन्यका आदर नहीं हो सकता।

(३१।१२।४८)

६५ परमार्थसे सब द्रव्योंकी सुन्दरता तभी तक है जब तक यह नियम परिणमन करते हैं। परिणमन तो नियम ही होता है।

सहकारी कारण भले ही कायोत्पत्तिमें सहायक हो परन्तु कार्यकी उत्पत्ति उपादान कारणसे ही होती है। पूर्व परिणाम संयुक्त द्रव्य ही उत्तर पर्याययुक्त द्रव्यका कारण है।

(१९ । ३ । ५१)

६६ जो कार्य करो उसमें यह भाव रक्खो कि फिर उसे न करना पड़े। अशुभोपयोगको तो दूर करो शुभोपयोग करते भी यह भावना रक्खो कि उसको फिर करनेका अवसर न आवे। उसका तो यह ही अर्थ है कि भगवानका स्मरणकर यह भावना भावो कि हे भगवन्! आपके प्रसादसे मुझे फिर आपके द्वार न आना पड़े। समारमें रागभाव ही तो दुःखका कारण है चाहे शुभ हो, चाहे अशुभ हो। आपकी भक्तिमें आत्मगुणोंका विकास होता है इस लिये प्रशस्त है। आपसे उसका जो भक्ति है यह परा रागादिक नहीं है। अतः उसकी भक्ति तो स्नेह संसार बढ़ाने की है इसी लिये त्याज्य भी है, क्योंकि **"गुणेषु अनुरागो भक्तिः"** गुणोंमें जो अनुराग है वही भक्ति है। संसारी जीवोंमें जो अनुराग है वह राग होना पाप है। राग ही संसार बन्धका कारण है। परमात्मामें जो भक्ति है वह रागवर्द्धक नहीं क्योंकि उनमें जो गुण हैं व रागनाशक हैं। इसमें भक्ति करनेवालोंका रागाच्छेद गुणमें अनुराग है। गुणमें अनुराग है अतः वह अनुराग रागका उद्भव नहीं, क्योंकि वीतरागतामें जो स्नेह है वह रागका नाशक है। राग संसारवर्द्धक है फिर भी वीतरागकी रुचि वीतरागभावका ही पुष्ट करनेवाली है।

(२० । ३ । ५१)

६७ 'सम्यक् आगमके जाननेसे ही आचरण होता है' यह नियम नहीं। ऐसे मनुष्य देखे जाते हैं कि जिन्हें आगमका अंश मात्र भी ज्ञान नहीं परन्तु अहिंसादि व्रतोंका सम्यक् परिपालन करते

हैं। 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा' इस सूत्रको बाँच नहीं सकते परन्तु फिर भी जिसमें अपना आत्मा रक्षित रखते हैं। इसी प्रकार 'असदभिधानमनृतम्' इस सूत्रका पढ नहीं सकते हैं फिर भी मिथ्या भाषण कभी नहीं करते। अदत्तादानं स्तेयम्' इस सूत्रकी व्याख्या आदि कुछ नहीं जानते किन्तु स्वप्नमें भी पराई वस्तुके ग्रहणका भाव नहीं होता। मैथुनमब्रह्म' इसका आशयको नहीं जानते किन्तु स्वकीय परिणतिसे आशियका भावका भाव नहीं होता। इसी तरह 'मूर्च्छा परिग्रह' इसका भी अर्थ नहीं जानते फिर भी परपदार्थोंमें मूर्च्छा नहीं करते। इससे सिद्ध है कि आगममें जो लिखा है वह आत्माके परिणामविशेषको ध्यानमें रखकर शब्द रचना रूपमें लिखा गया है।

(२५।३।५१)

६८ मेरी दृष्टिसे वृद्धावस्था श्रमण योग्य नहीं। कविवर पं० दौलतरामजी ने ठीक कहा है—

'अधमृतक सम बूढ़ापनो, कैसे रूप लखे आपनो।'

यद्यपि विचार कर देखा जाय तब वृद्धावस्था कल्याण मार्गमें पूर्ण सहायक है, क्योंकि युवावस्थामें प्रत्येक आदमी बाधक होता है। कहता है—'भाई! अभी कुछ दिन संसारके कार्य करो पश्चात् वीतरागका मार्ग ग्रहण करना।' इन्द्रियाँ भी विषय ग्रहणकी ओर ले जाती हैं, मन निरन्तर अनाप-शनाप संकल्प विकल्पके चक्रमें फँसा रहता है। इसके विपरीत जब अवस्था वृद्ध हो जाती है तब चित्त स्वयमेव विषयोंसे विरक्त हो जाता है।

(३०।३।५१)

६९ मन्दिर जानेका यह प्रयोजन है कि वीतराग देवकी

स्थापना देखकर वीतराग भावकी प्राप्तिके लिये स्वयं द्रव्यनिक्षेप बना। धनरागके नामका पाठ करनेसे वीतराग न हो जाओगे। ज्ञान मार्ग अवलम्बन कर वीतरागताकी प्राप्ति की है अतः उस मार्ग पर चलकर स्वयं वीतराग होनेका पुरुषार्थ करो। पुरुषार्थ और [illegible] जहां चलता यहां है कि जो रागादिक भाव तुममें हों उनका आदर न करो। आते हों, क्योंकि तुमने उन्हें अर्जन किया था। अब उनमें तन्मय न रहो।

(११ । ४ । ५१)

८० आजका नियम, अनायास कल्पना हुई कि आज न्यायाचार्य प० दरबारीलालजीके घर आहार होना चाहिये परन्तु उनके घरके कपाट बन्द मिले। वहांसे अन्यत्र गये तो वहां भी कोई न था अतः आगे गये तब देखा कि जहां पर श्री प० जीकी धर्मपत्नीने ही आहार दिया॥ इससे सिद्ध होता है कि जो कल्पना शुद्ध परिणामोंसे की जाती है उसकी सिद्धि अनायास हो जाती है।

(१२ । ४ । ५१)

८१ संसारमें मनुष्योंका व्यवहार प्रायः यह रहता है कि हम उत्तम कहलावें। यह भाव प्रत्येककी अभिलाषा रहती है और यदि वह सिद्ध हो जाय तब यह सुखी हो जाय परन्तु यह असम्भव है। यद्यपि आत्माका स्वभाव न तो किसीसे बना है और न किसीको बनाता है फिर भी यह शुभाशुभ परिणामोंका कर्ता बनता है और उसके फल स्वरूप अनन्त संसारका पात्र होता है। इसका नाश करनेके लिये मत मतांका अध्ययन करता है, उपाय मनमें जो आता है अनेक करता है।

(१२ । ४ । ५१)

८२ स्वच्छ एवं अस्वच्छ भाव ही शुभाशुभ कर्मका कारण

होना है। इन दोनोंसे भिन्न जो म... उच्छेद कारण है। ममार म... वासना आत्माम ही होता है।

७५ इस जगतम दो प... देखनेवाला और दूसरा जो देखने... धण, श...। य तो इन्द्रियाके द्वारा ... है, करण कर्ता बिना नहीं होता। ... जान पड़ो, आत्मा कहो या जा... अनादिसे हैं। इन्हे कोइ मेट नहीं ... पदार्थ है यह इससे भिन्न है सो ... श्रद्धा नही। आज जो ससारम ... कारण यह है कि दृश्यमान शरीर ... शरीरको निज समझा तब ... अनन्त करने पड़ते हैं। भूल ... है। उसे जब निज माना तब ... कार्य यह करता है जिससे ... जगतमें है इसी शरीरको ... महान् पाप यह है कि इस ... अपना मानता है।

७८ वतमानमें श्रम ... एस काय सिवाय जाने ... निष्फल जान।

७९ इम संसारम ...

भय इसका है कि हमने पर पदार्थोंको अपनाया। उसकी रक्षा करना चाहते हैं यह असम्भव है। जो पदार्थ आज है दूसरी पर्याय पलट देगी यह हमारे आधीन नहीं। यदि रह भी गई तो उससे हमको क्या लाभ? इसके सद्भावमें दुःखकी ही मात्रा भारी है वह बना रहता। अन्य जो पदार्थ ममताके निमित्त हैं चरणानुयोग की आज्ञानुसार उन पदार्थोंको त्यागना चाहिये। यद्यपि पर पदार्थ त्यागने ममता जाती नहीं, अन्तरङ्ग व्यापार होनेसे ही उन्हें अपनाते हैं। यदि ऐसा उपचार हमसे न रहने दिया तब मुग्धता आपकी अमल न्याय जानना चाहिये। क्या यह कुछ समयमें ही ऐसा नियम है कि ज्ञानवार भी गलत पन्त हैं। जो ज्ञान संसार की व्यवस्था करनेमें प्रधान है उससे युक्त महात्माओंके ध्यान द्वारा, अपनेको भी यद्यपि परको पर और अपनेको उनसे भिन्न मानता है फिर भी इस विनियममें पड़ा है। जो अपनी परिणतिको उपादानसे हीन पुरुषार्थी है उसका कभी भला नहीं हो सकता।

(३।५।५१)

७६ 'हम न किसीके, कोई न हमारा। झूठा है जगका व्यवहारा।'

कुछ समझमें नहीं आता इससे जगका व्यवहार मिथ्या है यह कहाँसे आया? हाँ, यह बात अवश्य है कि जब हम किसीको अपना मान लेते हैं तब उस पदार्थके प्रति प्रेम करने लग जाते हैं और वह हमें अपनाता है इस व्यवहारसे हम दोनोंमें घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है। यहाँ तक प्रेम हो जाता है कि एक दूसरेको देखे बिना व्याकुल हो जाते हैं। यदि जगतका व्यवहार मिथ्या था तो यह दशा हम दोनोंकी क्यों हुई? इससे सिद्ध होता है कि मिथ्या कहनेका यह आशय है कि परको अपना मानना दुःखदायी ■। तथा व्यवहारको झूठ कहनेका तात्पर्य यह है कि

जैसा पदार्थ है तुम उसे वैसा नहीं मानते। इससे तुम्हारा ज्ञान मिथ्या है इसका भी यही तात्पर्य है। ज्ञान तो तुम्हारा स्वरूप है परन्तु उसमें जिसको निज मानते हो वह तुम्हारा नहीं। तुम्हारा जो है वह तुम्हारे पास है। उसीको निज मानो। जैसे दर्पणमें मुख दिखता है वह तुम्हारा नहीं है। जो तुम्हारे ज्ञानमें आ रहा है वही तुम्हारा है। यह भी परिणमन मिट जाता है अतः वह भी तुम्हारा नहीं। जो वस्तु उसके मिट जानेपर रह जाती है वही तुम हो। वह वस्तु भी परिणमनशून्य नहीं। परिणामको पुनः ज्ञानमें लाओ यही वस्तु है।

(१२ । । १)

७७ क्रोध दूर करनेमें पुरुषार्थ नहीं है, पुरुषार्थ तो उसे न होने देनेमें है।

(१४ । ४ । १)

७८ परकी प्रवृत्ति जैसा होता हो उसपर हर्ष विषाद मत करो। विमार्ग मन्नाममें मत रहो, यदि रहो तब उनकी प्रवृत्तिका ज्ञान ही मत करो।

(१४ १५ । ४ । ४१)

७९ अच्छे कार्यके प्रारम्भ करनेके पूर्व यह दृढ़ सङ्कल्प कर लो कि अनेक विघ्नोंके होनेपर भी हम यह कार्य अवश्य ही पूर्ण करेंगे।

वही काम करो जो फिर न करना पड़े।

(१६ । ४ । ५१)

८० पात्र तीन प्रकारके होते हैं जघन्य, मध्यम, उत्तम। इनमें सम्यग्दृष्टिको जघन्य पात्र कहते हैं, विरताविरत (देश विरत) पञ्चम गुणस्थानवाला मध्यम पात्र और सकलविरत (मुनि) यह उत्तम पात्र होता है। ये भेद दान देनेकी मुख्यतासे हैं

हैं। इससे सिद्ध हुआ कि चरणानुयोगके अनुकूल जो सम्यग्दृष्टि है वह जघन्य पात्र है और जो चरणानुयोगके अनुकूल व्रत पालता है वह मध्यम पात्र है और जो महाव्रत पालता है वह उत्कृष्ट पात्र है। इन लक्षणोंके अनुसार मैं अपनेको जघन्य पात्र मानता हूँ।

(२१।५।५१)

८१ उचित प्रयास करना अच्छा है यदि वह कार्यके अनुकूल हो। कारण अनुकूल प्रयास कार्यका साधक होता है। केवल प्रयास प्रयासका फल नहीं देता।

(२५।५।५१)

८२ जगत्‌में अनेक पदार्थोंका समुदाय है, था तथा रहेगा। हमारा विशेष सम्बन्ध मनुष्योंसे है, क्योंकि हमारे सब व्यापार उन्हींके सदृश हैं। हम जो करते हैं वही यदि दूसरा मनुष्य भी करता है तब हमारा उससे मेल हो जाता है। यदि हम तम्बाकू पीते हैं तब हमारा अनायास उससे स्नेह हो जाता है। चाहे उसको तम्बाकू पिलानेमें हमारा आर्थिक व्यय भी हो तो भी हम उसे न गिनकर हम उससे प्रेम करेंगे। यदि कोई भूखा मिल जावे तब उस मनुष्यको इस द्रव्यसे भोजन न देकर तम्बाकूवालेको थोड़ा तम्बाकू पिलाकर हम प्रसन्न होंगे। आज इस जगत्‌में यदि मनुष्य इस व्यसनको त्यागकर यह द्रव्य देशके उद्धारमें लगावें तब करोड़ों रुपयेका संग्रह हो सकता है।

(२६।५।५१)

८३ जितना व्यवहार है भेदमूलक है। एक तो पर पदार्थमें व्यवहार है, वह तो प्रदेशभेदकी अपेक्षा भिन्न भिन्न द्रव्योंमें व्यवहार होता है। जैसे शरीर वस्तु पुद्गल परमाणुओंके पुञ्जसे निष्पन्न है। आत्मा ज्ञानदर्शनका आश्रय चेतन द्रव्य है। यहाँ

पर जो यह विकल्प होता है कि यह शरीर हमारा है यह व्यवहार द्रव्यभेदमूलक है। यहाँ पर शरीर और आत्माका एक क्षेत्रावगाही जो सम्बन्ध है वही इस व्यवहारका मूल है। यदि भी अन्तस्तलमें देखा जावे तब अनादिसे जो आत्मामें मोहभाव चला आ रहा है वही इस व्यवहारका मूल है। जब आत्मा ज्ञानदर्शनका पुञ्ज है तब यह विभाव क्या होता है। इसका उत्तर यह है कि आत्मामें विभाव नामक शक्ति है, जिसके विपरिणमनसे ये रागादि परिणाम अनादिसे चले आ रहे हैं और तभी यह आत्मा अपराधी कहलाता है और तभी अनादिसे यह परिणमन चला आता है और जब मिटना होता है तभी मिटता है परन्तु साथही जब ऐसा सुनकर पुरुषार्थसे पश्चात् न हो जावे अतः यह कहा जाता है कि उद्यमसे ही कार्यसिद्धि होती है। (२।९।५१)

८७ हर समय प्रसन्न रहो। हर अवस्थामें परके हितके लिए ध्यान रखना। भोजन समय पर करनेका ध्यान रखना। केवल अपना प्रयोजन पुष्ट मत करो। जिसका भोजन करो उसका प्रत्युपकार करनेकी भावना न रखना। श्री रामचन्द्रजीकी यह उक्ति ध्यानमें रखना—

"मय्येव जीर्णता यातु यत्त्वयोपकृत कपे।
नर प्रत्युपकाराणा विपत्तिमभिकाङ्क्षति॥"

हे हनुमान! तुमने जो हमारा उपकार किया वह हममें ही जीर्ण हो जावे अर्थात् आपका प्रत्युपकार हमको न करना पड़े। जो प्रत्युपकार करना चाहते हैं वे उसे आपत्तिकी इच्छा करते हैं।

जिसके घर भोजन करो उसे धर्मोपदेश दो। यदि वह धर्मोपदेश न माने तब आगामी कालमें उसके घर पर भोजनको मत जाओ। उपदेशकी पद्धति ऐसी हो जिससे वह सुमार्ग पर आवे

जो अपव्यय होता हो उससे सुरक्षित रहे। धन तथा गर्मी पड़ने जो सरकारोंसे उसके द्रव्यमें प्रवेश कर जाय। गृहस्थोंके घर घर अल्प समय लगाओ। इस शास्त्रका प्रयोग करो तो शास्त्र सुनकर आगत जनता लाभ उठा सके।

भारतवर्षमें दानकी पद्धति कर्मभूमिके समयसे चली आई है। जब कल्पवृक्षोंका अभाव होने लगा तब लोग कुलकरोंके पास गये, उनकी स्तुति विनय की, अपने जीवन निर्वाहका उपाय पूछा। उन्होंने कहा कि तुम इस सीमा तक ही कल्पवृक्षोंसे फल ले सकते हो। उन्होंने विनय किया, उन्होंने निर्वाहका उपाय बताया। यह परस्पर आदान प्रदानरूप ही व्यवहार है। तत्त्वार्थसूत्रमें यही तो लिखा है—'परस्परोपग्रहो जीवानाम्।' यह व्यवहार लाभ होता है उसमें नहीं होगा। इससे जो होगा वह समतातीत शम परिणमन होगा। जैसे आत्मामें जहाँ रागादिकी निवृत्ति है वहाँ अन्यकी आवश्यकता नहीं। रागादि निवृत्तिमें यह अर्थ समझो कि रागादि औदयिक होते हैं। उसमें अहङ्कार ममकार न हो। यह परिणाम सम्यग्दर्शनके होने पर ही हो सकता है।

सम्यग्दर्शन वह शक्तिका विकाश है जिसके होनेपर यह संसार अनायास समाप्त हो जाता है। यह निश्चय है कि सम्यक्त्वके समान न तो कोई कल्याण करनेवाला है और न मिथ्यात्वके समान अन्य अकल्याण करनेवाला है। फिर भी जीवोंके अनादि कालसे ऐसा अज्ञानान्धकारका सम्बन्ध है जो निज परका विवेक नहीं होने देता। 'हम कौन हैं?' यही ज्ञान नहीं तब कल्याण अकल्याण की बात कहाँसे ज्ञात हो? सबसे पहिले तो यह जाननेकी आवश्यकता है कि हम कौन हैं? बहुतसे मनुष्य इसके जाननेका आगम प्रयत्न करते हैं, व्याकरण, न्याय आदि शास्त्रोंका अभ्यास करते हैं। उत्तमसे उत्तम पुरुषार्थी सद्गतिमें सम्पूर्ण आयको व्यय

कर देते हैं। अनेक तीर्थोंमें जाकर धर्म साधनकी चेष्टा करते हैं, अनेक मह तोंकी धूना लगाते हैं, स्वय पञ्चाग्नि तपते हैं, गङ्गा आदि महान नदियोंमें अवगाहन करते हैं, समुद्रके खार जलमें भी स्नान करते हैं, भूभागमें प्रवेश कर समाधि लगाते हैं परन्तु आत्मा क्या है इसका बोध नहीं होता है। (७।६।५१)

८५ ससारमें ऐसी प्रवृत्ति मत करो जो आभ्यन्तरमें शुद्ध हो और बाहरमें शुद्ध न। इससे तुम स्वय अपनेको ठग रहे हो। (२१।६।५१)

८६ धर्मश्रवणकी इच्छा सबको रहती है, सभी मनोयोग पूर्वक सुनते हैं परन्तु उपदेश कर्तव्य पथमें नहीं आता। इसका मूल कारण यह कि धर्मकी आभ्यन्तर आर्द्रता नहीं है। श्रीगुणभद्र स्वामीने कहा है—

"जना घनाश्च वाचाला सुलभा स्युर्वृथोत्थिता ।
दुर्लभा ह्यन्तरार्द्रास्ते जगदभ्युज्जिहीर्षव ॥"

अत जो यह चाहता है कि मेरे उपदेशोंका प्रभाव लोगों पर पड़े तब उसे सबसे पहिले उस कार्यको स्वय करना चाहिये। मुनि धर्मकी चर्चा मुनि ही कर सकते हैं तथा जिस पद्धतिसे मुनिधर्मका निरूपण करनेमें समर्थ होते हैं, अविरत विद्वान उसका निरूपण नहीं कर सकता। आजकल सिद्धान्तके ज्ञाता हैं परन्तु उसपर आचरण नहीं करते, इससे उस उपदेशका कोई प्रभाव नहीं होता। पदार्थका ज्ञान हो जाना अन्य बात है और उस प्रकार रूप होना अन्य बात है। (११।७।५१)

८७ विहार करनेमें अनेक गुण हैं। प्रथम तो एक स्थान पर निवास करनेसे जो स्नेह प्राणियोंमें होता है वह नहीं होता तथा देशाटन करनेसे अनेक मनुष्योंके साथ धर्मचर्चा करनेका अवसर आता है। अनेक देशोंके वन आदि देखनेका अवसर आता है।

चलनमे शरीर आदिक अवयवोंका संचालन होनेसे क्षुधा आदि शक्ति क्षीण नहीं होती। अन्नकी परिपक्वता सम्यक् होती है, आलस्यादि दुर्गुणसे आत्मा सुरक्षित रहता है। अनेक तीर्थादि क्षेत्रोंके दर्शनका सुअवसर मिलता है। तथा किसी निर्जन स्थानादि विहारके न मिलनेसे परीषह सहन करनेकी शक्ति आ जाती है। कभी दुर्जन मनुष्योंके समागमसे क्रोधादि कषायके कारणोंके सद्भावमें क्षमाका भी परिचय हो जाता है। (३। ७। ४१)

८८ सामायिक उसीके होता है जिसके स्वपरका भेद ज्ञान हो गया हो। भेदज्ञानके अभावमें सामायिक हो ही नहीं सकता। जबतक यह आत्मा परको निज और निजको पर मानता है तबतक इस जीवके साम्यभाव कभी नहीं हो सकता। सब जीव कषायके प्रेरे इस संसारमें प्रवृत्ति कर रहे हैं। जैसे जैसे कषायोदय होते हैं उनके अनुकूल प्रयत्न कर यह प्राणी संसारमें काल यापन कर रहे हैं। बहुत ही सत्ताके भाग्योदय होवे तो इस जीवको जीव और अजीवका यथार्थ ज्ञान हो जावे। यथार्थ ज्ञान होने ही पर पदार्थोंमें निजत्व बुद्धि नहीं होती। निजत्व बुद्धिके अभावमें न तो उस पर पदार्थमें राग होता है और न द्वेष ही होता है। अतः संसारके नाशका उपाय करनेवालोंको इस मिथ्यात्व शत्रुसे बचना चाहिये। उसीकी न्याय करने प्रक्रिया बदलना है। दृष्टिके बदलनेसे ही कार्यसिद्धि हो जाती है। हम लोग ही इस जालमें फँसे हैं जो जगत्से मिथ्यात्वका ह्रास करनेकी चेष्टा करते हैं। यही मनुष्य है जो आत्मीय परिणतिको शुद्ध कर अगुरुलघु सम्पदसे पृथक् हो जाता है। (१३। ७। ५१)

८९ योगी भी मनुष्य ही होते हैं। इस कालमें उनका होना प्रायः असम्भवसा हो गया है। जैन सिद्धान्तसे तो पञ्चमकालके अन्त तक योगी जनोंका अस्तित्व रहेगा ऐसा पता चलता है

परन्तु प्रवृत्तिमें आदरता होना भी आगमानुकूल नहीं मिलता।
(१६।७।५१)

६० उपदेश निरपेक्ष होना चाहिये। अभिप्राय यह होना आवश्यक है कि हममें जो दोष हैं वे दूर हों, आनुषङ्गिक अन्य का भी भला हो जावे। केवल परका कल्याण हो इसमें यह अभिलाषा छुपी है कि हमारी प्रशंसा हो। परापवादको त्यागो। आत्मगत दोषोंको दूर करो। (१६।८।५१)

६१ जो अपने ऊपर शस्त्रका प्रयोग करे। हमको उचित है कि उसे पुष्पमाला समर्पित करें। क्रोधाग्नि आवेगमें आकर जो घनघातरूप प्रहार करे, या ताडन करे, हम उसके साथ क्षमा जलका प्रयोग करें। जिससे उसकी क्रोधाग्नि शान्त हो जावे। ठीक ही कहा है—

"अपराधिनि चेत्क्रोधः क्रोधे क्रोधः कथं न हि।
धर्मार्थकाममोक्षाणां चतुर्णां परिपन्थिनि॥"

यह पाठ हम पढ़ते हैं, श्रोताओंको श्रवण कराते हैं, तथा श्रोताओंके धन्यवाद शब्दोंको श्रवण कर फूले नहीं समाते। वचनोंकी कुशलतासे जगतको मुग्ध करना सरल है, प्रशंसा उस वक्ताकी है जो उसपर अमल करता है। (१७।८।५१)

६२ समयसार, समय शब्दका वाच्य आत्मा होता है। उसमें सार क्या है? सिद्धपर्याय। सिद्ध पर्यायसे तात्पर्य केवल शुद्ध पर्यायसे जहाँ परके निमित्तसे आत्मामें विकृत परिणाम न हो, केवल आत्मपरिणमन हो। (२०।८।५१)

६३ मनुष्यमात्रका सम्पर्क अच्छा नहीं। यदि सम्पर्कके बिना निर्वाह नहीं हो सके तो कमसे कम सम्पर्क करे, क्योंकि अन्तरङ्गकी वीतरागता नहीं, उसके अभावमें ही इन पर पदार्थोंका आश्रय लेना पड़ता है। (२१।८।५१)

६४ मेरा यह दृढतम विश्वास हो गया है कि वनिक वर्गने धर्मको बिलकुल ही पराजित कर दिया है। यदि उनकी कोई बात अपनी प्रकृतिके अनुकूल न रहे तब वे शीघ्र ही शास्त्रविहित पदार्थको भी अन्यथा कहलानेकी चेष्टा करते हैं। (२०। ९। ४९)

६५ पुण्य पाप यह दोनों काल्पनिक पर्यायें हैं सर्वथा मिथ्या नहीं, विलय जाती हैं अतएव इन्हें अभूतार्थ कहते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि पुण्य-पाप अस्तित्वशून्य हैं। इनका अस्तित्व है परन्तु स्थायी नहीं, इससे इन्हें अभूतार्थ कहा। इसी तरह मतिज्ञानादि चार ज्ञान हैं, ये भी अस्थिर हैं। ये क्षयोपशमसे होते हैं। ये भाव औदायिक हैं। ये भी आत्माके ज्ञान गुणका विकार है। ये बन्ध करनेवाले हैं, मतिज्ञानादिक बन्धक नहीं। ये आत्माको आकुलता स्वरूप हैं, ये आकुलताको अनुभव कराते हैं। यदि आत्माके अन्दर यह चैतन्य गुण न होता तब आत्मा पुद्गलकी तरह जड़ हो जाता। संसारकी जो व्यवस्था आज दीख रही है कौन इसका वर्णन करता। यह जाव है, यह जाव नहीं, ज्ञान गुण बिना कौन इसको बनाता। यह होनेसे ज्ञान गुणको ही मुख्य माना गया है अतएव संसारमें जहाँ देखो वहाँ ज्ञान वृद्धिकी शिक्षा दी जाती है। (१४। १०। ४९)

६६ जो मनमें आता है वह स्वाभाविक नहीं, क्योंकि मन स्वतन्त्र द्रव्य नहीं। यह वस्तु नोइन्द्रियावरणके निमित्तसे होता है। बहुत मनुष्योंकी यह धारणा है कि मन न होता तब हमारा कल्याण कठिन न था परन्तु यह धारणा मिथ्या है।

(५। ११। ४९)

६७ सब नाग अपने अपने प्रयाननको देखते हैं अतः किसीको अपराधी मानना मूर्खता है। (१०। ११। ४९)



वर्णी-उपदेशाञ्जलि

वर्णी जयन्ती

लुनिका अर्थ थोड़ी चीनसा महन पर जपन कर दर्ना मिलता कार पारावार नहीं। थोड़ीमी मानका महत कहना ना मम रत करनेका बात हा क्या है पर मा ना ऐसी बात है कि वा रत करा हा देता है। मुख्तार सा न कहा कि प्रशमा मुनकर हम नीचे-नीचे हो जाते है तो विचार करक य भी मनम आता है कि अर य लोग भी कैसे ह कि हम तो कुछ हैं नहीं और य लाग प्रशंसनीय कहते हैं। पर अच्छा बात है। इसका बात तो हमारा देश ता भारतवर्ष है भैया। इतना नाम देश है भैया कि परसम करता करके ये मोक्षमार्ग निकाल दात हैं। ... भगवान पा ... मोक्ष जानेवाले मगध, ... स्थापना करके और ... नाम चल रहा नहीं अपन लोग ? ... भगवानकी पत्थरकी प्रतिमामें आरोपण करके अपना कल्याण कर ... है।

और इसम जो गुणोंका आरोपण करता तो इनमें मनका ... है इस मना करनेवाला कौन ?

हमारा बात माना तो निनन हैं सभी ... है सबकी आत्माके अन्दर यह ज्ञानकी ताकत सब बातें सबके अन्दर विद्यमान है। हम ... अनुभव न कर य बात दूसरी है। ... अपनी तरफ दृष्टि पात कर देखें तो हम कल्याणके पात्र हो ...

विघ्न क्या है—

मोहकी महिमा है कि यह संसार चल रहा है। ... मोह ... गया तो 'मम ... ' अज्ञान ... हैं ... होगा।

अज्ञानमें हम कहते थे ये हमारे हैं, हम इसके पहले थे और ये हमारे होंगे। इस प्रकार अज्ञान बुद्धिसे संसारमें भ्रमण कर रहे होंगे कि

"कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्मणोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ॥"

जबतक कर्म—नोकर्ममें हम हैं और हमारेमें कर्म नोकर्म हैं तबतक यह अज्ञान है तब तक संसार है। यथा मिट्टी घट होता है, पुद्गलका परिणाम है यथा घटादिषु पुद्गलपर्यायेषु सोऽहम्। ये शरीरमें रागादिक हुए, ये और हमारा यह भ्रम कि हममें ये नोकर्म आदि हैं इनमें हम हैं तभी तक हम अज्ञानी हैं।

पुण्योदयसे किन्हीं ज्ञानी गुरुओंका समागम मिल जाय अज्ञान मिट जाय तो यथा दर्पण ज्वालाग्नि दुनिया जानती है, दर्पणमें अग्नि प्रतिभासित होती है, अग्निकी ज्वाला दर्पणमें भासमान होती है तो उसकी उष्णता और ज्वाला दर्पणमें नहीं। यहाँ सिगरेट रखी है उसका प्रतिबिम्ब दर्पणमें पड़ता है पर यदि किसी स्त्रीसे दाल बनानेको कहा जाय तो क्या दर्पण पर रखेगी कि सिगड़ीकी आग पर ना उसे भी इसका ज्ञान होता है, इसलिए पुद्गलकर्मसे भिन्न अरूपी जो आत्मा है उसमें ज्ञानपना है, ज्ञानपना है उसमें कर्म और नोकर्म नहीं हैं। आप हमारे ज्ञानमें आ गए ऐसा कहना इसका यह अर्थ नहीं कि आप हममें आ गए। आपका एक अंश भी हमारे ज्ञानमें नहीं आया। जब अंश भी हमारे ज्ञानमें नहीं आया तो आपसे स्नेह क्या करें कैसे करें।

पुद्गलके रूप रस गन्ध वर्णका अंशमात्र भी हमारे ज्ञानमें नहीं है। अगर हमारी कोई भी बात उनमें होती तो कष्ट करते। कहा है—

"शुद्धात्मतादात्म्य

तो ज्ञानको तुम क्या उपदेश करते हो—ज्ञानका तादात्म्य शक्ति भी भव मान भी हम उसकी उपासना नहीं करते।

यहाँ बहुत बाहरके लोग हैं, व भी सुन लें—इसमें क्या हानि है।

तो जब तक हम इन पर पदार्थोंको अपना रहे हैं तब तक हमारे अनन्त संसारमें कोई शान्ति नहीं। तो अब हम व्याख्यान क्या करें पर हमारा समय इन लोगोंने पाठन लगाने जो व्याख्यान किया कि परके लिए अपना समय छोड़ दो। अब समय छोड़ दें तो व्याख्यान क्या है। इससे मालूम होता है कि मोह ही तो व्याख्यान दिला रहा है। पूज्यपादस्वामीने सर्वार्थसिद्धि जैनेन्द्रव्याकरण और समाधिशतक बनाया तो वो पूज्यपाद स्वामी कहते हैं—

उन्मत्तचेष्टित ।

दूसरेको हम समझा दिया और हमने दूसरेको समझा लिया तो यह प्रतिपाद्य और प्रतिपादक हुए।

यह गुरु शिष्यका जो व्यवहार है।

पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि उन्मत्तचेष्टित यह जो हमारी उन्मत्त चेष्टा है सो उन्मत्तों की कहें चाहे पागलों की कहें पागल कहें तो उल्टा कहावें सो उन्मत्त हो हम कहते हैं। गुण० का नाम भी भगवानने प्रमत्त रखा है। गुरुशिष्यका व्यवहार है। जब प्रमत्तकी चेष्टा है तो महाराज आप क्या लिख रहे? तो इससे मालूम देता है कि सब मोहकी चेष्टा है। मोह बड़ी बुरी चीज है। मगर एक मोह ऐसा होता है कि संसारमें डुबो देता है और एक मोह ऐसा होता है कि संसारसे उद्धार कर देता है। प्रातः सूर्योदयमें गगनमें लालिमा होती है सायंकालीन सूर्यास्तमें भी लालिमा होती है पर एक लालिमाके पूर्व प्रकाश फैलनेवाला है और एक

शामकी लालिमामें प्रकाश नाश होनेवाला है तो इसी प्रकार यह जो मोह है सभीका उपादानांश, वह सायंकालकी लालिमाकी तरह उत्तरकालमें अन्धकारका कारण है और यह जो राग है धर्म शास्त्र आदिका, यह उत्तरकालमें प्रातःकी लालिमाकी तरह प्रकाशका कारण है। रा वा० ग श्वर ार स्वामीने कहा है —

नात्रमिथ्यावाद

मोक्षमार्ग ।

किसी शिष्यने आकर पूछा ऐसा कहा है। संसार रूपी सागरसे डूबते हुए जो अनन्त प्राणी हैं व धर्मध्यान सप्तम गुणस्थान और अपायविचय—में छूट करके मिथ्या मार्गमें लगे हैं उससे इनमें यह मिथ्यात्व छूटे ऐसी भावनामें प्रवृत्त होकर मैं कहा। तो यह शुभ राग जो है वह उत्तरकालमें इन प्राणियोंके संसारसे छूटनेका कारण और उनके लिए भी उत्तरकालमें कर्मनाश का कारण हुआ। हम तो य समझते हैं कि सम्यग्ज्ञानियोंकी जो चेष्टा है सो सारी चरण मोह रागको निकालनेकी चेष्टा होती है।

हम आचार्योंकी बात क्या कहें हम तो आप लोगोंकी बात कहते हैं कि आप लोगोंके कौन मोह है। यदि आपके सम्यग्दर्शन है तो क्रियाका मोह य ाकाभाह और संसारका मोह यह आपके संसारके नाशका कारण है।

किसी मनुष्यको जब ज्वर[1] आता है तो उसे चिरायता पीना पड़ता है तो क्या वह इस शौकसे पीता है कि फिर ऐसा ज्वर आवे और चिरायता पीना पड़े। सम्यग्दृष्टि चिरायता समझता है विषय सेवन से दुःख होता है पर क्या कभी उसे फिर पीनेकी आशा क्या करेगा।

---

१ इसकी के भरहियाका उदाहरण—

हम तो निराश हैं कि सम्यग्दृष्टि विषयको भोगकर उसे चिरायता जैसा उपचार मानता है इसलिए मुनिपद यदि मोक्षमार्ग है तो हम भी मोक्षभागी हैं। उनके संज्वलन है तो हमारे अप्र० का योग है। उनके हजारों शिष्य हो जाते हैं तो हमारे तो ४–६ ही लड़के होते हैं पचास कुटुम्बी हैं। ३–४ हजार शिष्योंके रहते जब वे मोही नहीं होते तो हम ८ के रहते कैसे मोही होवें, जैसा धनगाईन कहा था कि पद्धा ये किल केचित्।

भेदविज्ञान नित्य मिल गया व तिर गए और जो बंधे था भेदविज्ञानके अभावमें बंधे।

समयसार प्रकरणमें आचार्य कहते हैं कि हम क्यों डरें। ममारके अन्दर विचार करो तो २ प्रकारका योग होता है एक शुभ एक अशुभ, उसका मूल कारण राग द्वेष है। हमारा आत्मा जो रागद्वेषके कारण उत्पन्न हुए रागमें विद्यमान है हमीं तो इसका ले जानेवाले हैं हमीं भिन्न कर सकते हैं। अपनी आत्माको अपने आत्माके द्वारा रोककर अपनी आत्मामें लगा कर पर द्रव्यमसे इच्छाको हटालें तो पर द्रव्यका समागम छूट जाय। ध्यानानहीं करली तो यह बनाव जिसमें व्यापार होता हो किन्तु धधा ही जो न करे तो यह ध्यानी नहीं क्या बनाव।

तब जब सग रहित हो गया तो आत्माकी चीनका आत्माके द्वारा ध्यान करता हुआ शुद्धज्ञान दर्शनमय आत्माको प्राप्त करता है। मोक्षमार्गको प्राप्त होता है। आप लोग जो इधर आए हो सो इतनी बात मानना कि और कुछ छोडो चाहे न छोड़ो, मोह छोड जाओ। और चाहे सारी सम्पत्ति ले जाओ पर मोह छोड जाओ। बस यही कल्याणका मार्ग है।

———

विनोबा जयन्ती

"मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥"

बन्धुवर!

आज एक महापुरुषकी जयन्ती है। विचार करके देखो इनकी यह महापुरुषता क्या? भूमिदान दिला दिया इससे इनकी महापुरुषता नहीं। और जब भूमि तुम्हारी चीज ही नहीं तब दिलानेका प्रश्न ही नहीं आता। उन्होंने एक पुस्तकमें लिखा है कि 'भूमि तो भगवानकी है' तो तुम्हारी कैसे हुई? और जो तुम्हारी नहीं उसका दान कैसा? सबसे भारी बात तो यह है कि मैं उनके गुणोंसे मोहित हूँ। मेरे ध्यानमें यह बात आई कि उन्होंने पंचेन्द्रियके विषयोंको लात मार कर अपनी ओर ध्यान दिया। यह भूमिदान तो आनुषङ्गिक है। कहा है—

"मुक्तिमिच्छसि चेत्तात! विषयान् विषवत्त्यज।"

हे तात्! यदि मुक्ति चाहते हो तो पंचेन्द्रियके विषयोंको विषकी तरह त्याग दो। जिसने पंचेन्द्रियके विषयको विषकी तरह त्याग दिया, सच्चा त्याग तो उसका यह है।

तुम तो भूले हो, भ्रम हो, तुम्हारा तो यह चीज ही नहीं। सच्चा त्याग तो उन्होंने आत्महित किया। पंचेन्द्रिय विषयोंको लात मार कर आत्महितमें लग गये। यह (भूमिदान) तो गौण काम है। असली काम तो यह है—

"मोक्षो विषयवैरस्य"

मोक्ष है क्या चीज ? विचार कर देखा तो मोक्ष सब दुःखोंसे छूट जाना ही तो है। वह मिले कैसे ? 'मोक्षो विषयवैरस्य' पञ्चेन्द्रियके विषयोंसे विरक्तताका आजाना ही तो मोक्ष है। भोगनेको आपको क्या है संसारके अन्दर। गरीबसे लेकर अमीर तक क्या चीज मिलती है बताओ। सिवाय शब्द रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और कुछ मिलता हो तो बताओ। भारतवर्षके बड़े बड़े पुराणोंमें देख लो पञ्चेन्द्रियके विषयोंके सिवा भोगनेको और है कौन चीज ? इनके सिवा तुम भोग क्या सकते हो। इस भोगको जिसने छोड़ दिया उसकी तारीफ है। तुम्हारी गलती है कि ऐसे महापुरुषसे ऐसा काम लेते हो। तुम लोग गलत रास्ते पर हो। इनसे कहो आप ध्यान करिये, यह काम हम करेंगे। ऐसे व्यक्तिको घर घर दौड़ाना क्या शोभाकी बात है ? यह भारतवर्ष है जहाँ हरिश्चन्द्र जैसे दानी हुए। विद्वान सत्यको रखा इस दानकी प्राणप्रतिष्ठाके लिये जा जा किया तो मनको ज्ञात है। तुम क्या करते हो ? १० १२५, ५०, १०० या १००० बीघा जमीन दे दी। वह क्या तुम्हारा है। तुम्हारे बापकी है ? अगर बापकी है तो ६०-६५ साल चले गये एक दिनमें, क्या रह गये। हमारे बापकी चीज है तो हम दान करें ? दान करो राग मोह छूटेगा तो संसारके बन्धनसे छूट जाओगे। तुम्हारी चीज नहीं है उसे छोड़ो। परायी चीज है तुम पकड़नेको बैठ गये हम दिलानेवाले कौन ? हमारा समझमें नहीं आता। वह महापुरुष जिसने पञ्चेन्द्रिय विषयको लात मार दिया उससे ऐसा काम कराना इससे अधिक भारतकी बदहाली और क्या होगा ? जिनसे मोक्ष मार्ग मिलता है उन्हें संसार मार्गमें लगाओ। मैं तो समझता हूँ यह कोई चीज नहीं है। तुम्हारी यह मूर्च्छा त्याग कराते हैं, और

हमारा अगर कोई चादरपर मिल दे तो इससे बड़ा उपकारी और कौन होगा? तुम पैदा तो दिगम्बर हो जैसे माँके पेटसे पैदा हुए, कोई कपड़ा आया साथमें। तुम्हारे साथ न कोई चीज आई न जाती है—

"जन्मे मरे अकेला चेतन सुख दुख का भोगी,
कमला चलत न आय पैंड मरघट तक परिवारा।
अपने अपने सुख के साथी पिता पुत्र दारा॥"

बताओ अनादिकालसे बन्धनोपाधियोगेन स्फटिक मणिमें कोई मैल है? पर कोई लगा सकता है? आत्मा स्वभावसे स्वच्छ है पर मोहकी काँई लगी है। 'नाहं देहो न मे जीवो' गीतामें लिखा यानि स्थिर रहा। यह भी नहीं, यह तो वस्तुका विचार है। आज तुम्हारी जो लावण्यता है वह चार पाँच बार खाना खिलाओ। मरी चीथड़ा गाथामें देखा और अब देखा तो मालूम पड़ा कि सब खाक हो गया?

'नाहं देहो न मे जीवो' न मेरा देह है न मेरा जीव है, फिर फँसा क्यों है? 'अयमेव हि मे बन्धः य स्यान्नीतिरे स्पृहा।' उसे अपना मान रहे हो उससे छूटो। भारत सब मुनी हो जाय पर तुम तो उस प्राणोंमें लिपटे हो। अच्छे लोगोंमें रह काम रत हो तो तुम्हारी यही गति होगा।

हुमायूँ बादशाह था। सो जब वह हार गया तो गुजरात पहुँचा। वहाँके राजाने स्वागत किया। उसके मंत्रीने एक कुर्सी भेज दी। उसपर कौन बैठे? तब उसके मंत्रीने तीन तलवारें लगा उसपर कपड़ा डाल दिया, कहा बैठिये। इसकी करामात देख राजा बहुत प्रसन्न हुआ। बोला तुम्हारे साथ ऐसा बुद्धिमान मंत्री है तब तुम्हारा राज्य क्यों गया?

उसने उत्तर दिया—"जो शासन करने योग्य थे उन्हें घोड़े सुधारनेमें लगा दिया और जो घोड़े सुधारने योग्य थे उन्हें शासन में लगा दिया। हम लोग भी इतना नहीं जानते कौन क्या कर सकता है? भारतमें एक ऋषि होय तो सैकड़ों कोसमें सुभिक्ष हो जाय। भारत जो अहिंसक था आज मांसभक्षण पोषक हो गया। जहाँ दूधकी नदियाँ बहतीं थीं आज वहाँ खूनकी नदियाँ बहती हैं। अरे एक आदमी निर्मल हो जाय तो संसार उलट जाय। संसारमें एक आदमी शूर होता है। 'एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति' एक ही चन्द्रमा अन्धकारको नष्ट कर देता है। गांधीजी अकेले एक ही तो थे, जो गांधी होते न जाने क्या करते? तुम क्या नहीं बनते गांधीजी, या विनोबाजी? कौन रोकता है? एक दिन निर्मल परिणाम कर लो तो तुम भी गांधी बन सकते हो, विनोबा बन सकते हो। क्या किसीके अधीन है? उनके अधीन है? नहीं, यह तो परिणामके आधीन है। ज्ञानकी कोई आवश्यकता नहीं। हम कुछ नहीं जानते पर यह तो जानते हैं कि यह पर है। किसने सिखला दिया? हमारा आत्मा कहता है कि ये हमसे पर हैं। आज हम निर्मल परिणामी बन जाय तो गांधी हो जाँय, विनोबा हो जाँय।

हे माँ!

क्या है बेटा?

तैरना आ जाय, पर एक शर्त है, वह यह कि पानी न छूना पड़े। हम महात्मा हो जाँय पर कुछ त्याग न करना पड़े।

आज कैसे महात्मा हो जाओगे बिना त्याग के? हमारी समझमें नहीं आता।

विनोबाजीसे कहो कि बाबाजी! अब आप वृद्ध हो गये, धर्म ध्यान करो। जान तो गये भूदान करना है तब मजे मजे एक हो दिनमें कर डालो। एक बात और अगर हमारी कोई मानें, मगर

हमारी कोई मानता तो है नहीं, मत मानो। हम बहुत किसान तो नाश करते भी ठीक हो हैं। हम सवार लायक नाव बनाते हैं, तो आप माँगकर ले जाते हैं व भी भार दे मरते हैं। ऐसा करनेमें अनेक यूनिवर्सिटी हो जाँय विद्यालय हो जाँय। ... पद्धतिसे जो खर्च हो प्रति रुपया एक पैसा होता हो, सब भारतमें गरीबों मिल जाय। एक पैसा प्रति रुपया ही तो अधिक नहीं। उसमें कोई व्यतिक्रम नहीं होना चाहिये। आप माँगकर लायगा यह भी खायगा तो पेट भर, तो यह भी एक रोग है मरता है।

अहिंसा तो आत्मा ही है। किसी पदार्थमें रखा है भारतवर्षकी अहिंसा? गिरनारको चले जाव, शिखरजी चले जाव, मुसलमानों के मक्कामें चले जाव पर क्या वहाँ रखा है अहिंसा? अरे अहिंसा आपकी आत्माके अन्दर है और कहीं नहीं। आप राग द्वेष छोड़ दो अहिंसामय हो जाओ। बड़े बड़े पण्डित धर्मकी व्याख्या करते हैं, जन्म भर सुनो रागद्वेष छोड़ दो, धर्म सामने आ जाय। धर्म और है क्या चीज? पढ़ो नहीं, लिखो नहीं, सिर्फ रागद्वेष छोड़ दो, जप नहीं करो, संयम भी नहीं करो फिर क्षमा कहीं नहीं है। संसारमें क्षमा कहीं चीज है, क्या कहीं जाते हैं भैया? हम तो गप्पें (झूठा ज्ञान) हाँकता, क्योंकि अगर क्षमा होती तो एक न एक होती? पुस्तक क्या आलमारीमें फेंक दे? कितने व्याख्यान देनेवाले हैं उन्हें क्या सत्याग्रहियोंकी तरह जेलमें भेज दें? क्रोधको छोड़ दो क्षमा आ जाय, किसीसे पूछनेकी जरूरत नहीं। क्रोध छोड़ दो क्षमा हो जाय। धर्म आत्माकी चीज है, आत्मा की परिणतिमें जो रागद्वेष और क्रोध मिले हुए हैं वे छूट जाँय तो क्षमा हो जाय।

"इतो न किञ्चित् परतो न किञ्चित्,
यतो यतो यामि ततो न किञ्चित्।

विचार्य पश्यामि जगन्न किञ्चित्
स्वात्मावबोधादधिकं न किञ्चित् ॥"

यहाँ कुछ नहीं, वहाँ कुछ नहीं, जहाँ जाता हूँ वहाँ भी कुछ नहीं। विचार कर देखता हूँ, संसार भी कुछ नहीं, आत्मा-अवबोधसे अधिक और कुछ नहीं है।

क्या गांधीजीके समान कोई इतनामें निर्माण न किया होगा? तो क्या नहीं हुए गांधी? अगर हममें प्रताप है तो क्या नहीं हुए? गांधीजी अगर तुम्हें अपना गांधीत्व न देते तो उनमें क्या रहता? इसमें मालूम पड़ता है कि गांधीजीमें जो गुण हैं वे गांधीजीमें था। अगर उनकी आराधनासे लोग गांधी बन जाते तो कौन न बनता? भगवानके गुण भगवानमें हैं हममें नहीं। कोई शिवालय जाता, कोई जिनालय जाता, तो यदि उसका गुण हममें आ जाय तो फिर न जायें? प्रतीत होता है यह किसीसे मिल नहीं सकता है। अपने पर छोड़नेमें ही भगवान बन सकता है। एक ... ने फिर देखा भगवान बनते कि नहीं। नाम भर जपा— '**सूर्याय नम, सूर्याय नम**' पर घरमें रहता रहा, फिर पहुँच ना जाओ दुकान कैसे पहुँचते हो? सूर्यने माग भर चिल्ला लिया, अगर चलते नहीं तो जपो—"सूर्याय नम" पुत्रने कहा नहीं तुम भी जपो, माँने कहा तुम भी जपो, और चलो नहीं तो बिना चले पहुँच जाओगे? पढ़नेसे कुछ नहीं होता, उसपर अमल करो तो कल्याण हो जाय। कथन मात्रसे कुछ नहीं होता? उनकी जीवनी पढ़ो, जिसमें तो लिखा है उसपर अमल करो तो तुम भी वैसे बन जाओगे। हमारा तो यही कहना है कि तुम सब विभावानाके गुणोंको कुछ न कुछ अंश लेकर जाओ। जैसा उन्होंने त्याग किया वैसा करो। ज्ञान करो ... ... लेकर जाओ। ...

समझता है। एक मनुष्य था जो भाषण दे रहा था। वह कह रहा था भारतवर्षमें ६४ कलाएँ और आ गईं। मैंने कहा दस था क्या कहता है? तो वह कहने लगा वह ले कलाएँ यह कि 'आप जानना नहीं दूसरेको मानना नहीं' इस तरह ६४ की जगह ७४ कलाएँ हो गईं।' इसलिये हमारा तो यही कहना है कि अपनेको छोड़ो। हम कहते हैं हमारे ऊपर दया न करो, परन्तु ऊपर भी न करो क्योंकि मेरा तो यह विश्वास है कि कोई किसी पर नहीं अपने ऊपर ही दया करता है। मैं अपने अनुभवसे कहता हूँ कि भिखुक मार्गपर जाते हुए रोटी माँगता है। मैं आपसे पूछता हूँ कि आपने उसका दुःख दूर करनेको रोटी दी क्या? नहीं उसके कातर वचनों को सुनकर अपना ही दुःख दूर करनेको रोटी आपने दी। आपके हृदयमें इतनी आतुरता हो गई कि अगर रोटी न देते तो कितने दुःखी होते? अतः अपने ही दुःखके निवारणार्थ तो रोटी दी। विनोबाजी दूसरेके दुःखसे दुःखी होकर कि यह भारतके किसान हैं, गरीब हैं, दुःखी हैं, इसलिये वे अपना दुःख दूर करनेका प्रयत्न चाल हैं। दो रोटी देनेका यह प्रयत्न करें तो जो ५० हजार बीघा जमीन है उसे सो शायद इतना बड़ा आदमी माँगे। करुणा उत्पन्न हुई उसीके दूरीकरणार्थ यह भूमिदान यज्ञ है। हम तो चाहते हैं ऐसा महापुरुष जो है वह आनन्दसे जावे और भारतवर्षका उद्धार करे। साथ ही हमारा आप सबसे कहना है कि विनोबाजीके गुणोंका थोड़ा थोड़ा अंश लेकर जाओ।

भैया! हमारा संदेश भेज देना कि वह आपको जाननेको बहुत चाहते हैं। (११।९।१९५३)

विनोबा जयन्ती उत्सव, गया

टाउनहालकी आम सभामें दिया गया भाषण।

संसार चक्र

संसार—

संसारमें बहुत विचित्रता है, यह अस्वीकार नहीं। इसपर
बड़े बड़े महानुभावोंने गम्भीर विचार किये किन्तु सभी
स्वीकार किया कि संसार दो पदार्थोंके मेलसे निष्पन्न एक तृती
अवस्थाको धारण करनेवाला है। जहां दो पदार्थोंका विलक्षण
संयोग होता है वहां अवस्था बन्धभावको धारण करती है। जैसे
चार आने भर सुवर्ण और चार आने भर चांदी दोनोंको गलाय
एक पिंड बना दीजिये इस पिण्डमें दोनों पदार्थ उतने ही
जितने पहिले थे परन्तु जब वह एक पिण्ड हो गये तब न तो
शुद्ध सोना है और न शुद्ध चांदी है। एक तृतीय अवस्था हो ग
और उसे खोटे सोनेके नामसे लोग व्यवहार करते हैं। इसी प्रका
आत्मा और पुद्गलका अनादि कालसे सम्बन्ध चला आ रह
है। उसे लोग मनुष्य, तिर्यञ्च, देव, नारकी शब्दसे व्यवहार
करते हैं। सुवर्ण चांदी दोनों सजातीय द्रव्य हैं। यहाँ विजातीय
दो द्रव्योंका सम्बन्ध है। एक चेतन द्रव्य है दूसरा अचेतन
इनके विलक्षण सम्बन्ध होनेका नाम संसार है। यहाँपर जो पर्याय
पाता है उसीको यह जीव अपना मानने लगता है। मनुष्य पर्याय
में अपनेको मनुष्य और इतर पर्यायमें अपनेको देवादि मानने
लगता है। जिस पर्यायमें जाता है उसी पर्यायके अनुकूल अपनी
परिणति बना लेता है।[1]

---

(१) १।१०।४१।

मान—

मानके उदयमें यह इच्छा होती है कि पर मेरी प्रतिष्ठा क
उच्च माने, जैसे बने तैसे नावम हो उसके अर्थ परा। नि
अपनी प्रशंसा करे परमें जो गुण विद्यमान हों उनका लोप क
अपनेमें जो गुण नहीं उन्हें अपनेमें बतलावे। ऐसा क
मानके लिए बड़ेसे बड़ा अन्याय किया करे। अपने परके मरा
न करे। यदि मानकी रक्षा न हो तब बहुत दुःखी होता है
अपनाने पर करनेमें संकोच नहीं करता। यदि निर्मान जैसे
अपनी इच्छा थी वैसा मान लिया तब फूलकर कुप्पा हो जाता
कि हमारा मान रह गया। मूर्ख यह विचार नहीं करता कि
हमारा मान नष्ट हो गया। यदि नष्ट न होता तो उसका भाव ब
रहता। उसके जानेसे तो आत्मा आता।

माया—

माया कषाय भी जीवको इतने प्रपञ्चोंमें फँसा देता है।
मनमें तो और है, वचनमें कुछ कहता है, काय अन्य
करता है। मायाचारी आत्मीय द्वारा महान महान अनर्थ होते हैं
ऊपरसे तो सरल दीखता है परन्तु भीतर अत्यन्त वक्र परिण
है। जैसे बगुला ऊपरसे शनैः शनैः पैरों द्वारा गमन करता है
भीतरसे वहां मछलियों आदि सुनी कि उसे भक्षण करूं
है। मायाचारके वशीभूत होकर जो न करे सो अल्प है।

लोभ—

लोभके वशीभूत होकर जो जो अनर्थ संसारमें होते हैं व
किसीसे अविदित नहीं। आज जो सर्वावधि मनुष्योंका सं
हो रहा है वह इसीकी बदौलत तो है। आज एक राष्ट्र दूसरे
हड़पना चाहता है जिससे शान्ति परिषद् हो रही है, ताकि

बरवाद हो गये परन्तु [illegible]
विद्वानोंने गंभीर विचार किये [illegible]
विषय निर्णीत न होने दिए। [illegible]
होने देता, सभी मिल [illegible]
भी बात तय न होगा। [illegible]
अधिकारी वर्ग ऐसा मिला कि [illegible]
गई। यह सब लोभका [illegible]
कृपा करो।

चार संज्ञाएँ और मिथ्यात्व—

जिस शिवाम पारमार्थिक [illegible]
और न हो भी सकता है। [illegible]
हो उसे छोड़ लोग अपनेको [illegible]
इसका कारण अनादि [illegible]
जालम इतने [illegible] कि [illegible]
व [illegible] कठिन है। निम्न [illegible]
अपनी रक्षा कर सकता है। [illegible]
गया है, हमने स्वयं इसका [illegible]
मुनिभी होती है, प्रमत्तगु[illegible]
करते हैं। प्रमत्तगुणस्थान [illegible]
जिसे कवलाहार कहते हैं [illegible]
दूसरे बाद अप्रमत्त गुणस्थ[illegible]
होता है। कवलाहार छूट [illegible]
स्थान पर्यन्त होता है, लोक[illegible]
है किन्तु जब हम जावके [illegible]
भा परिग्रहादि दोष आ[illegible]

करते। अतः संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मनुष्यको सबसे पहिले अनन्त संसारका विनाशक मिथ्यात्व त्यागना चाहिये।[1]

बहुतसे मनुष्य हिंसादि पञ्च पापोंको पाप समझते हैं, उनमें प्रधानतम पाप जो मिथ्यादर्शन है उसको पाप नहीं समझते। सब पापोंका जनक अनादिसे आता हुआ स्वपरभेदका बाधक यह मिथ्यात्व है। हिंसादिक तो चारित्रमोहमें गर्भित हैं। जब मिथ्या पाप गया परमात्मामें तो उसी समय इसके बन्ध्य निकल गया। केवल चरणमें औदयिक भाव होता है, यह उसका कर्ता नहीं बनता। इससे उसके आगामी बन्ध बहुत ही अल्प होता है। कुछ कालमें ऐसी परिणति इसकी हो जाती है कि सब कर्मोंकी जड़ जो मोह है उसका बन्ध नहीं होता। इसके बाद मिथ्यात्व चला जाता है मिथ्यात्वादि सोलह प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता। इस तरह क्रमसे गुणस्थान आरोहण करता है। जिस समय दशम गुणस्थान होता है उस कालमें मोहनीय कर्म तथा आयुको छोड़कर छह कर्मोंका ही बन्ध होता है। इसके अभावमें ज्ञानावरणादि अवशिष्ट रहकर बारहवें गुणस्थानमें अन्तर्मुहूर्तमें स्वयमेव नष्ट हो जाते हैं।[2]

अनादिसे यह जीव शरीरको निज मान रहा है तथा आहार, भय, मैथुन, परिग्रह यह ४ संज्ञाएँ साथ हैं। निरन्तर इसी परिपाटीसे निकलना कठिन है। प्रथम तो आहारके अर्थ अनेक उपाय करता है। भय होनेपर भागनेकी इच्छा करता है। वेदके उदयमें गुण-दोष देखनेकी इच्छा होती है। विषयकी लिप्सासे जो जो अनर्थ होते हैं वह किसीसे गुप्त नहीं। यह लिप्सा इतनी भयङ्कर है कि यदि इसकी पूर्ति न हो तब मृत्यु तकका पात्र हो जाता है। इसका लोभी

---

(१) २०,२८।६।५२। (२) ९।७। ११

जिनका लोकमें निन्दकमें कहते हैं उन्हें नमस्कार करनेमें भी संकोच नहीं करता। यहाँ तक देखा गया है कि पिताका सम्बन्ध माताके पुत्रोंसे हो गया। उत्तममें उत्तम राजा भी नीचके साथ समागम करनेमें संकोच नहीं करती। जिसने इस काम पर विजय प्राप्त कर ली वही महापुरुष है, या तो सभी उत्पन्न होते और मरते हैं।[1]

स्वार्थी कुटुम्ब—

पुत्रको मनुष्य बहुत ही प्रेमदृष्टिसे देखता है किन्तु बात इसके विपरीत ही है। मनुष्यका मनसे अधिक प्रेम स्त्रीमें रहता है, इसलिये उसका नाम 'प्राणप्रिया' रक्खा। 'मेरी आँखोंका तारा' आदि नामसे उसे सम्बोधित करता है। वह इसकी आज्ञाकारिणी रहती है। पहिले पतिको भोजन कराती है तब आप भोजन करती है। उसको शयन कराके शयन करती है। उसकी वैयावृत्य करनेमें किसी प्रकारका संकोच नहीं करती। पुत्र होते ही यह बात नहीं रहती। यदि भोजनमें विलम्ब हो गया तब पति कहता है 'विलम्ब क्यों हुआ?' तब वहाँ उत्तर यह मिलता है कि 'पुत्रका काम करूँ या आपका?' इत्यादि। तथा जब पुत्र वृद्धिको प्राप्त होता है और होशको प्राप्त होता है तब समर्थ होनेपर पुत्र अथवा स्वामी बन जाता है। वह स्वामित्व इसका सौंपना है, जो सँभाला अबतक हमने रखा था।" यहाँ तक देखा गया कि यदि दान देनेका प्रकरण आजाने तब लोगोंसे कहता है कि भाई! हम तो दूसरेका धरोहरका रक्षा कर रहे हैं। हम इसमें व्यय करनेका अधिकार नहीं।[2] अब आप लोग स्वयं निर्णय कर लो पुत्र मित्र है या शत्रु? यहाँतक कहूँ, मोही जीवका आनन्द नशेमें अपने आपका बोध नहीं होता।

---

(१) १०-७-५१। (२) २०-८-५१।

मोहजन्य अज्ञानता—

"आचरन् गुण तामात ! नानाशास्त्राण्यनेकशः ।
तथापि न तव स्वास्थ्यं मदविस्मरणादृते ॥"

एक भी आज तक नाना प्रकारके शास्त्रोंका अभ्यास करता रहा तथापि अनेक प्रकारके ग्रन्थ पढ़ता रहा तथा उनका मनन करता रहा परन्तु कल्याण नहीं, तथापि आज तक कल्याणसे भिन्न है। इसका एक भी अंश न तो अध्यात्म आता है और न आगे अंश मात्र आना है। इसका कारण यही है कि अनात्मीय पदार्थोंको आत्मीय मानता है। पर पदार्थोंमें निजत्व बुद्धि दुःखका कारण मान रहा है। जैसे मित्र, कलत्र, शत्रु पुत्रादिकोंको दुःखका कारण मान उनमें अप्रीति करता है और मित्र पुत्रादिकोंको सुखका कारण मान उनमें प्रेम करने लगता है। किन्तु पदार्थोंको परमार्थसे सुखका कारण और दुःखका कारण अति कठिन लगता है किन्तु स्वयं ही वह लौकिक सुखका ही रहता है। इस कारण अनादि संसारमें इस संसारमें चतुर्गति नारक तिर्यक्, मनुष्य तथा देवगति। भ्रमणकर संसार यथार्थमें सुख नहीं होता। यथार्थमें सुख होनेका कारण तो यह मित्र पत्र पिता इस संसारके कार्योंसे विरक्त हो। संसारके कारणोंसे विरक्त हो? जब कि इस हृदय समझ, सो तो समझाते न थे।

"नाहं देहो न मे देहो जीवो नाहमहं हि चित् ।
अयमेव हि मे बन्ध आसीद्या जीविते स्पृहा ॥"

न तो मैं देह हूँ और न मेरा देह है। और न मैं जीव हूँ मैं तो चित् स्वरूप हूँ, यदि मेरे जीनेकी स्पृहा है तो यही बन्ध है।

"एको द्रष्टासि सर्वस्य मुक्तप्रायोऽसि सर्वदा ।
अयमेव हि ते बन्धो द्रष्टारं पश्यसीतरम् ॥"

यद्यपि आत्मा एक है, स्वतन्त्र है, तथा प्रायः मुक्त ही है, किन्तु भ्रमसे परवश अपना मान रहा है। यही तेरे बन्धका कारण है कि आत्मासे अतिरिक्त पदार्थोंका द्रष्टा मान रहा है। आत्मासे भिन्न यह जो पदार्थ हैं वह तेरे नहीं और न तू उनका है। उन्हें अपने मानकर स्वयं अपनी भूलसे बँधा हुआ है, कोई अन्य बाँधनेवाला नहीं। जैसे कुत्ता दर्पणमें अपना मुख देख अपनेसे भिन्न प्रतिबिम्बको दूसरा कुत्ता मानकर भौंकता है, और उस दर्पणमें मुखकी ठोकर दे आप स्वयं चोटसे दुःखी होता है, कोई अन्य चोट देनेवाला नहीं, अपना ही आत्मीय बोध न होनेसे स्वयमेव दुःखका पात्र होता है। इसी तरह यह आत्मा अपने स्वरूपको भूल स्वयं पर पदार्थोंमें निजत्व कल्पना कर दुःखका पात्र होता है[1]—

"अपनी सुध भूल आप आप दुख उपायो।
जैसे शुक नभ चाल विसर नलिनी लटकायो॥"

सत्य यह है कि—

"उदेति भवतो विश्वं वारिधेरिव बुद्बुदः ।
इति ज्ञात्वैकमात्मानमेवमेव लयं व्रज ॥"

यह जो विश्व उदयको प्राप्त होता है सो आत्मासे ही होता है। अर्थात् जो जगत् दृश्यमान है वह आत्माके रागादि परिणामसे हो तो होता है। जैसे वारिधिसे बुद्बुद होते, वह यद्यपि वारिधिका

---

(१) ७-८-५१।

स्वभाव नहीं है फिर भी उस समुद्रमें परिणमनकी शक्ति है। वायुके निमित्तको पाकर तरङ्ग उत्पन्न होता है तथा बुद्बुद् आदि अनेक प्रकारके विकार भाव उसमें उत्पन्न होते हैं। अन्तमें उसी समुद्रमें लय हो जाते हैं। ऐसा जानकर यह जो दृश्यमान जगत है यह सब ही परिणमन विशेष है। अन्तमें शुद्धमें लीन हो जाता है।

यहाँ यह शंका होती है कि आत्मा तो अमूर्तीक द्रव्य है, उसका यह जगत विकार है, यह समझमें नहीं आता? आपका कहना ठीक है, वास्तवमें परमार्थ दृष्टिसे तो आत्मा अमूर्तीक है परन्तु अनादिकालसे इसका सम्बन्ध पुद्गलके साथ हो रहा है। इन असमान जातीय द्रव्योंका ऐसा विलक्षण सम्बन्ध है कि पुद्गलके विपाकसे आत्मामें रागादिक परिणाम होते हैं और वे परिणाम मोह रागद्वेष रूप हैं। मोहके विशेष मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान संज्वलन कषाय, प्रत्येक कषायमें क्रोध, मान माया, लोभ चार चार ४×४ भेद होकर १६ प्रकार कषायके भेद हो जाते हैं। तथा ९ प्रकारके ईषत् कषाय होते हैं जिनके हास्य रति-अरति-शोक-भय जुगुप्सा स्त्रीवेद-पुरुषवेद नपुंसकवेद नाम हैं। इस तरहसे २६ भेद मोहके होते हैं। इन्हींका परिवार सकल संसार है। संसारमें इन भावोंको छोड़ और कुछ नहीं। जिन महापुरुषोंने इनपर विजय प्राप्त कर ली वे इस संसारसे उत्तीर्ण हो गये। सबसे प्रबल शत्रु मोह है जिसके सद्भावमें यह जीव आप और परको नहीं जानता। जहाँपर आत्मा और परका विवेक नहीं वहाँ अपनी दया क्या करे? जबतक हम आपका ही विवेक नहीं तब ये हिंसादिक पापोंसे मुक्तिका उपाय कौन करे[1]?

(1) ११, १२, १३, १४-९-५१।

भेदज्ञानकी आवश्यकता—

> "न हिंसा नैव कारुण्यं नौद्धत्यं न च हीनता ।
> नाश्चर्यं नैव क्षोभः क्षीणसंसरणे नरे ॥"

अर्थात् जिस महापुरुषका संसार क्षीण हो गया है उसमें न तो निर्दयी हिंसा होती है, न करुणा होती है, न उद्धतता होती है न हीनता होती है, न क्षोभ होता है, और न आश्चर्य ही होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जब मनुष्यके भेदज्ञान हो जाता है उस समय वह परको पर और अपनेको भिन्न जानता है। जब परको पर जाना तब उसमें निजत्वकी कल्पना विलीन हो जाती है। जब निजकी कल्पना मिट गई तब उसमें राग न द्वेष दोनों विलय जाते हैं। उनके जानेपर स्वतः दया और हिंसाके भाव विलय जाते हैं। आत्माका स्वभाव ज्ञाता द्रष्टा है, जाननेवाला और देखनेवाला है, शेष जो भाव होते हैं वे उपाधिजन्य एवं विकारज हैं, इसके स्वभाव नहीं अतः स्वयमेव विलीन हो जाते हैं। जो धर्म आगन्तुक होता है वह मर्यादाके बाद नहीं रहता, पर्यायें स्वाभाविक एवं वैभाविक दो प्रकारकी होती हैं। वैभाविक पर्याय कारणके अभावमें नहीं रहतीं।

> "सर्वत्र दृश्यते स्वस्थः सर्वत्र विमलाशयः ।
> समस्तवासनामुक्तो मुक्तः सर्वत्र राजते ॥"

सब अवस्थाओंमें जिसका आशय निर्मल हो गया है, स्वस्थ रहता है, समस्त वासनाओंसे जो मुक्त है वही मुक्त है। वही आत्मा सर्वत्र शोभायमान होता है। रज्जुका ज्ञान हो जाता है उस समय सर्पका ज्ञान नहीं होता। इस जगतमें अनादिकालसे आत्मा कर्मोंके साथ सम्बन्ध चला आया है जिससे आत्मा मलिन हो रहा

हैं। परन्तु जब भेदज्ञान हो जायगा तब अन्तरङ्ग कारणोंका अभाव होनेसे सुतरां उस निमित्तताका अभाव होगा जिससे संसार परिभ्रमणका यह चक्र सहसा नष्ट हो जायगा [1]।

शान्ति कहाँ

शान्तिके बाधक कारण

हमारी अज्ञानता—

अशान्तिका मूल कारण किसीकी भिन्नता है परन्तु भिन्नता होती नहीं। उसका मूल कारण यह कि हमारी बुद्धि परको अपना मानती है और जब परको अपना माना तब उसके रक्षणका भाव निरन्तर रहता है। उसका रक्षण हमारे आधीन नहीं, क्योंकि उस पर पदार्थकी अनेक अवस्थाएँ होती हैं। उनमें किसी अवस्थाको हम इष्ट और किसीको अनिष्ट होनेकी कल्पना करते हैं। हमारे अनुकूल जो परिणमन हो गया उसको हम चाहते हैं, उसके रक्षणका सतत प्रयत्न करते हैं किन्तु वह परिणमन समय पाकर अन्य रूप हो जाता है। तब हम अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं और उसके रक्षणकी सतत चेष्टा करते हैं। यही हमारी महती अज्ञानता है। हमने यह प्रयत्न नहीं किया कि जो पर पदार्थ न कभी अपना हुआ न था और न भविष्यमें होगा ही यह निश्चित है फिर भी मोहके आवेशमें निरन्तर विपरीत परिणमन करनेकी प्रकृति बना रखी है। अन्यकी कथा छोड़ो जो लावण्यता बाल्यकालमें मनुष्यके विद्यमान है कुछ काल उपरान्त वह चली जाती है। तब हम युवक कहने लगते हैं। अनन्तर वृद्ध हो जाता है, दन्त भग्न हो

(१) १५ १६-९-५१।

जाते हैं, नेत्र मन्द ज्योति हो जाते हैं, पग चलनेमें इन्कार कर देते हैं, हाथ काम करनेमें अग्रसर नहीं होते। जो बालक उससे गाली खेलते हैं, वे स्पर्श करनेकी क्या छोड़ो देखना भी नहीं चाहते। यह सब प्रत्यक्ष देखकर भी हम इस मदिरासे बाहर रहते हैं, इसका मूल कारण मोह है।

मोह मदिरा—

मोह मदिराके नशामें पड़े मनुष्यकी दशा मद्यपानवालेके सदृश रहती है। एक बार मैं गिरिराज (सम्मेदशिखर) की तल के पार्श्वभाग ईसरीमें निवास करता था। एक दिन सायंकाल भ्रमणार्थ गया। एक वनमें आधा फर्लांग पर ही एक मद्यकी दुकान थी उसके पास चला गया। वहाँ जाकर देखा कि बहुतसे मनुष्य मद्यके नशामें उन्मत्त होकर नाना असभ्य शब्द तथा नाना प्रकारकी कुचेष्टा कर रहे हैं। यहाँ तक कि मुँहमें मक्खियाँ जा रही हैं कुत्ते शरीर पर मूत्र कर रहे हैं। परन्तु वे इसकी कुछ भी परवा नहीं करते और न इनके निवारणका कुछ प्रयास ही करते हैं। इतनेमें नवीन शराब पानवाले आये और मद्य विक्रेतासे कहने लगे कि 'बढ़िया शराब देना।' विक्रेताने उत्तर दिया कि 'देखते नहीं, तुम्हारे दादा सामने ही तो लोट रहे हैं?'

मदिराके नशामें आत्माकी दशा उन्मत्त हो जाती है। यही अवस्था मोही जीवोंकी जाननी चाहिये।

स्वार्थी संसार—

जीव एकाकी माँके गर्भमें आता है और नव मास पर्यन्त अधोमुख होकर बिताता है। वहाँसे जब निर्गत होता है उन दुःखोंका अनुभव वही जानता है, अन्य कोई तो जान ही क्या सकेगा? जो माता उसे अपने उदरमें धारण करती है उसे भी उस [illegible] नहीं।

जब निगन हुआ तब आत्मावस्थामें शक्ति व्यक्त न होनेसे, इन्द्रियद्वार धातुका बोध न होनेसे जो वह उसे होते हैं उनके वर्णन करनेमें अन्य किसीका सामर्थ्य नहीं। उसे भूख लगी है, दुग्ध पान करना चाहता है परन्तु माँ अपने पान करावे इस आशासे चेष्टा करती है। वह माता चाहता है माँ रहता है रोता। दुग्ध पान करता। बालकका माता पिता ये सब तरहसे प्रतिकूल बातोंसे ही बाल्यावस्थाके बालकको पूर्ण करना चाहता है। वर्ष ५ बरसका हुआ माता पिता बालकको पढ़ानेका प्रयत्न करते हैं। ऐसी शिक्षा प्रदान कराते हैं जिससे लौकिक उन्नति हो यद्यपि लौकिक उन्नतिमें शान्ति नहीं मिलती तथापि माता पिताओंकी ऐसी परम्परासे पद्धति चली आ रही है तदनुकूल ही उनका बालकके प्रति भाव रहता। जिस शिक्षासे आत्माको शान्ति मिले उस ओर लक्ष्य ही नहीं। गुरुपर रहना जिससे बालक ज्ञान पाकर आत्मकल्याण कर सके ऐसी ही शिक्षा देना।

जहाँ १५, १६ वर्षका हो गया माता पिताने दृष्टि बदली और यह संकल्प करने लगे कि इस बालकका विवाह हो जावे। इसी चिन्तामें मग्न रहने लगे। धनिकके यहाँ जाकर विवाहके लिए लड़कीकी खोज करने लगे। जितना गहना अपने तुल्य हो बालकको बनाकर समाज प्रतिष्ठाको ही उपदेश देते हैं। इस तरह यह संसार चक्र चल रहा है, इसमें कोई विरला ही महानुभाव होगा जो अपने बालकको ब्रह्मचारी बनाकर स्वपरके उपकारमें आयु पूर्ण करे। आजसे २००० वर्ष पहले श्रमण संस्कृति थी तब बालक गण मुनियोंके पास रहकर विद्याध्ययन करते थे। कोई तो मुनिवेषमें अध्ययन करते थे, कोई ब्रह्मचारी वेषमें ही अध्ययन करते थे, कोई साधारण वेषमें अध्ययन करते थे। स्नातक होनेके अनन्तर कोई तो गृहस्थावस्थाको त्यागकर मुनि हो जाते थे कोई आजन्म

ब्रह्मचारी रहते थे, कोई गृहस्थ बनकर ही अपना जीवन निर्वाह करते थे परन्तु अब तो गृहस्थावस्था छोड़कर कोई भी त्याग करना नहीं चाहता। सब गृहस्थ धर्ममें रहकर ही सन्तोष मानते हैं।

निरीहवृत्तिका अभाव—

कल्याणका मार्ग तो निरीहवृत्तिमें है। निरीहता तभी आवे जब परपदार्थोंसे ममता छूटे। यहाँ तो परको अपना मानना ही ध्येय बना रक्खा है। सारा संसार देखा, जिसने संतोष न पाया उसे संतोष मिलनेका मार्ग भी कठिन है, क्योंकि ममता छूटती नहीं। ममतासे तात्पर्य यह है कि इन परपदार्थोंमें रागद्वेष कल्पना त्यागो। यहाँ जाओ जिससे बात करो, केवल फँसानेका ही व्यापार है। व्यर्थके जल्पवादमें और मानसिक अनल्प विकल्पोंमें कायिक अनर्गल व्यापारों द्वारा यह जीवन बिताया जाता है। कल्याणके लिये न तो विशिष्ट तपकी आवश्यकता है और न विशिष्ट ज्ञानकी ही आवश्यकता है। आवश्यकता है तो केवल निरीहवृत्तिकी। निरीहवृत्ति उसीकी हो सकती है जो इन परपदार्थोंको अपनाना त्याग देवे।

परमें निजकी मान्यता—

परको निज मानना ही अनर्थकी जड़ है। जैसे कोई रज्जुमें सर्प मान लेवे तब सिवाय भयके और क्या लाभ? परकी परिणति कभी आपरूप नहीं होती। संसारमें जितने पदार्थ हैं वह चाहे चेतन हों, चाहे अचेतन हों। चेतन पदार्थ चेतन द्रव्य और चेतन गुणोंमें व्याप्त होकर रहेंगे। अचेतन पदार्थ अचेतन द्रव्य और गुणोंमें व्याप्त होकर स्वभावमें रहेंगे। जैसे कुम्भकारके द्वारा घट बनाया जाता है किन्तु न तो घटमें कुम्भकारका द्रव्य जाता है और न गुण जाता है क्योंकि वस्तुकी मर्यादा अनादिनिधन है,

इसका परिवर्तन नहीं हो सकता। द्रव्यान्तरके संक्रमणसे निज गुण पर्याय अन्यका परिणमन करनेवाला नहीं हो सकता। इसी तरह पुद्गलमय जो ज्ञानावरणादि कर्म हैं उनमें न तो जीवका द्रव्य है और न गुण है, क्योंकि द्रव्यान्तर संक्रमण वस्तुकी मर्यादासे ही निषिद्ध है। अतः परमार्थसे आत्मा ज्ञानावरणादि का कर्ता नहीं फिर भी ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध अनादि से चला आ रहा है कि जिस समय आत्मा रागादि रूप परिणमता है उस कालमें जो कार्मण वर्गणारूप आत्माके प्रत्येक प्रदेशमें सम्बन्धित हैं वह ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमनको प्राप्त हो जाता है तथा जो रागादि परिणाम हैं उस परिणमनमें कारण हैं उनके निमित्तसे जो कर्म ज्ञानावरणादिरूपमें आकर आत्माको रागादि रूप परिणमनमें निमित्त कारण हो जाते हैं। इनका उदय जिस प्रकारके फलदानमें समर्थ होता है वही अनुभागबन्ध है। उस समय आत्मामें उदयानुकूल परिणमन होता है। उसी समय जो कार्मणवर्गणाएँ हैं वे यथायोग्य ज्ञानावरणादिरूप परिणमनको प्राप्त हो जाती हैं। इस रीतिसे अनादि संसारकी यह परिपाटी चल रही है। अनुभवमें यह आता है कि ये रागादि परिणाम होते हैं इनका कोई न कोई कारण होना चाहिये। वह क्या है? सो जानता नहीं। किन्तु ऐसा नियम है कि जो कार्य होता है वह उपादान और निमित्तसे होता है। उपादान तो हम ही हैं, निमित्त कारण जो है वह रागादि [illegible] पादक कोई होना चाहिये सो आदि तो नियामक नहीं।

आत्मज्ञानका अभाव—

जबतक मोह रहता है तबतक तो आत्मदृष्टिका उदय ही नहीं, अपने अस्तित्वकीका परिचय नहीं। बाहेरी शान्ति? यह जीव अनादिकालसे अपनेको नहीं जानता, क्योंकि जो अपनी सत्ता है

यह यद्यपि प्रतिसमय ज्ञानमें आता है परन्तु उस ओर लक्ष्य नहीं। जब भूख लगती है, पियास सताती है, शीघ्र ही हमें बोध होता है कि हम भूखे हैं, प्यासे हैं। यही बोध तो हमारा परिचायक है। इससे अधिक ज्ञान आत्माका और कौन करा सकेगा? परन्तु हम उस ओर दृष्टि नहीं देते क्योंकि यह प्रक्रिया प्रतिदिन की है। यही परिचय अवज्ञाका कारण हो जाता है। आत्माका परिचय प्राणीमात्रको है परन्तु उस ओर लक्ष्य नहीं। आत्मज्ञान न हो तो कुछ भी कार्य नहीं हो सकता। आहार, भय, मैथुन, परिग्रह ये जो चार संज्ञाएँ किसके होती हैं यह तो आत्मा है। यद्यपि आत्मा अमूर्त पदार्थ है मूर्त पदार्थका उससे सम्बन्ध नहीं हो सकता परन्तु अनादिकालसे इस आत्मा और कर्मका सम्बन्ध है इससे परको निज मानता है और जब परको निज माना तब परकी रक्षार्थ अनेक प्रकारके प्रयास करने पड़ते हैं। शरीर निज पुद्गल द्रव्योंसे बना है, उसकी जब त्रुटि होने लगती है तब यह जीव उसकी पूर्तिका प्रयास करता है। इसी तरह जब क्रोधादि कषायोंका उदय होता है तब किसीके अनिष्ट करनेका भाव होता है, किसीसे अपनी प्रशंसा चाहता है, किसी पदार्थको इष्ट मान ग्रहण करना चाहता है, मायाचारके वशीभूत होकर अन्यथा परिणमन करता है। इसी तरह जब हास्यादि कषायका उदय होता है तब हास्यादि रूप परिणमन करता है। इसी तरह इस जीवकी नाना दशा होती है। यह सब जंजाल परको निज माननेसे है। जिस कालमें यह परको पर आपको आप मानकर केवल ज्ञाता दृष्टा बना रहे अनायास यह सब परिणमन शान्त हो जायगा।

परसम्पर्क—

दो पदार्थोंका सम्पर्क जनक है तबतक यह दुरवस्था है। जहाँ सम्बन्ध छूटा कि सब गया। जितना अधिक जनसम्पर्क होगा

रता है संसार बंधन शिथिलता प्राप्त होगा। जितने मनुष्य मिलते हैं अपनी कामनाओंके अनुसार चक्रमें डालनेकी चेष्टा करते हैं। परन्तु आवश्यक यह है कि निज उपयोगका स्मरण रखना। उपयोगका स्वभाव है कि जो पदार्थ उसमें आवेगा उसे देखेगा। प्रथम तो इन्द्रियजन्य जो तुम्हारा ज्ञान है। इसके द्वारा रूप-रस गन्ध स्पर्श हो तो तुम्हारे ज्ञानके विषय हैं। इसमें अधिक इन्द्रिय ज्ञानकी शक्ति नहीं। तुम निज कषायके अनुसार किसीको इष्ट और किसीको अनिष्ट होनेकी कल्पना करते हो। इष्टका संग्रह और अनिष्टके त्यागमें प्रयत्नशील रहते हो। इसमें भी कोई नियम नहीं कि इष्ट पदार्थ सर्वदा इष्ट रहे। जो वस्तु पहिले इष्ट है वही वस्तु कालान्तरमें अनिष्ट देखी जाती है। शीतस्पर्श शिशिर ऋतुमें इष्ट नहीं और वही शीतल स्पर्श ग्रीष्म कालमें इष्ट देखा जाता है। जो ऊनी वस्त्र शीतकालमें सुखद देखा जाता है वही वस्त्र गर्मीके दिनोंमें असुखद देखा जाता है। जो रस शीतकालमें इष्ट होता है वही गर्मीके दिनोंमें अनिष्ट देखा जाता है। जो गाली अपने गाममें अनिष्ट होती है वही गाली ससुरालमें इष्ट मालूम होती है। अतः उचित है कि परका सम्बन्ध त्याग।

(१९ म २७।११।११)

त्यागियों और विद्वानों से

शुभपञ्चमीका यह पर्व हमको यह शिक्षा देता है कि यदि कल्याण करनेकी इच्छा है तब ज्ञानार्जन करो। ज्ञानार्जनके बिना मनुष्य जन्मकी सार्थकता नहीं। देव और नारकियोंके तीन ज्ञान

होते हैं। जो ज्ञान होते हैं उनमें न विशेष वृद्धि नहीं कर सकते हैं। जैसे देवताके देशावधि है वे उसे परमावधि सर्वावधि नहीं कर सकते। हाँ, यह अवश्य है जैसे उनके मिथ्यादर्शनका उदय हो तब उनका ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलावेगा। सम्यग्दर्शनके हो जानेपर सम्यग्ज्ञान हो जावेगा। परन्तु देव पर्यायमें संयमका उदय नहीं। अतः आपर्यायं वही अविरत अवस्था रहेगी।

मनुष्य पर्याय ही की विलक्षण महिमा है जो सकलसंयम धारण कर यह संसार बन्धन विनाश कर सकता है। यदि संसारका नाश होता है तब इसी पर्यायमें होता है अतः इस पर्यायका महत्त्व संयमसे ही है। हम निरन्तर संसारको यह उपदेश देते हैं कि मनुष्य जन्म पाकर इसकी सार्थकता इसीमें है कि ऐसा उपाय करो जिससे फिर संसार बन्धनमें न बँधना पड़े। इस उपदेशका तात्पर्य केवल सम्यग्दर्शनमें नहीं, क्योंकि सम्यग्दर्शन तो चारों गतियोंमें होता है। केवल इस को प्राप्त किया तब क्या विशेषता हुई। अतः इससे उत्तर संयम धारण करना ही इस पर्यायकी सफलता है।

आजकल बड़े बड़े विद्वान यह उपदेश देते हैं कि स्वाध्याय करो। यही आत्मकल्याणका मार्ग है। उनसे यह प्रश्न करना चाहिये महानुभाव! भगवन्!! विद्वच्छिरोमणि!!! आपने आजन्म विद्याभ्यास किया, सहस्रोंको उपदेश दिया, स्वाध्याय तो आपका जीवन ही है, हम जो चलेंगे सो आपके उपदेश पर चलेंगे। परन्तु देखते हैं आप स्वयं स्वाध्यायके करनेका कुछ लाभ नहीं लेते। अतः हमको तो यही श्रद्धा है कि स्वाध्यायके करनेसे यही लाभ होगा कि आपको उपदेश देनेमें पटु हो जावेंगे। सो प्रायः जितनी बातोंका उपदेश आप करते हैं हम भी कर देते हैं। प्रत्युत एक बात हम लोगोंमें विशेष है कि हम आपके उपदेशसे दान करते हैं। अपने बालकोंको यथाशक्ति जैनधर्मका ज्ञान करानेका प्रयत्न

रते हैं। परन्तु आपमें यह बात नहीं देखी जाती। आपके पास चाहे पचासों हजार रुपया हो जावें परन्तु आप उनमेंसे दान न करेंगे। अथवा यथा शक्ति आप जिन विद्यालयों द्वारा विद्वान हुए, उनके अर्थ कभी १०) भी भेजे होंगे। जिनका ज्ञान छोड़ो क्या यदि वह न होते तो आप होते कि नहीं? इस तो श्रमुक विद्यालयमें विद्वान हुए उसकी सहायता करनी चाहिये। तथा जनताको उपदेश देकर जानतेको ज्ञान परन्तु अपने जानकारोंको ज्ञान न० हो बनाया होगा। धर्म शिक्षाका शिथिल भी न कराया होगा। अन्यको मन्द मार्ग मधुर त्यागका उपदेश देते हैं। आपसे यदि पूछे कि आपके उपयुक्त गुण हैं तो हँस देवेंगे। व्याख्यान देते देते पानीका गिलास यह जार श्रा जाय तो कार्य नहीं जान पाते। हमारे श्रोता गण भी इसीसे प्रसन्न हैं कि प० जीने सभीको प्रसन्न कर लिया।

यदि यह पण्डित वर्ग चाहे तब समाजका बहुत कुछ हित कर सकता है। हम पण्डित हैं व नियम कर लेवें कि जिस विद्यालय से हमने प्रारम्भमें विद्याध्ययन किया है और जिसमें अन्तमें स्नातक हुए, अपनेको कृतज्ञ माननेके लिये ?) प्रतिशत देवेंगे। १) प्रतिशत प्रारम्भके विद्यालयके लिये तथा १) प्रतिशत अन्तिम विद्यालयको प्रतिमास भिजवावेंगे। यदि २००) मास उपार्जन होता होगा तब २।) २।) प्रतिमास भिजवावेंगे। तथा १ वर्षमें १० दिन दोनों विद्यालयोंमें अध्ययन देवेंगे। अथवा यह न दे सके तब इससे कम जहाँ जावें उन विद्यालयोंका परिचय तो करा देवें। जिनको १००) से कम आय हो वह प्रतिवर्ष ५) ५) तो अपनी संस्था मालभरीको पहुँचा देवें। तथा यह भी न बन सके तब संसारमें एक वर्षमें कमसे कम जिस ग्रामके हो वहाँ रहकर लोगोंमें धर्म प्रचार तो कर देवें।

त्यागियोंकी बात कौन कहे? यह तो त्यागी हैं। जिनके

त्यागी हैं ? ऐसा दृष्टि डालिये तो पता चलेगा। त्यागी वर्गको यह उचित है जहाँ जायें वहाँ पर यदि विद्यालय हो तब ज्ञानार्जन करें। केवल हल्दी, धनियाँ, जीरेके त्यागमें ही अपना समय न बितावें। गृहस्थोंके बालक जहाँ अध्ययन करते हैं वहाँ अध्ययन करें तथा शास्त्र सभामें यदि अच्छा विद्वान् हो तो उसके द्वारा शास्त्र प्रवचन प्रणालीकी शिक्षा लेवें। केवल शिक्षा प्रणाली ही तक न रहें किन्तु संसारके उपकारमें अपनेको लगा देवें। यह भी व्यवहार है। अपने उपकारमें इतने लीन हो जावें कि अन्य बातका उपयोगमें न आवे।

कल्याणका मार्ग पर पदार्थोंमें भिन्न जो निज द्रव्य है उसीमें रत हो जाना है। इसका अर्थ यह है जो परमें रागद्वेष विकल्प होते हैं। इसका मूल कारण मोह है। यदि मोह न हो तब यह वस्तु मेरी है यह भाव भी न हो तब उसमें राग हो यह सर्वथा नहीं हो सकता। प्रेम तभी होता है जब उसमें अपने अस्तित्वकी कल्पना की जावे। देखो! प्राय मनुष्य कहते हैं हमारा विश्वास अमुक धर्ममें है। हमारी तो प्रीति इसी धर्ममें है। विचार कर देखो प्रथम उस धर्मको निजका मानना भी तो उसमें प्रेम हुआ। और यदि धर्मको निजका न मानें तब उसमें अनुराग होना असम्भव है। यही कारण है कि एक धर्मवाला अन्य धर्मसे प्रेम नहीं करता। अतः जिनको आत्मकल्याण करना है वे आत्मासे राग करें जो आत्मा नहीं उनसे राग न करें और न द्वेष करें। आत्मा एक द्रव्य है, ज्ञानदर्शनवाला है, बल्कि यह भी व्यवहार है। ज्ञान-दर्शनके विकल्प क्षयोपशम ज्ञानमें होते हैं।

श्रुत पञ्चमी }
वि० सं० २००८ }

द्रव्य और उसके परिणामका कारण

"अहंप्रत्ययवेद्यत्वाज्जीवस्यास्तित्वमन्वयात्।
एको दरिद्र एकः श्रीमानिति च कर्म्मणः॥"

मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, इत्यादि प्रत्ययमें जीवके अस्तित्वका ज्ञान प्रकार होता है तथा अन्वयमें भी इसका प्रत्यय होता है कि यह वही देवदत्त है जिसे मैंने मथुरामें देखा था। अब यहाँ देख रहा हूँ इस प्रत्ययमें भी आत्माके अस्तित्वका निर्णय होता है तथा कोई तो श्रीमान देखा जाता है, कोई दरिद्र देखा जाता है, इस विभिन्नताका कोई कारण होना चाहिये। यह विषमता निर्हेतुक नहीं, जो हेतु है उसीको कर्मनामसे कहा जाता है। नाममें विवाद नहीं— चाहे धर्म कहो, अदृष्ट कहो, ईश्वर कहो, खुदा कहो, विधाता कहो, जो आपको रुचिकर हो परन्तु यह अवश्य मानना कि यह विभिन्नता निर्मूल नहीं। तथा यह भी मानना पड़ेगा कि जो यह दृश्यमान जगत् है वह केवल एक जीवका परिणाम नहीं। यदि केवल एक पदार्थका हो तब इसमें नानात्व कहाँसे आया? नानात्व का नियामक द्रव्यान्तर होना चाहिये। केवल पुद्गलोंमें यह शब्दादि पर्यायें नहीं होतीं। जब पुद्गल परमाणुओंकी स्कन्धावस्था हो जाती है तभी यह पर्यायें होती हैं। उस अवस्थामें पुद्गल परमाणुओंकी सत्ता द्रव्यरूपसे अबाधित रहती है। शब्दादि पर्याय केवल परमाणुओंकी नहीं किन्तु स्कन्धपर्यायापन्न परमाणुओं की हैं। इसी तरह जो रागादि पर्यायें हैं वह उदयावस्थापन्न जो कर्म उसके सद्भावमें ही रागादि पर्याय जीवमें होती हैं। यदि ऐसा

न माना जाय तब रागादि परिणाम जीवका पारिणामिक भाव हो जाय। ऐसा होनेमें संसारका अभाव हो जाय। यह किसीको इष्ट नहीं। किन्तु प्रत्यक्षसे रागादि भावोंका सद्भाव देखा जाता है। इससे यही तत्त्व निर्गत होता है कि रागादि भाव औपाधिक हैं। जैसे स्फटिक मणि स्वच्छ है किन्तु जब स्फटिक मणिके साथ जपापुष्पका सम्बन्ध होता है तब उसमें लालिमा प्रतीत होती है। यद्यपि स्फटिक मणि स्वयं रक्त नहीं किन्तु निमित्तको पाकर रक्तिमामय प्रत्ययका विषय होती है। इससे यह समझमें आता है कि स्फटिक मणिके निमित्तको पाकर लाल जान पडती है, वह लालिमा सर्वथा असत्य नहीं। ऐसा सिद्धान्त है कि जो द्रव्य जिस कालमें जिस रूप परिणमता है उस कालमें तन्मय हो जाता है। श्री कुन्दकुन्द स्वामीने स्वयं प्रवचनसारमें लिखा है—

'परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयत्ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो ॥"

इस सिद्धान्तसे यह निष्कर्ष निकला कि आत्मा जिस समय रागादिमय परिणमता उस कालमें नियमसे उस रूप ही है तथा पर्याय दृष्टिसे उन्हीं रागादिका उस कालमें भोक्ता होगा, जो भाव करेगा वर्तमानमें उसीका अनुभव होगा जैसे जल शीत है। परन्तु अग्निके सम्बन्धसे उष्ण पर्यायको प्राप्त करता है। यद्यपि उसमें शक्ति अपेक्षा शीत होनेकी योग्यता है परन्तु वर्तमानमें शीत नहीं। यदि कोई उसे शीत मानकर पान करे तब दग्ध ही होगा। इसी प्रकार यदि आत्मा वर्तमानमें रागरूप है तब रागी ही है। इस अवस्थामें वीतरागताका अनुभव होना असम्भव ही है। उस कालमें आत्माको रागादि रहित मानना मिथ्या है। यद्यपि रागादि परिणाम परनिमित्तक हैं अतएव औपाधिक हैं, नाशशील हैं

परन्तु वर्तमानमें तो आत्मा परिणत अय पिण्डका आत्मा तन्मय हो रहा है। अर्थात उन परिणामोंके साथ आत्माका तादात्म्य हो रहा है। इसीका नाम अनित्य तादात्म्य है। यह अलीक कथन नहीं। जिस कालमें एक मनुष्यने मद्यपान किया वर्तमानमें जब वह मनुष्य मद्यपानके नशामें उन्मत्त होगा तब क्या वर्तमानमें वह मनुष्य उन्मत्त न होगा? अवश्य उन्मत्त है। किन्तु किसीसे आप प्रश्न करें कि मनुष्यका लक्षण क्या है? तब क्या वह उत्तर देने वाला यह कह सकता है कि मनुष्यका लक्षण उन्मत्तता है? नहीं। उससे आप क्या यह कहेंगे कि उत्तर ठीक रहा? न। वह गलत, क्योंकि मनुष्यकी सभी अवस्थाओंमें उन्मत्तताकी व्याप्ति नहीं। इसी तरह आत्मामें रागादि भाव होने पर भी आत्माका लक्षण रागादि नहीं हो सकता क्योंकि आत्माकी अनेक अवस्थाएँ होती हैं। उन सबमें यह रागादि भाव व्यापक रूपसे नहीं रहता, अतः यह आत्माका लक्षण नहीं हो सकता। लक्षण वह होता है जो सभी अवस्थाओंमें पाया जावे। ऐसा लक्षण चेतना ही है। यद्यपि रागादि परिणाम तथा मतिज्ञानादि भी आत्मा हीमें होते हैं परन्तु वह लक्षण नहीं माने जाते, क्योंकि वे पर्याय विनाशीक हैं। व्यापक रूपमें नहीं रहतीं। चेतना ही आत्माका एक ऐसा गुण है जो आत्माकी सभी दशाओंमें व्यापक रूपसे रहता है। आत्माकी दो अवस्थाएँ हैं—संसारी और मुक्त। इन दोनोंमें चेतना रहती है। इसीसे अमृतचन्द्र स्वामीने लिखा है—

"अनाद्यनन्तमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटम्।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते॥"

जीव नामक जो पदार्थ है वह स्वयं सिद्ध है तथा पर निरपेक्ष अपने आप अतिशय कर चकचकायमान—प्रकाशमान हो रहा है।

कैसा है ? अनादि है, कोई इसका उपादक नहीं, अतएव अनादि है, अतएव अकारण है, जो वस्तु अनादि अकारण है वह अनन्त भी होती है तथा अचल है। ऐसे अनादि अनन्त तथा अचल अर्थात् द्रव्य भी है। इसमें इसका लक्षण स्वसंवेद्य भी है यह स्पष्ट है। जीव नामक पदार्थ अन्य पदार्थोंसे अपना चेतना गुण द्वारा भेद करनेवाला है। यह गुण इसमें विशद है। जो सब पदार्थोंकी और उनकी व्यवस्था कर रहा है। इस गुणको सभी मानते हैं परन्तु कोई उस गुणको उससे सर्वथा भिन्न मानते हैं, और कोई गुणसे अतिरिक्त अन्य द्रव्य नहीं, गुणगुणी सर्वथा एक हैं ऐसा मानते हैं। कोई चेतना तो जीवमें मानते हैं परन्तु वह ज्ञेयाकार परिच्छेदसे पराङ्मुख रहना है। प्रकृति और पुरुषके सम्बन्धसे जो बुद्धि उत्पन्न होती है उसमें चेतनाके संसर्गसे जानपना आता है ऐसा मानते हैं। कोई कहता है कि पदार्थ नाना नहीं एक ही अद्वैत तत्त्व है, वह जब मायावच्छिन्न होता है तब यह संसार होता है। चिर्वाक कहता है कि जीव नामक स्वतन्त्र जीवकी सत्ता नहीं। पृथिवी जल, अग्नि, वायु, आकाश इनकी विलक्षण अवस्था होती है। उसी समय यह जीव रूप अवस्था हो जाता है। यह विविध मत हैं सर्वथा मिथ्या नहीं। जैनदर्शनमें अनन्त गुणोंका जो अविनाभाव सम्बन्ध है वही तो द्रव्य है। वह गुण आत्माय आत्मीय स्वरूपकी अपेक्षा भिन्न भिन्न है परन्तु कोई ऐसा उपाय नहीं जो उनमेंसे एक भी गुण पृथक् हो सके। जैसे पुद्गल द्रव्यमें रूप-रस-गन्ध स्पर्श गुण हैं, चक्षुरादि इन्द्रियोंसे पृथक् पृथक् ज्ञानमें आते हैं, परन्तु उनमें कोई पृथक् करना चाहे तो नहीं कर सकता। वे सब अखण्डरूप से विद्यमान हैं। इन सब गुणोंका जो अभिन्न प्रदेशता है उसीका नाम द्रव्य है। अतएव प्रवचनसारमें श्री कुन्दकुन्ददेवने लिखा है—

"णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो ।
दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थित्तणिप्पण्णो ।"

परिणामके बिना अर्थकी सत्ता नहीं तथा अर्थके बिना परिणाम नहीं। जैसे दुग्ध, दधि, नवनीत, छाछ इनके बिना गोरसकी भी सत्ता नहीं रहती। इसी तरह गोरसके न होने पर दुग्धादिकी सत्ता भी नहीं। इसी प्रकार आत्माके बिना ज्ञानादि गुणोंकी कोई अस्तित्व नहीं। बिना परिणामीके परिणामकी नियमसे कोई सत्ता नहीं। यह अवश्य है कि यद्यपि गुण स्वयं परिणमनशील हैं किन्तु अनादिसे आत्मा कर्मोंसे सम्बन्धित है इससे इसके ज्ञानादि गुणोंका विकाश निमित्त कारणोंके सद्भावमें होता है। होता उसीमें है परन्तु जैसे घटोत्पत्ति यद्यपि मृत्तिकामें होती है। परन्तु कुम्भकारके व्यापारके बिना घट नहीं बनता यद्यपि कलशकी उत्पत्तिके अनुकूल व्यापार कुम्भकारमें ही होगा फिर भी मिट्टी अपने व्यापारसे घट रूप होगी। कुम्भकार घटरूप न होगा। उपादानकी मुख्य माननेवालोंका कहना है कि कुम्भकारकी उपस्थिति जहाँपर जब मिट्टीमें घट पर्यायकी उत्पत्ति होती है, स्वयमेव हो जाता। यहाँपर यह कहना है कि घटोत्पत्ति स्वयमेव मिट्टीमें होती है इसका क्या अर्थ है? जिस समय मिट्टीमें घट होता है उस कालमें क्या कुम्भकारादि निरपेक्ष घट होता है या सापेक्ष? यदि निरपेक्ष घटोत्पत्ति होती है तब तो एक भी उदाहरण बताओ जो मृत्तिकामें कुम्भकारके व्यापार बिना घट हुआ हो, सो तो देखा नहीं जाता। सापेक्ष पक्षको अङ्गीकार करोगे तब स्वयमेव आ गया कि कुम्भकारके व्यापार बिना घटकी उत्पत्ति नहीं होती। इसका अर्थ यह है कि कुम्भकार घटोत्पत्तिमें सहकारी निमित्त है। जैसे आत्मामें रागादि परिणाम होते हैं, आत्मा ही इनका उपादानकर्ता है परन्तु चारित्रमोहके

बिना रागादि नहीं होते। ज्ञान आत्मामें ही है परन्तु बिना कर्मोदयके ये भाव नहीं होते। यदि निमित्तके बिना ये होते तब आत्माके त्रिकाल अबाधित स्वभाव हो जाते सो ऐसे ये भाव नहीं, इनका विनाश हो जाता है अतः यह मानना पड़ेगा कि वे आत्माके निज भाव नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि ये भाव आत्माके होते ही नहीं, होते तो हैं परन्तु निमित्त कारणकी अपेक्षासे होते हैं। यदि ऐसा कहोगे तब आत्मामें मतिज्ञानादि जो चार ज्ञान उत्पन्न होते हैं वे भी तो नैमित्तिक हैं, उनको भी आत्माके मत मानो। यह तो हम स्पष्ट हैं, हम तो यहाँ तक मानने को प्रस्तुत हैं कि क्षायोपशमिक औदयिक औपशमिक जितने भी भाव हैं वे आत्माके अस्तित्वमें सदा नहीं होते। उनकी कथा छोड़ो, क्षायिक भाव भी तो उत्पन्न होते हैं वे भी अबाधित रूपसे त्रिकालमें नहीं रहते अतः ये भी आत्माके लक्षण नहीं। केवल चेतना ही आत्माका लक्षण है। यही अवस्थित त्रिकालमें रहता है। ऐसा भावको प्रकट करनेवाला एक श्लोक अष्टावक्र गीतामें अष्टावक्र ऋषिने लिखा है—

> "नाहं देहो न मे देहो जीवो नाहमहं हि चित्।
> अयमेव हि मे बन्धो या स्याज्जीवित स्पृहा॥"

मैं देह नहीं हूँ, और न मेरा देह है और न मैं जीव हूँ, मैं तो चित् हूँ, अर्थात् चैतन्य गुणवाला हूँ, यदि ऐसा वस्तुका निज स्वरूप है तब आत्माको दुःख क्यों होता है? इसका कारण हमारी इस जीवनमें स्पृहा है। यह जो इन्द्रिय, मन, वचन, काय, श्वासोच्छ्वास और आयु प्राणवान पुतलेमें हमारी स्पृहा है यही तो दुःखका मूलकारण है। हम जिस पर्यायमें जाते हैं उसीको निज मान बैठते हैं। उसके अस्तित्वसे अपना अस्तित्व मानकर पर्यायबुद्धि होकर सब व्यव

हर पर्यायके अनुरूप प्रवृत्ति करते करते उस पर्यायको पूर्णकर पर्यायान्तरको प्राप्त करते हैं। इससे यही तो निकला कि हम पर्याय बुद्धिसे ही अपना जीवन तमाम पूर्ण करते हैं। श्रीपञ्चास्तिकायमें भी श्री कुन्दकुन्ददेवने लिखा है—

गदिमधिगदस्स देहो देहादिंदियाणि जायते।

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो॥

परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी।

गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायते॥

तेहि दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा॥

जायदि जीवस्सेव भावो संसारचक्कवालम्मि।

जो संसारमें रहनेवाला जीव है उसके स्निग्ध परिणाम होता है परिणामोंसे कर्मका बन्ध होता है, कर्मसे एक गतिसे अन्य गतिमें जीव जाता है। जहाँ जाता है वहाँ देहको ग्रहण करता है, विषय ग्रहणसे रागादि परिणामोंकी उत्पत्ति होती है। फिर रागादिसे कर्म और कर्मसे गति, गत्यन्तर गमन फिर गत्यन्तर गमनमें देह, देहसे इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंसे विषय ग्रहण विषयोंसे स्निग्ध परिणाम, परिणामोंसे कर्म, कर्मसे यही प्रक्रिया इस तरह यह संसार चक्र अनादिसे चला आता है। यदि इसको मिटाना है तब यह जो प्रक्रिया है इसका अन्त करना पड़ेगा। इस प्रक्रियाका मूल कारण स्निग्ध परिणाम है उसका अन्त करना ही इस संसार चक्रके विध्वंसका मूल हेतु है। इसको दूर करनेके उपाय बड़े बड़े महात्माओंने बतलाए हैं। आज संसारमें जितने आयतन धर्मके दिखते हैं। इसी चक्रसे बचानेके हैं। किन्तु अन्तरङ्ग दृष्टि डालो तब

ये सभी उपाय पराश्रित हैं। केवल स्वाश्रित उपाय ही स्वाश्रित समारके विध्वंसका कारण हो सकता है। जैसे शरीरमें यदि अन्न स्वाकर अजीर्ण हो गया है तो उसके दूर करनेका सर्वोत्तम उपाय यह है कि उदरमें पर द्रव्यका जो सम्बन्ध हो गया है उसे पृथक कर दिया जाय तो अनायास ही आरोग्यताका लाभ हो सकता है। मोक्षमार्गमें भी यही प्रक्रिया है। अपि तु जितने काय हैं उन सबकी यही पद्धति है। यदि हम ससारसे उन्मुक्त होनेकी अभिलाषा है तो सबसे प्रथम हम कौन हैं? हमारा क्या स्वरूप है? वर्तमान क्या है? ससार क्या अनिष्ट है? जब तक यह निर्णय न हो जाय तब तक उसके अभावका प्रयत्न करना हो ही नहीं सकता। अत यह आत्मा क्या है? यह हम प्रारम्भमें ही वर्णन कर चुके हैं। उसकी जो अवस्था हमें ससारी बना रही है उससे मुक्त होनेकी हमारी इच्छा है तब केवल इच्छा करनेसे मुक्ति नहीं पा सकते। जैसे अग्निके निमित्तसे जल उष्ण हो गया है अब हम माला लेकर जपने लगे 'शीत स्पर्शायजलाय नम' तब अनन्त कालमें भी जल शीत न होगा। उष्ण स्पर्शको दूर करनेसे जल शीत स्पर्श होगा। इसी तरह हमारी आत्मामें जो रागादि विभाव परिणाम हैं उनके दूर करनेसे अब 'श्री वीतरागाय नम' यह जाप असंख्य रूप भी जपा जाय तो भी आत्मामें वीतरागता न आवेगी किन्तु रागादि निवृत्तिसे अनायास वीतरागता आ जावेगी। वीतरागता कहीं बाहर से नहीं आती। यह आत्मा परपदार्थमें मोह करता है। मोह क्या वस्तु है? जिससे उदयमें परमें निजत्व बुद्धि होती है वही मोह है। परको निज मानना यह अज्ञान भाव है। अर्थात् मिथ्याज्ञान है इसका मूल कारण मोहका उदय है। ज्ञानावरणका क्षयोपशम जाननेमें होता है परन्तु विपर्यय होना है जैसे शुक्तिकाम रजतका विभ्रम होता है। ... नहीं हो

गई परन्तु जब चारित्रादि कारणोंसे भ्रान्ति हो जाती है, भ्रान्तिका कारण मलादि दोष हैं जैसे कामला रोगी जब शङ्खको देखता है तब पीत शङ्ख ऐसा प्रतीति करता है। यद्यपि शङ्ख पीतता नहीं यह तो नयन कामला रोग होनेसे शङ्खमें पीतत्व भासमान है। यह पीतता कहाँसे आया ? तब यही कहना पड़ेगा कि नयन कामला रोग है वही इस पीतत्व ज्ञानका कारण हुआ। इसी प्रकार आत्मामें जो रागादि होते हैं उनका मूल कारण मोह नाम कर्म है। उसके दो भेद हैं—एक दर्शनमोह दूसरा चारित्रमोह। दर्शनमोहके उदयमें मिथ्यात्व और चारित्रमोहके उदयमें रागद्वेष होते हैं। उपयोग भी मोही ऐसा है कि जब सामने जो भी आवे उसको प्रतिभास होता है। जैसे नेत्र समक्ष जो वस्तु आती है उसको ज्ञान करा देता है यहाँ तक तो कोई आपत्ति नहीं परन्तु जो जानमें आवें उन पदार्थोको आत्मीय मान लेना ही मिथ्या अभिप्राय है। संसारमें देखा जाता है कि जो पर वस्तुको निज मानता है उसे लोग ठग कहते हैं परन्तु यह आह्वाहन छूटना सरल नहीं। अच्छे अच्छे जीव परको निज मानते हैं और उन पदार्थोंकी रक्षा भी करते हैं किन्तु अभिप्रायमें यह है कि यह हमारे नहीं अतएव उन्हें सम्यग्ज्ञानी कहते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव उन्हें निज मान अनन्त संसारके पात्र होते हैं। समझमें नहीं आता यह विषमता क्यों ? विषमताका मिलना सरल नहीं स्वयमेव मिटती है या कारण कूटसे। यदि स्वयमेव मिटती है तब उसके मिटानेको जो प्रयास है वह व्यर्थ है। पुरुषार्थ तो प्रायः सभी करते हैं परन्तु सभी सफल मनोरथ क्यों नहीं होते ? तब यही कहना होगा कि जिसने यथार्थ प्रयास नहीं किया उसका कार्य सफल नहीं हुआ। फिर कोई प्रश्न करे कि अन्तरङ्गमें तो चाहता है परन्तु प्रयास अनुरूप नहीं करते, इसमें कारण क्या है उसकी बुद्धिमें नहीं आता।

अन्ततोगत्वा यही उत्तर मिलता है कि जब जीवका कल्याण होनेका समय आता है अनायास कारणकूट जुट जाते हैं। कौन चाहता कि हम आकुलता हो और हम दुःखके पात्र बनें फिर भी जो नहीं चाहता वह होता है और जो चाहता है वह नहीं होता। यह प्रश्न हरएक करता है, उत्तर भी लोग देते हैं किन्तु अन्तमें अकाट्य उत्तर नहीं मिलता। अतः इन झंझटोंमें चक्कर न पड़कर निवर्ती चेष्टा करो निवृत्तिके ऊपर दृष्टिपात कर करो। अन्यकी कथा छोड़ो यदि सौजोग्यमें मिथ्यात्व रूपमें कार्य किये गये उनमें भी यही भावना करो कि अब न करने पड़े। मेरी तो यह श्रद्धा है कि कोई भी कार्य करो चाहे वह शुभ हो, चाहे अशुभ हो, यही भावना भाओ कि अब फिर न करना पड़े। जैसे मन्द कषायोंके उदयमें पूजनादि कार्य करने पड़ते हैं उनमें यह भावना रक्खो कि हे भगवान! अब कालान्तरमें यह न करना पड़े। मिथ्याज्ञानी और सम्यग्ज्ञानीमें यही तो अन्तर है कि मिथ्याज्ञानी जीव शुभ कार्योंको उपादेय मानता है, सम्यग्ज्ञानी ऋण चान अदा करता है, यही विषमता दोनोंमें है। इस विषमताका वारण होना कठिन है। यही कारण है कि अनन्त जन्म तप करते करते द्रव्यलिङ्गसे मोक्ष नहीं होता। इसका मूल अभिप्रायकी ही मलिनता तो है। इस अभिप्रायकी मलिनताको मिटानेवाला यह आत्मा स्वयं प्रयत्नशील हो मिट सकती है। यदि यह न होता तो मोक्षमार्ग ही न होता। जब आत्मामें अचिन्त्य शक्ति है तब उसका उपयोग आत्मीय यथार्थ परिणतिके लिए क्यों न किया जाय? जो आत्मा जगतकी व्यवस्था करनेमें समर्थ है वह आत्मीय व्यवस्था न कर सके, सममें नहीं आता किन्तु हम उस ओर लक्ष्य नहीं देते। यद्यपि इस शङ्काका अवकाश नहीं कि नेत्र पदार्थान्तरोंको जानता है परन्तु अपनेको नहीं जानता। इसका उत्तर यह है कि जब नेत्र अपनेको देखना चाहे तब एक दर्पणको

ममत्व रखते उसमें जब मुखका प्रतिबिम्ब पड़ता है तब नेत्रकी आकृतिका बोध हो जाता है। यह भी तो नेत्रने दिखाया। जब ज्ञान घटादि पदार्थोंको देखता है तब उसकी व्यवस्था करता है और जब स्वानुभव होता है तब यहीं तो विकल्प होता है कि जो घटादि देखनेवाला है वह मैं ही हूं। परमार्थमें ज्ञान बाह्य घटादिककी व्यवस्था नहीं करता किन्तु ज्ञानमें जो विकल्प हुआ उसको जानता है और उसीकी व्यवस्था करता है अर्थात् ज्ञानमें जो अर्थाकार विकल्प हुआ ज्ञान उसी ज्ञानकी पर्यायका संवेदन करता है तब इसका यही तो अर्थ हुआ कि ज्ञानने अपने स्वरूप ही का वेदन किया। इस तरह ज्ञेय और ज्ञानकी व्यवस्था है और यह व्यवस्था अनादिसे चली आई है। अनन्तकाल पर्यन्त रहेगी। किन्तु इस व्यवस्थामें जो हमारी परको निज माननेकी पद्धति है वही पद्धति रागद्वेषकी उत्पादक है अतः जिन्हें अपनेको संसार बन्धनमें रखना इष्ट है वह इस मान्यताको अपनाना चाहिये। यद्यपि किसीको यह इष्ट नहीं कि हम जालमें फंसे रहें परन्तु अनादिसे हमारी मान्यता इतनी दूषित है जिससे निजको जानना भी असम्भव है। जैसे जिस मनुष्यने विषभक्षण किया है उससे केवल पानकका स्वाद पूछा तो नहीं बना सकता। इसी तरह मोहके उदयमें जो ज्ञान होता है उसमें परको निज माननेकी ही मुख्यता रहती है। यद्यपि पर निज नहीं परन्तु क्या किया जावे। जो निर्मल बुद्धि है वह मोहके सम्बन्धसे इतनी मलिन हो गई है कि निजकी ओर जाती ही नहीं। इसीसे संसारमें यह दशा जीवकी हो रही है कि उन्मत्त पान करनेवालेकी तरह अन्यथा प्रवृत्ति करता है। अतः इस चक्रसे बचनेके अर्थ परमें ममता त्यागो। केवल वचनोंसे व्यवहार करनेसे ही सन्तोष मत कर लो। जो मोहके साधक हैं उन्हें त्यागो। जैसे पञ्चेन्द्रियोंके विषय त्यागनेसे ही इन्द्रिय विजयी

होगा। कथा करनेसे कुछ तत्त्व नहीं निकलता। बात असलमें यह है कि हमारे इन्द्रियजन्य ज्ञान है, इस ज्ञानमें जो पदार्थ भासमान होगा उसी ओर तो हमारा लक्ष्य जावेगा। उसीकी सिद्धिके लिये हम प्रयास करेंगे चाहे वह अनर्थका जड हो। अनर्थकी जड बाह्य वस्तु नहीं। बाह्य वस्तु तो अध्यवसानमें विषय पडती है। बाह्य वस्तु बन्धका जनक नहीं। श्री कुन्दकुन्द स्वामीने लिखा है—

"वत्थु पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं दु होदि जीवाणं।
ण हि वत्थुदो बंधो अज्झवसाणेण बंधो दु॥"

वस्तुका निमित्तकर अध्यवसानभाव जीवोंके होता है किन्तु वस्तु बन्धका कारण नहीं। बन्धका कारण तो अध्यवसानभाव है। यदि ऐसा सिद्धान्त है तब बाह्य वस्तुका परित्याग क्यों कराया जाता है? अध्यवसानके न होनेके अर्थ ही बाह्य वस्तुका निषेध कराया जाता है। बाह्य वस्तुके बिना अध्यवसानभाव नहीं होता। यदि बाह्य पदार्थके आश्रय बिना अध्यवसानभाव होने लगे तब जैसे यह अध्यवसानभाव होता है कि मैं रणमें जाकर वीरसूके पुत्रको मारूँगा, यह भी अध्यवसान होने लगे कि वन्ध्या पुत्रको मारूँगा, नहीं होता क्योंकि मारण क्रियाका आश्रयभूत वन्ध्या सुत नहीं है अतः जिन्हें बन्ध न करना हो बाह्य वस्तुका परित्याग कर दें। परमार्थसे अन्तरङ्ग मूर्च्छाका त्याग ही बन्धकी निवृत्तिका कारण है। परपदार्थके जीवन-मरण सुख-दुःखका अध्यवसान तो सर्वथा ही त्याज्य है, क्योंकि हमारे अध्यवसानके अनुरूप कार्य नहीं होता। कल्पना करो हमने यह अध्यवसान किया कि अमुक व्यक्ति बन्धनको प्राप्त हो और अमुक व्यक्ति संसारसे मुक्त हो जावे। हमने तो बन्धन और मोचनका अध्यवसान किया और जिनको बन्धन और मुक्त होना था उन्होंने वह भाव नहीं किया

जिससे वह बन्धन और मोचन अवस्थाको प्राप्त हो जाते। यहाँपर कारण जो आपने माना था वह तो रह गया परन्तु ... नहीं हुआ। यह अन्वय व्यभिचार हुआ तथा तुमने बन्धन और मोचनका अध्यवसानभाव नहीं किया और इन जीवोंने उन अध्यवसानभावोंके करनेसे बन्धन और मोचनका कार्य सम्पन्न कर लि... इससे व्यतिरेक व्यभिचार भी हो गया। इससे यह सिद्धान्त निश्... कि इन मिथ्या विकल्पोंको त्यागकर यथार्थ वस्तु स्वरूपका निर्णय... अपनेका तन्मय करो। अन्यथा इसी संसारचक्रमें पड़े रहोगे। ... विकल्प अपनाते हो, इसमें मूल जड़ मोह है जिनके यह नहीं ... मुनि हैं। यह अध्यवसान आदि भाव जिनके नहीं हैं वही म... मुनि हैं। वही शुभ और अशुभ कर्मसे लिप्त नहीं होते। ये मिथ्या... अज्ञान तथा अविरत रूप जो त्रिविध भाव हैं वही शुभाशुभ क... बन्धके निमित्त हैं, क्योंकि यह स्वयं अज्ञानादिरूप हैं। य... दिखाते हैं। जैसे जब यह अध्यवसानभाव होता है 'इदं हिनस्मि'... यह जो अध्यवसानभाव है वह अज्ञानमयभाव है और आत्मा स... है, अहेतुक है, ज्ञप्तिरूप एक क्रियावाला है ऐसा जो आत्मा... उसका और रागद्वेषके विपाकसे जायमान हननादि क्रियाओं... विशेष भेद ज्ञान न होनेसे, भिन्न आत्माका ज्ञान न होनेसे अज्ञ... ही रहता है, भिन्न आत्मदर्शन न होनेसे मिथ्यादर्शन रहता है... भिन्न आत्माका चारित्र न होनेसे मिथ्याचारित्र ही को सद्... रहता है। इस तरहसे मोहकर्मके निमित्तसे मिथ्यादर्शन, मिथ्या... ज्ञान, मिथ्याचारित्रका सद्भाव आत्मामें है तथा इसी मोह... उदयके साथ जब ज्ञानावरणका क्षयोपशम रहता है 'धर्मो ज्ञाय... जब यह अध्यवसान होता है यह जो ज्ञेयभाव ज्ञानमें आते ... इनका और सहेतुक ज्ञानमय आत्माका भेदज्ञान न होनेसे, अज्ञ... विशेष दर्शन न होनेसे अदर्शन, इसी तरह विशेष स्वरूपमें च...

न होनेसे अचारित्रका सद्भाव [illegible] जावे तब आत्मा स्वतन्त्र [illegible] वाला पुद्गल द्रव्य है वह स्वतन्त्र है। [illegible] अनादि कालसे स्वतन्त्र है [illegible] गुणवाला है और [illegible] यह शक्ति है [illegible] आता है उसमें झलकता है, [illegible] एक परिणमन [illegible] तरहका है कि [illegible] है परन्तु यह मेरेमें प्रतिभासित [illegible] नहीं। आभास जो पदार्थ प्रतिभासमान है [illegible] है कि यह पदार्थ मेरे ज्ञानमें आवे। [illegible]। [illegible] पदार्थोंको अपनानेका प्रकृति मात्र [illegible] अनन्त संसारका कारण होता है। [illegible] है कि पर पदार्थका [illegible] अंश भी [illegible] है [illegible] वह क्यों अपनाता है? यही [illegible] है। [illegible] तक आत्म द्रव्यका आत्मा ही रहे [illegible] अन्य रूप करनेका प्रयास है यही अनन्त [illegible] है। ऐसा कौन बुद्धिमान होगा जो यह पर [illegible] है नहीं कह सकता? ऐसा सिद्धान्त है कि [illegible] होता है वह उसका [illegible] है। जिसका जो [illegible] है [illegible] उसका स्वामी है अतः यह निष्कर्ष निकला कि [illegible] नहीं तब अन्य द्रव्य अन्यका स्वामी नहीं [illegible] आपका स्वामी नहीं। यही कारण है जो ज्ञानी [illegible] नहीं करता। मैं भी ज्ञानी हूँ अतः मैं भी [illegible]। यदि मैं पर द्रव्यका ग्रहण करूँ तब यह [illegible] हो जावे और मैं अजीवका स्वामी हो जाऊँगा। [illegible] स्वामी [illegible] होगा, ऐसे [illegible] पड़ेगा, [illegible] मैं तो ज्ञाता

अतः पर द्रव्यको ग्रहण न करूँगा। जब पर द्रव्य मेरा नहीं तब यह चाहे छिद जावो, भिद जावो, चाहे कोई ले जाओ अथवा जिस तिस अवस्थाको प्राप्त हो जाओ तथापि परद्रव्यको ग्रहण न करूँगा। यही कारण है कि सम्यग्ज्ञानी धर्म, अधर्म अथवा ज्ञान इनको नहीं चाहता। धर्म पदार्थ पुण्यको कहते हैं अर्थात् जब इस जीवके प्रशस्त राग अनुकम्पा परिणाम और चित्तमें अकलुषता रूप परिणाम होता है उसी समय इस जीवके पुण्य बन्ध होता है अर्थात् त्रिकालमें अर्हन्त, सिद्ध, साधुके गुणोंमें अनुराग होना है इसीका नाम भक्ति है। अर्थात् उनके गुणोंकी प्राप्ति हो यही तो भक्ति है। श्री गृद्धपिच्छने यही तो लिखा कि—

"मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥"

इसमें यही तो दिखाया है कि तद्गुणका लाभ हम हो। ऐसा सिद्धान्त है कि जो जिस गुणका अनुरागी है वह उसको नमस्कार करता है। जैसे शस्त्र विद्याका इच्छुक शस्त्र विद्या वक्ताको नमस्कार करता है। इसी तरह धर्ममें जो चेष्टा अर्थात् धर्म लाभका अनुराग यही तो हुआ तथा गुरुओंके पीछे रमित होकर गमन करना। इत्यादि वाक्योंसे यही तो निकलता है कि इन सब वाक्योंमें इच्छा ही की प्रधानता है। इच्छा परिग्रह है क्योंकि इच्छाका जनक मोह धर्म है। मोहकर्मके उदयसे जो भाव होते हैं सामान्यसे वह इच्छा रूप पड़ते हैं। मिथ्यात्वके उदयमें विपरीत अभिप्राय भी तो होता है। वह इच्छा रूप ही है। क्रोध कषायके उदयमें परको अनिष्ट करनेकी ही तो इच्छा होती है। तथा मानके उदयमें अन्यको तुच्छ दिखाना अपनेको महान् माननेकी ही तो इच्छा रहती है। मायाके उदयकालमें अन्तरङ्गमें तो अन्य है बाह्यसे उसके विरुद्ध

कायम प्रवृत्ति होती है। लोभ कषायका जब उदय आता है तब परपदार्थको अपहरण करनेकी ही तो इच्छा होती है। इसी प्रकार हास्य कषायके उदयमें हास्यका भाव होता है, रतिके उदयमें पर पदार्थके निमित्तको पाकर प्रसन्न होता है, अरतिके उदयमें पदार्थों के निमित्तसे शोकातुर रहता है, भयके उदयमें भयभीत परिणाम होते हैं, जुगुप्साके उदयमें पदार्थोंके निमित्तसे ग्लानि रूप परिणति हो जाती है। जब स्त्री वेदका विपाक आता है तब पुरुषसे रमण करनेकी चेष्टा होती है, यदि पुरुषका सम्बन्ध न मिले तब मायामें पुरुषकी कल्पना कर अपनी इच्छा शान्त करनेकी चेष्टा यह जीव करता है। पुरुष वेदके उदयमें स्त्रीसे रमण करनेकी इच्छा होती है निमित्त न मिलनेमें कल्पना द्वारा यह प्राणी क्या क्या अनर्थ करता है यह प्रायः सब विदित हैं। इस तरह नपुंसक वेदके उदयमें उभयके रमणके भाव होते हैं। इनकी इच्छा प्रथम दो वेदवालोंकी अपेक्षा प्रबल है। इस विषयमें यदि कोई लिखना चाहे तब बहुत लिख सकता है। इन इच्छाओंसे संसार दुःखी है। इसीसे भगवानने इच्छाको परिग्रह माना है। जिसके इच्छा नहीं है उसके परिग्रह नहीं है। इच्छा जो है सो अज्ञानमय भाव है। अज्ञानमय भाव ज्ञानीके नहीं है, ज्ञानीके तो ज्ञानमय भाव ही होता है। यही कारण है कि अज्ञानमय भाव रूप इच्छाके अभावसे ज्ञानी जीव धर्मकी इच्छा नहीं करता। ज्ञानमय ज्ञायक भावके सद्भावसे धर्मका केवल ज्ञाता द्रष्टा है, जब ज्ञानी जीवके धर्मका ही परिग्रह नहीं तब अधर्मका परिग्रह तो सर्वथा ही असम्भव है। इसी तरहसे न अशनका परिग्रह है, और न पानका परिग्रह, क्योंकि इच्छा परिग्रह है। ज्ञानी जीवके इच्छाका परिग्रह नहीं, इनको आदि देकर जितने प्रकारके पर द्रव्यके भाव हैं तथा पर द्रव्यके निमित्तसे आत्मामें जो भाव होते हैं उन सबको ज्ञानी जीव नहीं चाहता। इस पद्धति

अतः पर द्रव्यका ग्रहण नहीं करूँगा। जब पर द्रव्य मेरा नहीं तब वह चाहे छिद जाओ, भिद जाओ, चाहे फट जाओ अथवा जिस तिस अवस्थाको प्राप्त हो जाओ तथापि परद्रव्यका ग्रहण नहीं करूँगा। यही कारण है कि सम्यग्ज्ञानी धर्म, अधर्म समादान दूसरी नहीं चाहता। धर्म पदार्थ पुण्यका हेतु है अर्थात् जब इस जीवके प्रशस्त राग अनुकम्पा परिणाम और चित्तमें अकलुषता रूप परिणाम होता है उसी समय इस जीवके पुण्य बन्ध होता है अर्थात् जिनशासनमें अर्हंत, सिद्ध, साधुके गुणोंमें अनुराग होता है उसीका नाम भक्ति है। अर्थात् उनके गुणोंकी प्राप्ति हो यही तो भक्ति है। श्री गृद्धपिच्छने यही तो लिखा कि—

"मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥"

इसमें यही तो दिखाया है कि तद्गुणका लाभ हम हो। ऐसा सिद्धान्त है कि जो जिस गुणका अनुरागी है वह उसको नमस्कार करता है। जैसे शस्त्र विद्याका इच्छुक शस्त्र विद्या वालोंको नमस्कार करता है। इसी तरह धर्ममें जो चेष्टा अर्थात् धर्म लाभका अनुराग यही तो हुआ तथा गुरुओंके पीछे रसिक होकर गमन करना। इत्यादि वाक्योंसे यही तो निकलता है कि इन सब वाक्योंमें इच्छा ही की प्रधानता है। इच्छा परिग्रह है क्योंकि इच्छाका अन्तर मोह कर्म है। मोहकर्मके उदयसे जो भाव होते हैं सामान्यसे वह इच्छा रूप पड़ते हैं। मिथ्यात्वके उदयमें विपरीत अभिप्राय ही तो होता है। वह इच्छा रूप ही है। क्रोध कषायके उदयमें परको अनिष्ट करनेकी ही तो इच्छा होती है। तथा मानके उदयमें अन्यको तुच्छ दिखाना अपनेको महान माननेकी ही तो इच्छा रहती है। मायाके उदयकालमें अन्तरङ्गमें तो अन्य है, बाह्यसे उसके विरुद्ध

कायम प्रवृत्ति होती है। लोभ कषायका जब उदय आता है तब परपदार्थको अपहरण करनेकी ही तो इच्छा होती है। इसी प्रकार हास्य कषायके उदयमें हास्यका भाव होता है, रतिके उदयमें पर पदार्थके निमित्तको पाकर प्रसन्न होता है, अरतिके उदयमें पदार्थों के निमित्तसे शोकातुर रहता है, भयके उदयमें भयभीत परिणाम होते हैं, जुगुप्साके उदयमें पदार्थोंके निमित्तसे ग्लानि रूप परिणमन हो जाता है। जब स्त्री वेदका विपाक आता है तब पुरुषसे रमण करनेकी चेष्टा होती है, दैवात पुरुषका सम्बन्ध न मिले तब मानसमें पुरुषकी कल्पना कर अपनी इच्छा शान्त करनेकी चेष्टा यह जीव करता है। पुरुष वेदके उदयमें स्त्रीसे रमण करनेकी इच्छा होती है निमित्त न मिलनेसे कल्पना द्वारा यह प्राणी जो जो अनर्थ करता है यह प्रायः सबको विदित है। इस तरह नपुंसक वेदके उदयमें उभयसे रमणके भाव होते हैं। इनकी इच्छा प्रथम दो वेदवालोंकी अपेक्षा प्रबल है। इस विषयमें यदि कोई लिखना चाहे तब बहुत लिख सकता है। इन इच्छाओंसे संसार दुःखी है। इसीसे भगवानने इच्छाको परिग्रह माना है। जिसके इच्छा नहीं है उसके परिग्रह नहीं है। इच्छा जो है सो अज्ञानमय भाव है। अज्ञानमय भाव ज्ञानीके नहीं है, ज्ञानीके तो ज्ञानमय भाव ही होता है। यही कारण है कि अज्ञानमय भाव रूप इच्छाके अभावसे ज्ञानी जीव धर्मकी इच्छा नहीं करता। ज्ञानमय ज्ञायक भावके सद्भावसे धर्मका केवल ज्ञाता दृष्टा है, जब ज्ञानी जीवके धर्मका ही परिग्रह नहीं तब अधर्मका परिग्रह तो सर्वथा ही असम्भव है। इसी तरहसे न अशनका परिग्रह है, और न पानका परिग्रह, क्योंकि इच्छा परिग्रह है। ज्ञानी जीवके इच्छाका परिग्रह नहीं, इनको आदि देकर जितने प्रकारके पर द्रव्यके भाव हैं तथा पर द्रव्यके निमित्तसे आत्मामें जो भाव होते हैं उन सबको ज्ञानी जीव नहीं चाहता। इस पद्धति

से जिसने सब अज्ञान भावोंका वमन कर दिया तथा सब पर पदार्थोंसे आत्मत्वको त्याग दिया केवल टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावका अनुभव करता है। पूर्व कर्मके विपाकसे शारीरिक उपभोग होता है, होओ किन्तु उसमें राग न होनेसे वह उपभोग परिग्रह भावको प्राप्त नहीं होता। रागादि परिणामके बिना मन, वचन और कायके व्यापार अकिञ्चित्कर हैं। जैसे यदि चूना आदिका लेप न हो तब ईंटोंका समुदाय मकान नहीं बनता। परमार्थसे विचार किया जाय तब वेद्य वेदक भावका एक कालमें समागम ही नहीं, क्योंकि जिसका वेदन कर तथा कौन वेद हो। जिस कालमें वेद्यभाव है उसका वेदन करनेवाला भाव भी उस समय है नहीं, वेद्यभावके अनन्तर ही होगा। जब वेदकभाव होगा उस समय वेद्यभावका अभाव हो जायगा। उसके अभाव होनेपर वेदकभाव किसका वेदन करेगा? कदाचित् यह कहो कि वेद्यभावके अनन्तर जो अन्य वेद्यभाव होगा उसे वेदन करेगा सो वह वेदन करनेवाला जो वेदकभाव है वह नाश हो जायगा। कौन वेद्यभावका वेदन करेगा। यह कहना भी अच्छा नहीं कि वेदकभावके अनन्तर होनेवाला जो वेदकभाव है वह उसे वेदन करेगा। तब उस कालमें वेद्यभाव नहीं रहेगा। इस प्रकारकी अनवस्था कायसम्पादिका नहीं हो सकती। अतः इस वेद्य वेदकभावकी चिन्ता त्याग आत्मा को निज ज्ञायक भावके ऊपर ही निर्भर रहना चाहिये। परमार्थसे विचार किया जाय तब पदार्थ नियमसे परिणमनशील हैं। सब पदार्थोंका परिणमन अपने अधीन हो रहा है, किसी पदार्थका अंश भी किसी दूसरे पदार्थमें नहीं जाता। यह जीव व्यर्थ ज्ञाता द्रष्टा बनता है, इतना ही नहीं किसीको अपनाता है, किसीको रागका विषय करता है, किसीको द्वेषका विषय करता है इस तरह पर पदार्थकी व्यवस्था कर ईश्वर बननेकी चेष्टा करता है, कोई

अपनेको अविच्छिन्न मानकर अन्यको इसका कर्ता बनाता है, कोई कहता है यह सब भ्रम है, भ्रमसे ही यह अवस्था बन रही है। भ्रमके अभावमें संसारका अभाव है अतः इन जालोंसे बचनेके लिये अपनेको जानना परमावश्यक है। आत्मा द्रव्य चैतन्य गुणका आश्रय है यद्यपि आत्मा अनन्त गुणोंका पिण्ड है किन्तु उन गुणोंमें चैतन्य गुण ऐसा है जो सबकी व्यवस्था करता है। इसीलिये कहा है—

"नाहं देहो न मे देहो जीवो नाहमहं हि चित्।
अयमेव हि मे बन्धो या स्याज्जीविते स्पृहा ॥"

मैं न तो देह हूँ, और न मेरा देह है, जीव भी नहीं हूँ, किन्तु चैतन्य हूँ। मेरा जो जीवनमें स्पृहा है वही बन्धका कारण है। परमार्थ दृष्टिसे सभी द्रव्य अपने अपने स्वरूपमें लीन हैं। इनमें जीव द्रव्य तो चैतन्य स्वरूपवाला है, पुद्गल चेतना गुणसे शून्य है किन्तु इन दोनोंका अनादिकालसे सम्बन्ध हो रहा है, इससे दोनों अपने अपने स्वरूपसे च्युत होकर अन्य अवस्थाको धारण कर विकृत हो जाते हैं। संसारमें जो विकृत परिणाम होते हैं वह परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धसे होते हैं। यह परिणमन अनादिकालसे धारावाही रूपमें चला आ रहा है और जब तक इसकी सत्ता रहेगी आत्मा दुःखी रहेगा। जिन जीवोंको भेदज्ञान हो जाता है वे इन पर पदार्थोंको अपनाना छोड़ देते हैं। अर्थात् परमें निजत्व कल्पना नहीं होती। यही कल्पना संसारकी मूल जननी है। जिन्होंने इसका नाश कर दिया वही जगत्के प्रपञ्चोंसे छूट जाते हैं। तत्त्व चर्चाको तो सभी शूर हैं परन्तु निजमें रहनेवाले विरले ही हैं। महती कथा करनेको भी सभी वक्ता हैं परन्तु यदि कोई प्रकृति विरुद्ध बोले तब उसको निज शत्रु समझते हैं। शत्रु

पर नहीं, आत्माका विभाव परिणाम ही शत्रु है। विभाव परिणामका जनक उपादानसे आत्मा और निमित्तसे आत्मातिरिक्त पर द्रव्य है, वह तो जबरन रागादि नहीं करता। यदि वह रागादि विभाव रूप परिणमे तब अन्य द्रव्य निमित्त होता है। हाँ, यह नियम है कि जब अशुभ परिणामकी उत्पत्ति होगी तब उसमें कोई न कोई पर द्रव्य विषय होगा। सर्वथा न मानना कुछ बुद्धिमें नहीं आता। यदि पर द्रव्य निमित्त न हो और वह रागादि भाव आत्माके पारिणामिक भाव हो जावें तब जैसे पारिणामिक भाव अबाधित नित्य माने जाते हैं उसी तरह यह भी हो जावें। यदि शुभोपयोगमें परमात्मा निमित्त न माना जाय तब अन्य जो व्रत आदि पदार्थ भी ज्ञानमें आ जावें उन्हें स्वर्गका कारण जाननेकी आवश्यकता नहीं। अतः यही कहना पड़ेगा कि शुभोपयोगमें निमित्त होनेसे स्वर्गका कारण और अशुभोपयोगमें स्त्री आदि नरकका कारण हैं। परमार्थसे न तो अर्हन् स्वर्गके कारण हैं और न स्त्र्यादि नरकके कारण हैं। अपने शुभ अशुभ कषाय स्वर्ग नरकादिके कारण हैं अतः सर्वथा एकान्त मत पकड़ो। पदार्थका स्वरूप ही अनेकान्त मय है। अकलङ्क स्वामीने परमात्माकी जो भक्ति की है वह लिखा है कि प्रमेयत्वादि धर्मोंके द्वारा आत्मा अचेतन है और चैतन्य धर्मके द्वारा चिदात्मा है। इस तरहसे परमात्मा चिदात्मा भी है, और अचिदात्मा भी है। परमार्थसे देखा जाय तब वस्तु अनिर्वचनीय है। अन्यकी कथा छोड़ो जब हम घटका निरूपण करते हैं उस समय रूपादिका ही बोध होता है, उस बोधमें जो विषय आता है वही घट है। अब यहाँ पर पूछनेवाला हमसे यह प्रश्न कर सकता है कि जब यह सिद्धान्त है कि एक द्रव्यमें पर द्रव्यका अणुमात्र भी नहीं आया तब ज्ञानने घटका क्या निरूपण किया? ज्ञानमें जो विकल्प आया वही तो रहा। परन्तु वह विकल्प घटके

निमित्तसे हुआ इसमें कहते हैं यह घट है, वास्तवमें घट क्या है। मृत्तिकाकी पर्याय विशेष है, यह भी कहना व्यवहार है। परमार्थसे न तो कोई पदार्थ कहीं जाता है और न आता है, सभी पदार्थ निज निज चतुष्टयमें परिणमन कर रहे हैं। यह जो व्यवहार है सो निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धसे बन रहा है। जैसे कुम्भकार जब मिट्टी लाता है तब जहाँ मृत्तिका था कुम्भकारके द्वारा कुदालसे खोदी जाती है। कुम्भकारका व्यापार कुम्भकारमें होता है, उसके हाथके निमित्तको पाकर कुदालमें व्यापार होता है, कुदालके व्यापारसे मिट्टी अपने स्थानसे च्युत होती है, उसे कुम्भकार अपने गर्दभ द्वारा अपने गृहमें लाता है। पश्चात् उसमें पानी डाला जाता है, हाथोंके द्वारा उसे आर्द्र बनाता है पश्चात् [illegible] पिण्डको चाक पर रखकर दण्ड द्वारा व्यापार होनेसे [illegible] करता है, पश्चात् घट बनता है। वास्तवमें जितने [illegible] हुए सब पृथक् पृथक् हुए परन्तु एक दूसरेमें निमित्त [illegible] तरह यह प्रक्रिया अनादिसे चली आ रही है। [illegible] का मोह चला जाता है उस समय यह ज्ञानावरणादि [illegible] सम्बन्धित नहीं होते। इन कर्मोंके सम्बन्ध [illegible] गत्यादि भ्रमण नहीं करना तब अनायास ही [illegible] आत्माका जो स्वरूप है उसमें रह जाता है। [illegible] ज्ञानमें आने कहिये। कोई कहता है [illegible] है—'सर्व द्रव्यपर्यायेषु केवलस्य' अर्थात् [illegible] पर्याय है। कोई कहता है अनन्त [illegible] है, कोई यहाँ कह देता है कि [illegible] है। [illegible] विकल्पोंमें [illegible] निरूपण करना [illegible] हानि है। [illegible] विचार किया जावे तब [illegible] उनके ज्ञानमें जैसे हमारे इन्द्रिय [illegible] द्वारा [illegible]

होता है—यह विकल्प उसके ज्ञानमें नहीं होता। हमारा तो यह विश्वास है कि हमारे मतिज्ञानमें जो पदार्थ आता है तथा रूपादिका निरूप भी होता है परन्तु जिनके इन्द्रिय ही नहीं उनके पदार्थ तो आयेगा, परन्तु रूपादिका भी न होगी। तथा हमारे ज्ञानमें रूपादिक आते हैं कुछ हानि नहीं परन्तु हमारे मोहादिक कर्मका सद्भाव होनेसे उन पदार्थोंमें इष्टानिष्ट कल्पना होती है यही कारण है कि हम इष्टमें राग और अनिष्टसे द्वेष कर इष्टका सद्भाव और अनिष्टका अभाव चाहते हैं। इस विवेचनमें समझमें जो ज्ञान है इसमें कुछ क्षति है सो नहीं अपितु उनके इष्टानिष्ट करनेवाला मोह चला गया यही उनके महत्त्वका कारण है। ज्ञानमें न तो सुख ही होता है और न दुःख ही होता है, ज्ञान तो केवल जाननेमें समर्थ होता है। व्यवहारमें हमारा उपकारी श्रुतज्ञान है। इसीके द्वारा हम केवलज्ञानका निर्णय करते हैं। यदि श्रुतज्ञान न होता तब सारे पदार्थोंका निरूपण होना असम्भव हो जाता। संसारमें जितनी प्रक्रियाएँ धर्म और अधर्मकी दृष्टिगोचर हो रही हैं वह श्रुतज्ञान ही का माहात्म्य है। भगवानकी दिव्यध्वनिसे दर्शानेवाला श्रुतज्ञान ही तो है। आज संसारमें श्रुतज्ञान उठ जावे तो मोक्ष मार्गका लोप ही हो जावे। जब पञ्चम कालका अभाव होकर छठम काल आवेगा उस कालमें श्रुतज्ञान ही का लोप हो जावेगा, सभी व्यवहार लुप्त हो जावेंगे, मनुष्योंके व्यवहार पशुवत् हो जावेंगे। अतः जिन्हें इन पदार्थोंकी प्रतीति करना है उन्हें श्रुतज्ञानका अच्छा अध्ययन करना चाहिये। जितने मत संसारमें प्रचलित हैं श्रुतज्ञानके बलसे ही चल रहे हैं। कुन्दकुन्द स्वामीने तो यहाँ तक लिखा है कि—

"आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि।
देवादि ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू॥"

अर्थात् आगमचक्षु साधु लोग होते हैं और संसारी मनुष्य इन्द्रियचक्षु होते हैं तथा देवलोग अवधिचक्षु होते हैं, सिद्ध भगवान् सर्वचक्षु होते हैं। अर्थात् वह सभी पदार्थोंको इन्द्रियके बिना ही देखते हैं परन्तु विचार कर देखा जाय तो यह बात आगम ही बतलाता है। इसीसे देवागमम समन्तभद्र स्वामीने लिखा है कि—

"स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥"

ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे आत्मामें मति, अवधि मन पर्ययका ज्ञान होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जिन्हें आत्मकल्याण करनेकी लालसा है वे सभी विकल्पोंको त्यागकर अहर्निश आगमाभ्यास करें और उससे अनादि कालकी जो पर पदार्थमें आम्नाय वासना है उसका त्याग करें। केवलज्ञानसे अज्ञानमें कोई लाभ नहीं। जिस ज्ञानार्जनमें आत्मलाभ न हो उस ज्ञानकी परिग्रहमें गणना की जाय तब कोई क्षति नहीं। बाह्य परिग्रहका त्याग इसीलिये कराया जाता है कि वह मूर्च्छामें कारण होता है। इसी प्रकार यह ज्ञानका अर्जन है उससे भी तो यह अभिमान होता है कि 'हम बहुज्ञानी हैं, हमारे सदृश कोई नहीं। यह बेचारे पण्डित क्या समझें? हम चाहें तब अच्छे अच्छे विद्वानोंको परास्त कर सकते हैं।' इन कल्पनाओंका कारण यह ज्ञान ही तो हुआ यदि इसे परिग्रह कह दिया जावे तब कौन-सा क्षति है। ज्ञानकी कथा त्यागो, तप इत्यादि जो अहङ्कारसे किये जावें—'लोकमें हमारी प्रतिष्ठा हो, मैं महान् तपस्वी हूँ, मेरे समक्ष ये बेचारे क्या तप कर सकते हैं?' इत्यादि दुर्भावनासे यदि यह तप हुआ तब इसे परिग्रहका कारण होनेसे यदि परिग्रह कह दिया जाय तब कौन सी क्षति है? यही कारण है कि समन्तभद्र स्वामीने इनको मदोंमें गिनाया है—

"ज्ञानं पूजां कुलं जातिं, बलमृद्धिं तपो वपुः ।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥"

तात्पर्य यह कि यह मद भाव कषायोत्पादक होनेसे यदि कुछ परिश्रम किया जाय तब कार्य सिद्धि हो। धनादिक तो विचारसे देखो बाह्य पदार्थ हैं ही। न उनके साथ कुछ नहीं मिलते ये हैं। उनके द्वारा आत्मा ठगाया नहीं जाता, किन्तु इन तप ज्ञान आदिकसे जगत ठगाया जाता है। ये धर्मघाती जगतकी वञ्चना करते हैं उतना चोर आदि नहीं करते। चोर तो केवल बाह्य धनका ही हरण करते हैं यदि वह निर्याच धन दे दें तो अन्य हानि नहीं करते। ये लोग धनका भी तो हरण करते हैं किन्तु ये द्रव्य तपस्वी आपकी धर्म सम्पत्तिका अपहरण कर अनन्त संसारका पात्र बना देते हैं। अतः आवश्यकता इसकी है जिससे पदार्थ स्वरूपका निर्णय हो जावे और हम किसीके द्वारा ठगाये न जावें। आज सैकड़ों मत संसारमें चल रहे हैं इन सबका मूल कारण हमने श्रुतज्ञानका सम्यक् अध्ययन नहीं किया यही है। अतः निज जीवोंको इन आपत्तियोंसे अपनी रक्षा करना है वह भेदज्ञान पूर्वक अपनी ज्ञान परिणतिको निर्मल करना चाहिये। आज संसारका जो पतन हो रहा है उसका मूल कारण यथार्थ पदार्थोंके कहनेवाले पुरुषोंका अभाव है। कहाँ तक शास्त्रोंका दुरुपयोग किया कि बकरोंकी बलि करके भी स्वर्गका मार्ग खोल दिया, किसीने खुदाके नाम पर दुम्बाओंकी कुर्बानी कर स्वर्गका मार्ग खोल दिया। वास्तवमें कुर्बानी तो राग द्वेष मोहकी करनी चाहिये यही आत्माके शत्रु हैं। इस ओर लक्ष्य देना चाहिये परन्तु इस ओर लक्ष्य नहीं। केवल पञ्चेन्द्रियोंके विषयमें अनादि कालसे संलग्न हैं, इनके होनेसे हम अपने प्राणोंतकको विसर्जन कर देते हैं। जैसे स्पर्शन इन्द्रिय

के वशाभूत होकर हाथी अपनेको गतम गिरा देता है, रसनेन्द्रियके वशीभूत होकर मत्स्य अपने कण्ठको छिन्न देता है, घ्राण इन्द्रियके वशाभूत होकर भ्रमर अपने प्राण गमा देता है चक्षु इन्द्रियके वशीभूत होकर पतङ्ग निज प्राणोका प्रलय कर देता है, श्रोत्र इन्द्रिय के वशाभूत होकर मृगगण बहुलियाके फन्दे पड जाते हैं। यह तो कुछ भी नहीं इन विषयोंके वशीभूत होकर प्राणोका ही घात होता है परन्तु कषायोके वशीभूत होकर बडे बडे महापुरुष संसारके चक्रमे पड जाते है। आत्माके अहित विषय कषाय हैं इनमे विषय तो उपचारसे अहित करता है, कषाय ही मुख्यतया अहित करने वाला है अत निज आत्महित करना है उह अपनेको स्वतन्त्र बनानेका प्रयत्न करना चाहिये। स्वतन्त्रता ही मूल सुखकी जननी है। सुख कहीं बाह्यसे नहा आता, सुख आत्माका स्वभाव है, उसका बाधक कारण पर है। पर क्या ? हम ही तो हैं। हमने अपने स्वरूपको नहीं समझा। हम ज्ञान-दर्शनके पिण्ड है। ज्ञानका काम अपने और परको जानना है। ज्ञानकी स्वच्छतामे पदार्थ प्रतिभासित होता है उसे हम अपना मान लेते हैं। ज्ञानके विकल्प को अपना मानना वहाँ तक तो कुछ हानि नहीं जो पदार्थ उसमे झलकता है किन्तु उसे अपना मानना सर्वथा अनुचित है। हमारी तो यह श्रद्धा है कि ज्ञानमे ज्ञेय आया यह भी नैमित्तिक है अत इसे भी निज मानना न्याय सङ्गत नहीं। रागादिक भावोंका उत्पाद आत्मामे होता है। यह राग प्रकृतिके उदयसे होता है, इसे आत्मा का न मानना सर्वथा अनुचित है। यदि यह भाव आत्माका न माना जाय तब आत्मा केवल ज्ञान स्वरूप ही हुआ फिर यह जो ससार है इसका सर्वथा अभाव हो जावेगा, क्योंकि रागादिकके अभावमें कार्मण वर्गणाओंमें जो मोहादि रूप परिणमन होता है यह न हो [illegible] कर्मके अभावमे जो आत्माके गुण

यह सदा विकाश रूप हो रहेगा। तब संसारमें जो तरतमता देखी जाती है उस सबका विनाश हो जायगा, संसार ही न होगा। संसारके अभावमें मोक्षका भी अभाव हो जायगा क्योंकि मोक्ष बन्ध पूर्वक होता है। अतः यह मानना पड़ेगा कि आत्मा द्रव्य स्वतन्त्र है और परिणमनमें भी स्वतन्त्र है। किन्तु यह निश्चित सिद्धान्त है कि जो रागादि कार्य होते हैं वह पर द्रव्यमें नहीं होते, उनके होनेमें पर द्रव्य ही कारण है। उनमें जो रागादिक होते हैं वह उपादान और निमित्त सहकारितासे होते हैं उन्हें निमित्त कारण कहते हैं। बहुतसे मनुष्य यह कहते हैं कि रागादि रूप परिणमन तो आत्मामें हुआ, इसमें पुद्गलका कौन-सा अंश आया? जैसे कुम्भकारके निमित्तसे मृत्तिकामें घट उत्पन्न हुआ उसमें कुम्भकार-का कौन-सा अंश आया? कौन कहता है कि कुम्भकारादिका अंश घटमें आया? नहीं आया, परन्तु इतना बतला यह क्या कुम्भकारकी उपस्थितिके बिना ही होगया? नहीं हुआ तब यह माना कुम्भकार ही घट पर्यायके उत्पादमें सहकारी होनेसे निमित्त हुआ। यह व्यवस्था कायम मान लेनी। संसार रूप कार्य इन कारणोंके ऊपर निर्भर है। जहाँ पर जीव और पुद्गलका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध नहीं रहता संसार नहीं रहता। संसार कोई भिन्न पदार्थ नहीं। जहाँ जीव और पुद्गल इन दोनोंका अन्योन्य निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धमें जीव रागादि रूप तथा पुद्गल ज्ञानावरणादि रूप परिणमता है इसीका नाम संसार है। केवल जीव और केवल पुद्गल उसका नाम संसार नहीं। केवल जीवके स्वरूप पर परामर्श किया जाय तब यह 'अस्ति' आदि तत्त्व नहीं बनते, यह सब अपेक्षा रखते हैं। इन भावोंके सम्बन्धमें यह सब तत्त्व बनते हैं। जब जीव रागादि भावोंसे रहित हो जाता है तब पुद्गलमें ज्ञानावरणादि नहीं होते। जब ज्ञानावरणादि कर्म अन्तर्मुहूर्तमें

क्षय हो जाते हैं। उस समयमें आत्मा केवलज्ञानादि गुणोंका आश्रय होकर सर्वज्ञ पदसे व्यपदेश होने लगता है। पश्चात् पूर्व बद्ध जो अघातिया कर्म हैं वे या तो स्वयमेव गिर जाते हैं या आयुसे अधिक स्थितिवाले हुए तब समुद्घात विधानसे आयु समान स्थिति होकर स्वयमेव गिर जाते हैं और आत्मा केवल शुद्ध पर्यायका पात्र हो जाता है। यद्यपि यह पर्याय केवल आत्मा में होती है परन्तु अनादिसे लगा हुआ जो मोह है वह इसे व्यक्त नहीं होने देता।

जैन धर्ममें दो प्रकारके पदार्थ माने जाते हैं एक चेतन और दूसरा अचेतन। चेतन किसको कहते हैं? जिसमें चेतना पाई जावे। इसका स्वरूप आगममें इस प्रकार कहा है—

"चेतनालक्षणो जीवोऽजीवस्तद्विपर्ययः।"

चेतना नामकी एक शक्ति है, जिसका काम पदार्थोंका जानना है। चेतना ही ऐसी शक्ति है जो स्व परका संवेदन करता है। परमार्थसे तो ज्ञान स्वपर्याय ही को वेदन करता है। ज्ञानकी निर्मलतामें पदार्थके निमित्तको पाकर पदार्थका जो आकार है उस रूप आकार ज्ञानमें आता है, न कि वह वस्तु ज्ञानमें आती है। ज्ञानमें तो ज्ञानकी ही पर्याय आती है। मोही जीव जो ज्ञानमें आता है उसे ही निज मान लेता है। ज्ञानमें जो आया वह ज्ञानका परिणमन है, इसमें तो कोई विवाद नहीं किन्तु ज्ञानके परिणमनसे भिन्न जो वस्तु है उसे निज मानना मिथ्या है। ज्ञानमें जैसे बाह्य पदार्थ आते हैं वैसे सुखादिक गुण भी आते हैं किन्तु वे अभ्यन्तर हैं। वे भी ज्ञान गुणकी तरह आत्माके हैं परन्तु स्वरूप सभीके पृथक् पृथक् हैं। अपने अपने स्वरूपको लिये आत्म तत्त्वके साधक हैं। अर्थात् इन सब गुणोंका जो अविष्वग्भाव

सम्बन्ध है इसीका नाम द्रव्य है। द्रव्य अनन्त गुणोंका पिण्ड है। इसीमें आत्मा ज्ञान भी है, दर्शन भी है, सुख भी है, वीर्य भी है। ज्ञान दर्शन भिन्न हैं, यह दोनों ही भिन्न भिन्न स्वरूप हैं। इसी तरह सभी गुण पृथक् पृथक् जानने। यथा पुद्गलमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण गुण भिन्न हैं। इन भिन्नोंका भिन्न भिन्न इन्द्रिया द्वारा इनका ज्ञान होता है। भिन्न ज्ञान पर भी इनका अस्तित्व पृथक् नहीं हो सकता, इससे कथञ्चित् एक तादात्म्य होनेसे एक हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि जैसे आत्मा अखण्ड एक द्रव्य है वैसे पुद्गल भी अखण्ड एक द्रव्य है। जैसे अनन्त गुणोंका पिण्ड आत्मा है वैसे ही अनन्त गुणोंका पिण्ड पुद्गल है। जैसे आत्मामें अनन्त शक्ति है वैसे पुद्गलमें भी अनन्त शक्ति है। जैसे आत्मामें अनन्त पदार्थोंके जाननेकी सामर्थ्य है वैसे पुद्गलमें भी अनन्त ज्ञानको प्रगट न होने देनेकी शक्ति है। अन्तर कथन इतना ही है कि आत्मा चेतन है, पुद्गल अचेतन है। केवल द्रव्यका विचार किया जावे तो न तो बन्ध है और न मोक्ष ही है। और न ये शब्द, बन्ध, इत्यादि जो पर्याय पुद्गल द्रव्यमें देखे जावे हैं नहीं हैं। पुद्गल और जीवके सम्बन्धसे ही यह संसार देखा जाता है। इस विकृतावस्था ही का नाम संसार है। संसारमें जीवकी नाना प्रकारकी नाना अवस्थाएँ होती हैं। इन्हींसे जीवमें नाना प्रकारके दुःखोंका व अनेक प्रकारके वैषयिक सुखोंका अनुभव होता है। परमार्थसे कभी भी इस जीवको एक क्षणमात्र भी सुख नहीं। यद्यपि सब द्रव्य स्वयंसिद्ध हैं किन्तु अनादिसे जीव और पुद्गलका अनादि सम्बन्ध चला आ रहा है इससे जीवकी जो स्वाभाविक अवस्था है उससे च्युत है तथा पुद्गल भी अपने स्वाभाविक परिणमनसे च्युत हो रहा है। यद्यपि जीव द्रव्यका एक अंश न तो पुद्गल द्रव्य रूप हुआ है और न पुद्गलका एक

परमाणु भी जीव रूप हुआ है फिर भी [illegible] अपने स्वरूपसे च्युत हो रहे हैं। जैसे ।) सुवर्ण और ।) [illegible] गलाकर ।।) भर एक पिण्ड हो गया [illegible] ।) [illegible] रत्तीभर भी न्यूनता न आई और न एक [illegible] हुआ। यही अवस्था चाँदीकी हुई फिर भी पिण्डको न शुद्ध [illegible] और न शुद्ध चाँदी ही कह सकते हैं। दोनों [illegible] च्युत हैं। यही अवस्था जीव और पुद्गलकी है। [illegible] अवस्थामें जीव द्रव्यका एक अंश न तो पुद्गल [illegible] हुआ है और न पुद्गलका एक अंश जीवरूप हुआ है [illegible] अपने अपने स्वरूपसे च्युत हैं। इस अवस्थामें [illegible] दुर्दशा हो रही है सो किसीसे गुप्त नहीं। [illegible] है। जैसे [illegible] सम्बन्ध अनादि [illegible] है। [illegible] बीजको [illegible] देवे तब वृक्ष नहीं [illegible] अभावमें धान्योत्पत्ति नहीं हो सकती। [illegible] पुद्गलके सम्बन्धसे जो संसार संतति [illegible] रही है इसका मूल कारण मोहादि परिणाम है। [illegible] परिणाम त्याग देवे तो अनायास ही [illegible]। जो [illegible] कर्म हैं वे उदयमें आकर स्वयमेव [illegible]। अनायास ही आत्मा इस बन्धनसे मुक्त [illegible] सकता है। [illegible] यह जीव क्यों इस चक्रसे मुक्त नहीं [illegible] चक्रमें परिवर्तन कर रहा है। प्रतिदिन [illegible] करता है, परन्तु निज माननेमें जो जो उपद्रव होते हैं [illegible] गुप्त नहीं। केवल मानना ही नहीं किन्तु [illegible] भी करता है। इसके अधीन होकर क्या क्या नहीं करता [illegible] अविदित नहीं।

एक सेठ सा० थे, उनका [illegible] हुआ था, सेठ [illegible] थे। एक [illegible] सा० का [illegible] लगा।

को आज्ञा दी कि सेठानीसे कहो चन्दन घिसकर लाए और मस्तक में लगाए। दासीने आकर सेठानीसे कहा कि सेठ सा० के शिरमें वेदना हो रही है, शीघ्रतासे चन्दन रगड़ो और सेठके मस्तकको मालिश करो, अन्यथा लातोंकी मार खानी पड़ेगी।

सेठानीने उत्तर दिया—मुझे ज्वर आ गया है, सेठ सा० से कह दो।

जैसे ही सेठ सा० ने सुना, शिर वेदनाकी चिन्ता त्याग सेठानी के पास आकर पूछने लगे—क्या हुआ ?

सेठानीने उत्तर दिया—आपकी शिर वेदना सुनकर मुझे तो ज्वर आ गया।

सेठजी ने कहा—इसके दूर करनेका उपाय क्या है ?

सेठानी ने कहा—उपाय है परन्तु यहाँ होना असम्भव है।

सेठजी ■ पूछा—उपाय कौन-सा है ?

सेठानी ने कहा—मेरे घर पिताजी चन्दनके तेलको मेरे तलवोंमें मर्दन करते थे या मेरा भाई पैरको मलता था। आपसे क्या कहूँ ? उपाय सुनकर सेठजी चन्दनका तेल लेकर सेठानीके पैरका मर्दन करने लगे। सेठानीने बहुत मना किया पर उन्होंने एक न मानी और तलुओंको मलकर अपनेको कृतकृत्य माना। कहने का तात्पर्य यह है कि स्नेहके वशीभूत होकर जो जो कार्य न हों व अल्प हैं। अन्य सामान्य मनुष्योंकी कथा त्यागो, तीन खण्ड के अधिपति महाविवेकी, धर्मके परम अनुरागी लक्ष्मणने श्री रामचन्द्रजी के स्नेहमें आकर प्राणोंका उत्सर्ग ही तो कर दिया तथा श्री रामचन्द्रजी महाराज जो तद्भवमोक्षगामी थे स्नेहके वशीभूत होकर छह मास पर्यन्त लक्ष्मणके शरीरको लिये फिरे और अन्तमें स्नेहको त्यागकर ही मुक्तिके पात्र हुए। श्री सीताजी का जीव सोलहवें स्वर्गका प्रतीन्द्र था। जब श्री रामचन्द्रजी ने गृहस्था

वस्थाको त्याग दिगम्बर पद धारण किया उस समय सीताके जीव प्रतीन्द्रने यह विचार किया कि वे एक बार देवलोकमें आवें पश्चात् यहाँसे च्युत होकर हम दोनों मनुष्य जन्म धारण कर संयम धारण करें और कर्म बन्धन काट मोक्षके पात्र होवें, ऐसा निश्चय कर जो उपद्रव किया सो पद्मपुराणसे सबोंको विदित है। सबको विदित होने पर भी इस मोह पर विजयी होना अति कठिन है।

अन्यकी कथा कहाँतक लिखें? हमारी ८० वर्षकी आयु हो गई और ५० वर्षसे निरन्तर इसी प्रयत्नमें तत्पर हैं कि मोह शत्रुको परास्त करें परन्तु जितने बार प्रयास किया बराबर अनुत्तीर्ण होते रहे। बालकपनमें तो माता पिताके स्नेहमें ५।८ जाते थे, मेरी नानी मुझपर बहुत स्नेह करती थीं। प्रातःकाल तानी रोटी और ताजा घी खिलाती थीं और मेरा पालन पोषण करती थीं। उस समय हम कुछ जानते ही न थे। मोह दुःखदायी पदार्थ है प्रत्युत इसीको सुख मानते थे और इसी प्रमादमें निरन्तर अपनेको धन्य समझते थे। हमारे एक मित्र था हरीसिंह मारवा थे जो बहुत ही कुशाग्रबुद्धि थे। उनसे हमारा हार्दिक स्नेह था, इतना स्नेह कि एक दूसरेके बिना हम लोग एक मिनट भी नहीं रह सकते थे। इसी तरह रात्रि दिन काल व्यतीत करते थे। पर लाभकी कोई विचार न था। जब कुछ पण्डितोंका समागम हुआ तब कुछ व्यवहार धर्ममें प्रवृत्ति हुई। भगवानकी पूजा और पद्म पुराणका श्रवण कर अपनेको धन्य समझने लगे। इसी पूजा आदि कार्योंमें धर्म मानने लगे और अपनेको धर्मात्मा समझने लगे। कुछ दिन बाद व्रत करने लगे, रात्रिभोजन त्याग दिया कभी रस परित्याग करने लगे।

इतनेमें पिताजीने विवाह कर दिया। थोड़े ही दिनोंमें माँने मेरी पत्नीको ऐसे रंगमें रंग दिया कि वह हमसे कहने लगी कि

अपनी परम्परामें अपने धर्मका परित्याग कर तुमने जो धर्म अङ्गीकार किया उसमें बुद्धिमत्ता नहीं की। हमने भी उससे बिना विचारे कह दिया कि यदि तुम्हारा आत्मा हमारे धर्मसे विमुख है तब हमारा तुम्हारा व्यवहार अच्छा नहीं। उसने भी आवेगमें आकर कहा मैं भी तुमसे सम्बन्ध नहीं चाहता। अस्तु, हम और हमारी पत्नीमें ३६ का सा (परस्पर विरुद्ध) सम्बन्ध हो गया। फिर हम टीकमगढ़से मानमें चले गये और वहीं एक पाठशालामें अध्यापकी करने लगे। दैवयोगसे वहाँपर श्री चिरौंजीबाईजीके निकट गये। धर्ममूर्ति बाईजीने बहुत सान्त्वना दी तथा एक अपने [illegible] पुत्रसे रक्षा की। पत्नीको सम्मति दी किन्तु कहा शीघ्रता मत करो, मैं सब प्रबन्ध कर भेज दूँगी परन्तु मैंने शीघ्रता की, फल अच्छा न हुआ। अब तक अच्छा ही हुआ। अच्छे अच्छे महापुरुषों और पण्डितोंका समागम हुआ, तत्त्वज्ञानके व्याख्यान सुने व्यवहार धर्ममें प्रवृत्ति हुई, तीर्थयात्रा आदि सब कार्य किये परन्तु शान्तिका आस्वाद न आया। मनमें यह आया कि सबसे उत्तम काम विद्या प्रचार करना, जो जातिसे च्युत हो गये हैं उन्हें पञ्चायत द्वारा जातिमें मिलाना, जो दस्से हैं उन्हें मन्दिरोंमें दर्शन करनेमें जो प्रतिबन्ध है उसे हटाना तथा वाणी द्वारा जो मिले उसे परोपकारमें दे देना आदि। सब किया भी परन्तु शान्तिका अंश भी नहीं आया। इन्हीं दिनोंमें बाबा भागीरथजीका समागम हुआ, आपके निर्मल त्यागका आत्माके ऊपर बहुत ही प्रभाव पड़ा। मैं भी देखा देखी निरन्तर शुद्ध करने लगा परन्तु कुछ सफलता नहीं मिली।

अब तक यही उपाय सूझा था मैंने प्रतिमाके व्रत अङ्गीकार किये। यद्यपि उपवासादिकी शक्ति न थी फिर भी यद्वा तद्वा निर्वाह किया। बाईजीने बहुत विरोध किया—'बेटा! तुम्हारी शक्ति नहीं' परन्तु एक न मानी, फल जो होना था नहीं हुआ। लोग न

जानें क्यों मानते रहे? काल पाकर बाईजीका स्वर्गवास हो गया। तब मैं श्री मोतीलालजी वर्णी और कमलापति सेठजीके समागममें रहने लगा। रेलकी सवारी त्याग दी। मोटरकी सवारी पहिले ही त्याग दी थी। अन्तमें यह विचार हुआ कि श्री गिरिराजकी यात्रा करना चाहिये। भाग्यसे बाबू गोविन्दरायजी गयाजीसे आ गये। बरुआसागरसे चार आदमियोंके साथ चल दिये। दो मील चलनेके बाद थक गये, चित्त बहुत उदास हुआ। इतनेमें एक नौकर था वह बोला—

'सागर दूर सिमरिया नियरी।'

इसका अर्थ यह है कि सागरसे अभी आप दो मील आये हैं, वह तो दूर है, सिमरिया यद्यपि ७० मील है परन्तु उसके सम्मुख हो अतः वह समीप है। कहनेका तात्पर्य यह कि गिरिराज समीप है। बरुआसागर दूर है। इस वाक्यका श्रवण किया और उस दिन १० मील मार्ग तय किया। कुछ माह बाद शिखरजीकी वन्दना की, वहाँपर कई वर्ष बिताए परन्तु जिसे शान्ति कहते हैं, नहीं पाई। प्रायः बिहार में भ्रमण भी किया। श्री वीरप्रभुके निर्वाण क्षेत्रमें श्री राजगृहीमें ४ माह रहे, स्वाध्याय किया, वन्दनाएँ कीं, शक्तिके अनुकूल परस्पर तत्त्वचर्चा भी की परन्तु जिसको शान्ति कहते हैं अणुमात्र भी उसका स्वाद न आया। वहाँसे चलकर बनारस आये, अच्छे अच्छे विद्वानोंका समागम हुआ परन्तु शान्तिका लेश भी न आया। बनारस त्यागने पर दशमी प्रतिमाका व्रत लिया परन्तु परिणामोंकी जो दशा पहिले थी वही रही—शान्तिका आस्वाद न आया। कुछ दिनों बाद मनमें आया कि क्षुल्लक हो जाओ, नटकी तरह इन उत्तम स्वांगोंकी नकल की—अर्थात् क्षुल्लक बन गये। इस पदको धारण किये ५ वर्ष हो गये परन्तु जिस शान्तिके हेतु यह

उपाय था उसका लेश भी न आया। जब यहाँ ध्यानमें आया अभी तुम इसके पात्र नहीं। किन्तु इतना ज्ञानपर भी व्रतोंके त्यागनेका भाव नहीं होता। इसका कारण केवल लोकेषणा है अर्थात् जो व्रतको त्याग कर देवेंगे तो लोकमें अपवाद होगा, अतः कष्ट हो तो भले ही हो परन्तु अनिच्छा होते हुए भी व्रतका पालना। यह अन्तरङ्गमें कषाय है। बाह्यमें आचरण भी उसके अनुकूल नहीं तब यह आचरण केवल दम्भ है।

श्री कुन्दकुन्द स्वामीका कहना है कि यदि अन्तरङ्ग तप नहीं तब बाह्य तप कथंचित् कुछ करें लिये है। पर यहाँ तो बाह्य भी नहीं, अन्तरङ्ग भी नहीं, तब यह तप केवल दुर्गतिका कारण है तथा अनन्त संसारका निवारक जो सम्यग्दर्शन है उसका भी घातक है। अन्तरङ्गमें तो यह विचार आता है कि इस मिथ्या तपसे त्यागी, लौकिक प्रतिष्ठामें बाधा तनक नहीं परन्तु यह सब कल्पनामात्र है। अन्तरङ्गमें भय है कि लोग क्या कहेंगे? यह विचार नहीं कि अशुभ कर्मका बन्ध होगा, उसका भाग तो एकाकी तुम ही को भोगना पड़ेगा। यह भी कल्पना है। परमार्थसे परामर्श किया जाय तब आगे क्या होगा? सो तो ज्ञानगम्य नहीं किन्तु इस वर्तमानमें भी कुछ शान्ति नहीं, जहाँ शान्ति नहीं वहाँ सुख काहेका? केवल लोगोंकी दृष्टिमें भावना बनी रहे इतना ही लाभ है।

मेरा यह विश्वास है कि अधिकांश जनता भयसे ही सदाचारका पालन करती है। जहाँ लोगोंका परवा नहीं वहाँ पापाचरणमें भी भय नहीं देखा गया। जहाँ लोकभय गया वहाँ परलोककी कौन गणना अतः जिन्हें आत्मकल्याण करना हो वे मनुष्य तत्त्वाभ्यास करें और यह देखें कि हम कौन हैं? हमारा स्वरूप क्या है? हमारा कर्तव्य क्या है? पुण्य पापादिका क्या स्वरूप है? पुण्य पापादि परमार्थसे हैं या केवल कल्पना है? जो वर्तमानमें विषय सुख

होता है क्या उसमें अतिरिक्त कोई गुण है या कल्पनामात्र है ? आज जगतमें मतोंका प्रचार हो रहा है। उनमें तथ्यांश है या कुछ नहीं ? इत्यादि विचारकर निर्णय कर अपनी प्रवृत्तिको निर्मल करनेकी चेष्टा करना उचित है, केवल गल्पवादमें ही काल पूर्ण न कर देना चाहिये। अनादिकी कथाको छोड़ो, वर्तमान पर्यायपर विचार करो। जबसे पैदा हुए ५ या ६ वर्ष तो अबोधमें ही [illegible]। जब ६ या ७ वर्षके हुए तब कुछ पर्यायके अनुकूल ज्ञानका विकास बिना शिक्षाके ही हुआ। जैसा देखा वैसा स्वयमेव होगा। [illegible] भाषाका ज्ञान बिना किसीके सिखाये आ गया। अनन्तर [illegible] जानेसे अङ्क विद्या और अक्षरका आभास गुरु द्वारा होने [illegible] मास वर्षमें हिन्दी या उर्दूका इतना ज्ञान हो गया जो [illegible] योग्य हो गया। अनन्तर जिस धर्ममें अपने माता-पिता [illegible] कुटुम्बी जनकी प्रवृत्ति देखी उसी मतमें भी प्रवृत्ति [illegible] लगे। यदि माता पिता आरामके उपासक हैं [illegible] उसी धर्मको मानने लगता है। जैन धर्मानुयायी [illegible] तब जिन मन्दिरमें जाने लगा। मुसलमान हुए [illegible] लगा। ईसाई हुए तब गिरजाघरमें जाने [illegible] लिख जो परम्परासे चला आया है उसीमें [illegible] प्रत्यक्ष मतवालोंको है। जो मुसलमान है [illegible] को मान्य मानता है इत्यादि यहाँतक [illegible] कल्याणके मार्गको अपनानेकी मनकी [illegible] है। [illegible] होने हुए भी यह महानुभावोंने इस [illegible] है। कोई परमेश्वर हो इसमें [illegible] परन्तु आत्मकल्याण मार्ग अपने [illegible] यदि उसमें ज्योति नहीं, तब [illegible] हो कोई लाभ नहीं हो सकता। [illegible]

परिणति मलिन है तब चाहे गङ्गास्नान करो, चाहे प्रयाग स्नान करो, चाहे मक्कामदीना जाओ, चाहे मन्दिर जाओ, चाहे हिमालयकी शीतल पहाड़ियोंपर भ्रमण करो शान्ति नहीं मिल सकती। अत परमात्माके विषयमें विवाद करना छोड़ो। केवल परिणति निर्मल बनाओ कल्याणके पात्र हो जाओगे और यदि परिणति निर्मल न बनाई तब परमात्माकी कितनी ही उपासना करो कुछ भी शान्तिके आस्वादके पात्र न होगे।

उपदेशलहरी

साधु कौन है ?

जिन्होंने बाह्याभ्यन्तर परिग्रहका त्याग कर दिया वह साधु है। सचमुच में देखा जाय तो शान्तिका स्थान केवल एक निर्ग्रन्थ अवस्थाम ही है। यदि त्यागी वर्ग न हो तो आप लोगोंको ठीक राह पर कौन लगावे। कहा भी है —

'अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥'

समस्त संसारी प्राणी अज्ञानरूपी तिमिर (अंधकार) से व्याप्त हैं। ज्ञानरूपी अञ्जनकी शलाकासे जिन्होंने हमारे नत्रोंको खोल दिया है ऐसे श्री गुरुवरको नमस्कार है।

जो आत्माका साधन करता है, स्वरूपमें मग्न हो कर्ममलको जलानेकी चेष्टा करता है वह साधु है। समन्तभद्र स्वामीने बतलाया है कि वही तपस्वी प्रशंसाके योग्य है जो विषयाशासे रहित है, निरारम्भी है, अपरिग्रही है और ज्ञान ध्यान तपमें आसक्त है। वह

स्व समय और पर समयकी महत्तासे परिचित हैं। आचार्य कुन्द कुन्दने स्वसमय और परसमयका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

'जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिउ तं हि ससमय जाण।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमय॥'

जो आत्मा दर्शन, ज्ञान तथा चारित्रमें स्थित है वही 'स्व समय' है और जो पुद्गलादि पर पदार्थमें स्थित है उसको 'पर समय' कहते हैं। तथा **शुद्धात्माश्रितः स्वसमयो मिथ्यात्व-रागादिविभावपरिणामाश्रितः परसमयः इति।** अर्थात् जो शुद्धात्माके आश्रित है वह स्वसमय है और जो मिथ्यात्व रागादि विभाव परिणामोंके आश्रित है उसे ही परसमय कहते हैं। परसमयसे हटकर स्वसमयमें स्थिर होना चाहिये। परन्तु हम क्या कहें आप लोगोंकी बात।

एक साधुके पास एक चूहा था। एक दिन एक बिल्ली आई और वह चूहा डरकर साधु महाराजसे बोला—भगवन्! 'मार्जाराद् बिभेमि' अर्थात् मैं बिल्लीसे डरता हूँ। तब साधुने आशीर्वाद दिया 'मार्जारो भव' इससे वह चूहा बिलाव हो गया। एक दिन बड़ा कुत्ता आया, वह बिलाव डर गया और साधुसे बोला प्रभो! 'शुनो बिभेमि' अर्थात् मैं कुत्तेसे डरता हूँ। साधु महाराजने आशीर्वाद दिया 'श्वा भव' अब वह मार्जार कुत्ता हो गया। एक दिन वनमें महाराजके साथ कुत्ता जा रहा था। अचानक सामने व्याघ्र मिल गया। कुत्ता महाराजसे बोला—'व्याघ्राद् बिभेमि' अर्थात् मैं व्याघ्रसे डरता हूँ। तब महाराजने आशीर्वाद दिया कि 'व्याघ्रो भव' अब वह व्याघ्र हो गया। जब व्याघ्र उस तपोवनके सब हरिण आदि पशुओंको खा चुका तब एक दिन साधु महाराजके ही ऊपर झपटने लगा। साधु महाराजने पुनः आशीर्वाद दे दिया कि 'पुनरपि

मृषता भंग अथवा फिससे चूक हो जा। तात्पर्य यह कि हमारे पुण्योदयसे यह पर्याय प्राप्त हो गई, उत्तम कुल और उत्तम धर्म भी मिल गया अब चाहिये यह था कि किसी निरापद स्थानमें जाकर अपना आत्मकल्याण करते, परन्तु यहाँ कुछ विचार नहीं है। तनिक समारकी हवा लगी कि फिरसे विषय वासनाओंकी कीचड़में जा फँसे। अब तो इन वासनाओंसे मनको मुक्त करके आत्महितकी ओर लगाओ। गुणपर्ययवद् द्रव्यम् जो सारी गुणपर्यायको जानो स्याद्वाद द्वारा पदार्थके स्वरूपका ज्ञान होना प्रत्येक प्राणि-मात्रका कर्तव्य है।

संसारका सापेक्ष व्यवहार

जब देखो, वस्तुका व्यवहार भी कोई यही अपेक्षासे होता है। हम वक्ता हैं आप सब श्रोताओंकी अपेक्षासे। इसी तरह श्रोता पन भी वक्तापनेकी अपेक्षा व्यवहारमें आता है। द्रव्य अनन्त धर्मात्मक है। एक पदार्थ स्वसत्तासे अस्ति और परसत्ताकी अपेक्षा नास्ति है। देखा जाय तो उस पदार्थमें अस्ति नास्ति दोनों धर्म उसी समय विद्यमान हैं। "स्वपरोपादानापोहनव्यवस्थापाद्यं हि खलु वस्तुनो वस्तुत्व" वस्तुका वस्तुत्व भी यही है कि स्वरूपका उपादान और पररूपका अपोहन हो। यह पतित पावन शब्द है। पावन व्यवहार तभी होगा जब कोई पतित हो, पतित ही न हो तब पावन कौन कहलायेगा?

इस भाँति वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। सामान्यापेक्षासे वस्तुमें अभेद और विशेषापेक्षासे उसमें भेद सिद्ध होता है। 'सब जीवा समा" अर्थात् सब जीव समान हैं यह कहनेका तात्पर्य जीवत्वगुणकी अपेक्षासे है। यही जीवत्व सिद्धावस्थामें भी

हैं और ससारी जीवोंमें संसारावस्थामें भी हैं परन्तु जहाँ मय सिद्ध अनन्त सुखके धारी हैं वहाँ हम समारी जीव तो नहीं हैं। हम दुःखी हैं। यह सब नय विभागका कथन है।

एक मानाजी आप जिस दृष्टिसे देखते हैं तो क्या अपनी बीको भी उसी दृष्टिसे देखेंगे? और कदाचित् आप मुनि हो जावें तो क्या फिर भी आप उसी तरहसे कटाक्ष करेंगे? ये महाराज हैं (आचार्य सूर्यसागरजीकी ओर संकेत कर) किसी गृहस्थके यहाँ जब ये चर्याके निमित्त जाते हैं तो श्रावक किस बुद्धिसे इनको आहार दान देता है। और यही श्रावक किसी क्षुल्लक (एकादश प्रतिमाधारी श्रावक) को किस बुद्धिसे देता है और कदाचित् यह श्रावक किसी कङ्गालको आहार देवे तो वह किस बुद्धिसे देगा। मुनिको वह श्रावक पूज्य बुद्धिसे आहारदान देवेगा और उस कङ्गालको वह करुणाबुद्धिसे। कङ्गाल यदि उससे यह कहे कि मैं इस तरहसे आहार नहीं लेता। मैं तो उसी तरह नवधा भक्ति पूर्वक लूँगा, जिस तरह तुमने मुनिको दिया है तो हम आपसे पूछते हैं कि क्या हम उसी तरह आहार दे देंगे? नहीं। उससे यही कहेंगे कि भाई अगर तू भी—मुनि बन जाय और ईर्यापथ शोधकर चलने लगे तो तुझे भी दे सकते हैं।

तिलकने 'गीता-रहस्य' में लिखा है कि 'गौ-ब्राह्मणकी रक्षा करनी चाहिये।' गौ और ब्राह्मण दोनों जीव हैं तो क्या इसका मतलब यह हुआ कि गौको चारा ब्राह्मणको दे देवें और ब्राह्मणका हलुआ गायको डाल देवें? द्रव्यका सर्व अपेक्षासे कथन किया जाता है। कोई वस्तु किस अपेक्षासे कही गई यह हम समझ लें तो संसारमें कभी विसंवाद ही पैदा न हो।

यह लड़का किसका है? क्या यह असली स्त्रीका ही है? नहीं तो क्या केवल पुरुषका है? नहीं। दोनों (स्त्री पुरुष) के संयोगसे

वस्थासे लड़का उत्पन्न हुआ है। जिस तरह यह सब कथन सापेक्ष है उसी तरह साधुता और असाधुताका कथन भी सापेक्ष है। क्योंकि वस्तुका स्वभाव अनन्त धर्मात्मक है। उनका सापेक्ष दृष्टिसे व्यवहार करने पर विरुद्धताका आभास नहीं होता किन्तु विरोध एकान्तदृष्टिके अपनानेसे ही होता है। एकान्त ही असाधुता है उससे आत्मा संसारका ही पात्र बना रहता है।

जीव और पुद्गलके संसर्गसे यह संसारावस्था हुई। जीव अपने विभावरूप परिणमन कर रागी-द्वेषी हुआ और पुद्गल अपने विभावरूप और इस तरह इन दोनोंका बन्ध एक क्षेत्रावगाही हो गया है। इस अवस्थामें जब हम विचार करते हैं तब मालूम पड़ता है कि यह आत्मा बद्धस्पृष्ट भी है और अबद्धस्पृष्ट भी। सम्बन्धकी दृष्टिसे विचार करते हैं तो यह बद्धस्पृष्ट भूतार्थ है, इसमें सन्देह नहीं, और जब केवल स्वभावकी दृष्टिसे देखते हैं तो यह अभूतार्थ भी है। जैसे कमलिनीके पत्रका जलस्पर्श हो गया है इस दृष्टिसे विचार करते हैं तो वह पत्र जलसे लिप्त है यह भूतार्थ है परन्तु जल उसका स्पर्श छू नहीं सकता है जिससे उस कमलिनीके पत्रका स्वभावकी दृष्टिसे अवलोकन करते हैं तो यह अभूतार्थ है क्योंकि वह जलसे अलिप्त है। अतः अनेकान्तको अपनाए बिना वस्तुस्वरूपका समझना दुष्कर है। नानापेक्षासे आत्म ज्ञान करना क्या बड़ी बात है? 'समाधितन्त्र' में श्रीपूज्यपाद स्वामी लिखते हैं—

'यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम्॥'

अर्थात् इन्द्रियोंके द्वारा जो यह शरीरादिक पदार्थ दिखाई देते हैं वह अचेतन होनेसे जानते नहीं हैं। और जो पदार्थोंको जानने

वाला चैतन्यरूप आत्मा है वह इन्द्रियोंके द्वारा दिखाई नहीं देता, इसलिए मैं किसके साथ बात करूँ। यह पण्डितजी हैं, जैसे हम बात करते हैं तो जिससे हम बात कर रहे हैं वह तो दिखता नहीं है और जिससे हम बात नहीं कर रहे हैं वह अचेतन होनेसे समझता नहीं है। इसलिए सब झंझटोंसे छूटकर विभाव भावोंका परित्याग कर स्वभावमें स्थिर रहनेका यह क्या ही उत्तम उपाय है। यही स्वामीजी आगे लिखते हैं—

> 'यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान् प्रतिपादये।
> उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः ॥'

जो प्रतिपादन करता है वह तो प्रतिपादक कहलाता है और जिसको प्रतिपादन करना चाहते हैं वह प्रतिपाद्य कहलाता है। जो कहते हैं कि यह सब मोही मनुष्योंकी पागलों जैसी चेष्टा है। यदि ऐसा ही है तो हम उन्हींसे पूछते हैं—महाराज! फिर आप ही यह उपदेश, रचना चातुरी आदि कार्य क्यों करते हैं? इससे मालूम पड़ता है कि मोहके सद्भावमें सब व्यवहार चलते हैं यह असत्य नहीं, सत्य है।

यह लोक षड्द्रव्यात्मक है जिसमें सब द्रव्य परस्पर मिले हुए एक दूसरेका चुम्बन करते रहते हैं। इतना होने पर भी सब अपने अपने स्वरूपमें तन्मय हैं। कोई द्रव्य किसी द्रव्यसे मिलता जुलता नहीं है पर फिर भी एक पर्यायके अनन्तर अन्य पर्याय उत्पन्न होती है और संसारका व्यवहार चलता रहता है।

जैन धर्ममें त्यागका क्रम—

जैनधर्ममें सदैव क्रम-क्रमसे ही कथन किया गया है। पहले उपदेश दिया जाता है कि अशुभोपयोगको छोड़ो और शुभोपयोगमें रमन करो और जो प्राणी शुभोपयोगमें स्थिर हैं उन्हें

करते हैं, अतः यह भाव भी संसार बन्धनमें डालनेवाला है। अतएव इसको भी त्यागकर शुद्धोपयोगमें वर्तन करे। कुन्दकुन्दाचार्य एक जगह कहते हैं प्रतिक्रमण भी विष है। अत जहाँ प्रतिक्रमणको ही विषरूप कह दिया वहाँ अप्रतिक्रमण—प्रतिक्रमण नहीं करनेको अमृतरूप कैसे कहा जा सकता है। शुद्धोपयोग प्राप्त करना प्राणी मात्रका ध्येय होना चाहिये। यह अवस्था जब तक प्राप्त नहीं हुई तब तक शुभोपयोगमें प्रवर्तन करना उत्तम है। अतएव क्रम क्रमसे चढ़नेका उपदेश है। तात्पर्य यही है कि यदि मनुष्य अपने भावों पर दृष्टिपात करे तो संसार बन्धनसे छूटना कोई बड़ी बात नहीं है। एक बार भी यह प्राणी अपना अज्ञानभाव मेट देवे तो यह परम सुखी हो सकता है।—अज्ञान क्या है? ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमके साथ मिथ्यात्व लगा हुआ है वही अज्ञान है। उस अज्ञानका शरीर मोहसे पुष्ट होता है। और उसके प्रभावसे ही यह विचित्र लीला देखनेमें आ रही है। अतः आत्मज्ञानकी बड़ी आवश्यकता है। जिसने प्राप्त कर लिया वही मनुष्य धन्य है और उसीका जीवन मानव एवं सफल है।

जीव और अजीवका भेद विज्ञान

यह जीवाजीवाधिकार है। इस अधिकारमें जीव और अजीव दोनोंको अलग अलग लक्षणोंसे कहकर आत्माके शुद्धस्वरूपको दिखाना कर्ताको अभीष्ट है। कोई आत्माको केवल रागद्वेषादिमय बतलाते हैं किन्तु ये तो पुद्गलके सम्बन्धसे उत्पन्न विभाव भाव हैं। अत जो भाव परके सम्बन्धसे होंगे वे कदापि जीवके नहीं कहलाये जा सकते, क्योंकि यहाँ तो जीवके शुद्ध स्वरूपको बतलाना है न। माथे पर तेल पोत लो तो वह चिकनाई तेलकी ही कहलाई जायेगी। इसी तरह समस्त राग द्वेष व मोहादिककी कल्लोलमालाएँ पुद्गल प्रकृतियोंमें उत्पन्न हुए विभाव भाव हैं।

इसस यह सिद्ध हुआ कि [illegible]
धारण करता हुआ शुद्ध [illegible]
सब प्राणियोंम एक समान [illegible]
का भेद भाव नहीं है। [illegible]
मात्मक है।

एक पागल हो गया था। [illegible]
आस-पास अगल बगलमें [illegible]
स्थितिका मनुष्य था [illegible]
इधर उधर पुड़ियोंका [illegible]
वस्त्रिया पड़ा है। यह [illegible]
अवश्य लेनी चाहिये।' [illegible]
कहा। अनिच्छासे [illegible]
उनको फिर दिखाने लगता। [illegible]
तरह दो चार हुआ, [illegible]
उसने उठकर एक चाँटा [illegible]
ये सर वाप हैं जो धार [illegible]
यों ही छोड़ जाता है? [illegible]
नहीं परोसता? इतना [illegible]
ठिकाने पर आया। [illegible]
स्वरूप मानता है। अपने [illegible]
है। उसमें किसी प्रकारका [illegible]

अब यहाँ जीव और [illegible]
आत्मा माननेवाले [illegible]
अन्य काई तो [illegible]
और असाताके [illegible]
वाईका मत है कि जो [illegible]

और कोई जीव नहीं है। कोई कहते हैं कि आठ काठोंसे जैसे खाट होती है, इसके अलावा और खाट कोई चीज नहीं है उसी तरह आठ कर्मोंका संयोग ही जीव है और जीव कोई वस्तु नहीं है। इस प्रकारके तथा अन्य प्रकारके बहुतसे मत जीवकी मान्यता के विषयमें हैं परन्तु इनमेंसे कोई भी मत सत्य नहीं है। सब भ्रम हैं क्योंकि ये सब जीव नहीं हैं। जो अध्यवसानादि भावोंको ही जीव बतलाते हैं उनके प्रति आचार्य कहते हैं कि ये सभी भाव पौद्गलिक हैं। ये यद्यपि स्वभावमय जीव द्रव्य नहीं हो सकते, इन रागादि भावोंको जो जीव आगममें बतलाया है वह व्यवहारनयसे है किन्तु ये वस्तुतः जीव नहीं हैं। इसी प्रकार जो यह प्रलाप करते हैं कि साता और असातासे उत्पन्न सुख दुःखादि हैं वह जीव हैं उनसे कहते हैं, भाई! सुख दुःखादिका जिसको अनुभव होता है वह जीव है। 'जो संसारमें भ्रमण करता है वह जीव है' ऐसी जिसकी मान्यता है उनके लिए कहते हैं कि इस भ्रमणके अतिरिक्त जो सदा शाश्वत रहनेवाला है वह जीव है। जैसे आठ काठोंके संयोगसे जो खाट कहलाती है वैसे ही आठ कर्मोंके संयोगसे उत्पन्न जीव नहीं है किन्तु जिस प्रकार आठ काठोंसे बनी हुई खाट उस पर शयन करनेवाला व्यक्ति भिन्न है उसी तरह आठ कर्मोंके अतिरिक्त जो कोई वस्तु है वह जीव है।

जब यह सिद्ध हो चुका कि वर्णादिक या रागादिक भाव जीव नहीं हैं तब सहज ही यह प्रश्न होता है कि जीव कौन है? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं—

'अनाद्यनन्तमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटम्।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ॥'

यह जीव अनाद्यनन्त है और स्वसंवेद्य है, केवल अपनेसे ही

अपने द्वारा जानने योग्य है। जिसमें चैतन्यका विलास हो रहा है ऐसा स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान-दर्शन रूप जीव है जो स्वयं प्रकाशमय बोधरूप है।

अतः जीवमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श नहीं है। शरीर 'संस्थान' संहनन आदि भी नहीं है। राग, द्वेष, मोह, द्रव्य कर्म, नोकर्म आस्रव भी नहीं है।

जीवमें न योगस्थान, बन्धस्थान, उदयस्थान हो हैं और न मार्गणास्थान, स्थितिबन्धस्थान और संक्लेशस्थान ही हैं, क्योंकि ये सभी पुद्गलजनित क्रियाएँ हैं अतः वे कदापि जीवके नहीं हो सकते।

इस प्रकार यह जीव और अजीवका भेद सर्वथा भिन्न है इसको ज्ञानी जन स्वयं स्पष्टतया अनुभव करते हैं किन्तु तिस पर भी यह अत्यन्त बढ़ा हुआ महामोह अज्ञानियोंको व्यर्थ ही अनेक प्रकारसे नाच नचाता हुआ उन्हें शुद्धात्मानुभूतिसे वंचित रखता है। आचार्य कहते हैं कि हे भव्य! तू व्यर्थ कोलाहलसे विरक्त होकर चैतन्यमात्र वस्तुको देख, हृदय-सरोवरमें निरन्तर विहार करनेवाला ऐसा वह भगवान् आत्मा उसका यदि षण्मास पर्यन्त भी अनुभव करे तो तुम आत्म-तत्त्वकी अवश्य उपलब्धि हुए बिना न रहे। सुखके लिए तू अनन्त कालसे निरन्तर भटक रहा है पर सच्चा वास्तविक सुख तुझे अभी तक प्राप्त नहीं हुआ। इसका कारण क्या है? यह खोजनेका प्रयास भी नहीं किया। काम कैसे बने? किसीने कहा अरे, तेरा कान कौआ ले गया किन्तु मूर्खने अपना हाथ उठाकर कान पर नहीं रखा। कान कहाँ चला गया? इसी तरह कोई यह कहे कि हमारे तो पीठ ही नहीं है परन्तु तनिक हाथ पीछे मोड़कर देखा होता। वहीं नहीं

गई है। अपने ही पास है। केवल उस तरफ लक्ष्य करनेकी आवश्यकता है।

आत्माका प्रशान्त स्वभाव

एक 'ज्ञानसूर्योदय' नाटक है—उसमें लिखा है, कि एक सभाभवनमें नट और नटी आये। नटने नटीसे कहा कि आज इन श्रोताओंको कोई एक अपूर्व नाटक सुनाओ। अपूर्व ऐसा जो कभी इन्होंने सुना न हो। नटी कहने लगी—ये संसारी प्राणी रात्रि दिवस विषयोंमें लीन परिग्रहकी चिन्तासे आक्रान्त तथा बाहरी दुःखसे दुःखी हैं। ऐसी अवस्थामें सुख कहाँ? तब नट कहने लगा प्रिय? ऐसी बात नहीं है। आत्मस्वभावोऽस्तु शान्तः केनापि कर्ममलकलङ्ककारणेन अशान्तो जातः' अर्थात् आत्म स्वभावसे शान्त है किन्तु किन्हीं कर्ममल कलङ्कके कारणोंसे वह अशान्त हो गया है। अतः इन उपद्रवोंको हटाकर शान्त बन जाओ क्योंकि शान्तता (सुख) उसका सहज स्वभाव है। प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभावमें रहकर ही शोभा पाता है। किन्तु हम लोगों की प्रवृत्ति ही बाह्य विषयोंमें लीन हो रही है। विषय सुखकी प्राप्तिमें सारी शक्ति लगा रहे हैं। क्या इनमें सच्चा सुख है? यही मोहकी महिमा है। पर वस्तुओंमें सुखकी कल्पना करी मृगतृष्णासे अपनी पिपासा शान्त करना चाहते हैं। सचमुचमें देखा जाय तो सुख आत्माकी एक निर्मल पर्याय है। वह कहीं परसे नहीं आती क्योंकि ऐसा सिद्धान्त है कि जिसकी जो चीज होती है वह उसीके पास रहती है।

(फिरोजाबाद मेलेमें किया गया एक प्रवचन)

वर्णी-प्रवचन

[श्रीमान् पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य]

[illegible]

१ [illegible]
यह भी [illegible]
यहा यात है [illegible]
उत्तम [illegible]
कि [illegible]
मिथ्याके मधुर [illegible]
है कि यह मधुर [illegible]
[illegible]

[illegible]
वचन कायकी [illegible]
धर्म होता। [illegible]
है। गुप्ति [illegible]
परन्तु [illegible]
का वर्णन [illegible]
समितिमें [illegible]
रहता है [illegible]
वर्णन किए [illegible]
उत्तम [illegible]
लगाए [illegible]
है [illegible]
मार्दव, [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

...र क्रोध
...र्म, अर्थ,
...ी हैं। मैंने
'वत्ति' ही
। व्याकरण
तुम्हारे जैसे
...ना थी अत-
...प उत्पन्न हो
...कि तुम्हारे
...। गये। क्रोध
...ध छूटते
...म आत्मामें
...कारण क्रोध
...। आत्मामें

...विपरीता-
...जावें।
...। दूर
...पाय
...ते

स्वभाव है और क्रोधादि विभाव। अग्निके सम्बन्धसे पानीका शीतल स्पर्श उष्ण स्पर्श रूपसे बदल जाता है इसी प्रकार क्रोध कषायके सम्बन्धसे आत्माका क्षमा गुण क्रोध रूप बदल जाता है। ऐसा परिणमन विभाव परिणमन है यह अकल्याण करनेवाला है।

टीकमगढ़मं एक दुलार झा नामक विद्वान् थे जो न्यायशास्त्रके महान् विद्वान थे। मैं भी उनसे पास न्याय पढ़ा हूँ। पहले वे व्याकरण नहीं जानते थे। एक दिन इन्होंने अपने गुरुसे कहा कि जिस प्रकार 'गो चक्ति' रूप होता है उसी प्रकार 'गो नयति' रूप क्यों नहीं होता। गुरुजी इनके मूर्खतापूर्ण प्रश्नको सुनकर बहुत कुपित हुए और उन्होंने मूर्ख पशु आदि कहकर इनका बड़ा तिरस्कार किया। गुरुकृत अपमानसे ये रुष्ट होकर अपने स्थानपर चले आये और अपनेसे नीचेकी कक्षामें पढ़नेवाले एक छात्रसे बोले कि चलो हम तुम्हे तुम्हारे घरपर अच्छा न्याय पढ़ा देंगे यहाँपर दशाम क्यों पड़े हो। छात्र मजूर हो गया अतः उसे साथ लेकर उसके गाँव चले गये। उस छात्रको व्याकरण अच्छा आता था। इन्होंने उसे न्याय पढ़ाया और उससे परीक्षाके रूपमें व्याकरणके सूत्रोंका अर्थ पूछ पूछकर सब व्याकरण साफ लिया। ॥ माहमें वे व्याकरणके विद्वान हो गये। काव्य तथा साहित्यका भी अच्छा अभ्यास कर लिया। यह कर चुकनेके बाद अपने गुरुजीके पास वापिस पहुँचे और बोले जाओ तुम्हारे बापका चुना दी जहाँ पूछना हो पूछ लो। गुरुने हँसकर शिरपर हाथ फेरते हुए कहा 'बेटा! यही तो चाहता था। अज्ञानमूलक तुम्हारा भय निकल गया इससे मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। पर एक बात तुम याद कर लो—

'अपराधिनि चेत् क्रोध. क्रोधे क्रोध कथ न हि ।
धर्मार्थकाममोक्षाणा चतुर्णा परिन्थिनि ॥'

यदि अपराधीपर क्रोध करना है तो क्रोधके ऊपर क्रोध क्यों नहीं करते, क्योंकि यह क्रोध भयकर अपराधी है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंका परिपन्थी है विरोधी है। मैंने तुमसे यही तो कहा था कि तुम मूर्ख हो वचू धातुका 'वक्ति' ही रूप होता है और ब्रू धातुका 'ब्रवीति।' पर तुम व्याकरण ज्ञानसे सर्वथा शून्य थे अत विपरीत प्रश्न करने लगे। तुम्हारे जैसे विद्वान्का भाषा विषयक ज्ञान न हो यह बात मुझे खटकती थी अत मैंने तुम्हें मूर्ख कह दिया। किन्तु यह सुनकर तुम्हें रोष उत्पन्न हो गया। तुम्हीं विचारो मैंने तुम्हारा अपराध किया कि तुम्हारे क्रोधने। गुरुके वचन सुनकर हुलासका नतमस्तक हो गये। क्रोध निकला कि आत्मामें शान्ति उत्पन्न हुई। अग्निका सम्बन्ध छूटते ही पानी ठंडा हो जाता है यह कौन नहीं जानता। धर्म आत्मामें ही है सिर्फ उसके बाधक कारण दूर करना है। बाधक कारण क्रोध मान माया आदिक दुर्गुण हैं इन्हें दूर कर दिया जाय तो आत्मामें धर्म प्रकट हो जाय।

श्री कुंदकुंद स्वामीने कहा है कि यदि आत्मासे विपरीताभिप्राय निकल जाय तो आत्मामें सब सद्गुण प्रकट हो जावें। जिस मुनिका विपरीताभिप्राय अर्थात् मिथ्यात्व रूप परिणमन दूर नहीं हुआ वह मुनि नहीं। द्रव्यलिंगकी शोभा भावलिंगके साथ है। जिस मुनिके द्रव्यलिंग के साथ भावलिंग नहीं हुआ उसने क्या हुआ? कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि हमारे शत्रुके भी द्रव्यलिंग न हो।

जिस प्रकार धनको चाहनेवाला कोई पुरुष राजाको जानकर उसकी उपासना करता है इसी प्रकार आत्मार्थी पुरुष आत्माको

जानकर उसकी श्रद्धा करता है, उसकी उपासना करता है। मोक्षार्थी पुरुषको आत्माकी श्रद्धा करना आवश्यक है। साध्य सिद्धि कारण कूटस्थ जानकर ही की जाती है। 'पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमवत्त्वात्' यहाँ वह्निमत्त्व साध्यकी सिद्धि धूमवत्त्व साधन से ही की हुई। समारम्भ करनेके लिए आवश्यक है कि यह प्रत्यय किया जाय कि मैं कौन हूँ? मेरा क्या स्वरूप है। कुन्दकुन्द स्वामीने प्रवचनसारमें कहा है—

'चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥'

अर्थात् चारित्र ही धर्म है, समता परिणाम ही धर्म है। वह मोह तथा क्षोभसे रहित आत्माके परिणामरूप ही है। 'स्वरूपे चरणं चारित्रं स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः। तदेव वस्तुस्वभावत्वाद्धर्मः।' स्वरूपमें रमण होना सो चारित्र है। यही स्वसमयमें प्रवृत्ति करना है। क्रोधादि परसमय हैं क्योंकि वे परजन्य विकार हैं। क्षमा मार्दव आदि स्वसमय हैं। यही जीव द्रव्यके स्वभाव होनेसे धर्म हैं। समता भाव दुर्लभ वस्तु नहीं। मोह अर्थात् मिथ्यादर्शन और क्षोभ अर्थात् रागद्वेष इनका अभाव कर दिया जाय तो समता भावके प्रकट होनेमें विलम्ब न लगे।

आज उत्तम क्षमा है उसे ही लेकर आओ। परपदार्थको अपना मानना छोड़ो। पर पदार्थको अपना मानते हो तभी तो क्रोध होता है। आप परको अपना मानकर उसका परिणमन अपनी इच्छानुकूल करना चाहते हो परन्तु परका परिणमन परके अधीन है आपके अधीन नहीं आप व्यर्थ ही क्रोध करते हैं। मैं ज्ञान ज्ञानमय आत्मा हूँ। ज्ञाता दृष्टा होना ही मेरा स्वभाव है परन्तु मैं

ज्ञाता दृष्टा न रहकर रागी द्वेषी भी हो जाता हूँ। यह कार्य ही भव-भ्रमणको बढ़ानेवाला है। इससे बचना है तो उस एक आत्माकी उपासना करो। यद्यपि आत्मा ज्ञानमय है, ज्ञानके साथ ही उसका तादात्म्य है, पर तु हम क्षणभर भी उसकी उपासना नहीं करते। आत्माकी ओर उपयोग न लगाकर भिन्न भिन्न पदार्थोंकी ओर उपयोग भर करते रहते हैं। कहीं ऐसी परिणतिसे कल्याण होता है ?

(सागर-२५-८-५१)

२

आपने कल समाधमका वर्णन सुना था और आज मार्दव धर्मका। कल तत्त्वार्थसूत्रका प्रथमाध्याय सुना था और आज द्वितीयाध्याय सुनेंगे। मार्दवके विषयमें मैं क्या कहूँ, महाराजके मुखारविन्दसे सब श्रवण कर चुके। प्रथमाध्यायमें आपने मोक्ष मार्गका वर्णन सुना होगा। मैं तो वारिसके कारण पहुँच नहीं सका इसका दुःख रहा। वारिस हमारे सत्कार्यमें अन्तरायरूप हो गई ? भाग्यसे ही तो सब होता है।

सर्वार्थसिद्धिकी भूमिकामें लिखा है कि सौराष्ट्र देशके एक नगरमें द्वैपायक नामका सेठ रहता था। बड़ा भद्र था। स्वाध्याय की प्रतिज्ञा उसके थी। उसने एक सूत्र बनाकर घरके खम्भेपर लिख दिया '**दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग**' अर्थात् दर्शन ज्ञान और चारित्र मोक्षके मार्ग हैं। वह कहीं बाहर गया था। घर पर एक निर्ग्रन्थ आचार्य आहारके लिये आये। जब आहारकर जाने लगे तब उनकी दृष्टि खम्भापर लिखे '**दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्ष मार्ग**' सूत्र पर पड़ी। उन्होंने सोचा कि दर्शनपद तो सामान्यपर

है अत मिथ्यादर्शन भी मोक्षमार्ग हो जायगा। उसकी व्यावृत्ति करनेके लिये यहाँ 'सम्यक्' पद जोड़ना चाहिये ऐसा विचारकर उन्होंने सम्भापर सूत्रके प्रारम्भमें सम्यक् पद और जोड़ दिया तथा तपोवनको चले गये। जब द्वैपायन घर आया तब उसने अपनी स्त्रीसे पूछा कि सूत्रमें यह परिवर्तन किसने किया है। उसने कहा कि आज निर्ग्रन्थ मुनि आये थे उनका यहाँ भोजन हुआ, उन्होंने ही यह परिवर्तन किया है। द्वैपायक पता चलाकर तपोवनमें पहुँचता है। इस द्वैपायक नामक भक्तके वर्णनमें पूज्यपाद स्वामीने लिखा है कश्चिद् भव्य प्रत्यासन्ननिष्ठः प्रज्ञावान् स्वहितमुपलिप्सु आदि। यह अत्यन्त निकट भव्य था। निकट भव्य ही तो भेदज्ञानी तथा आत्महितका इच्छुक होता है। जो दीर्घसंसारी होता है उसकी आत्महितकी ओर रुचि ही नहीं होती। द्वैपायक जाकर देखता है कि एक परम पवित्र, रमणीय एकान्त और मन्द शीतोंसे विश्राम देनेवाले तपोवनमें निर्ग्रन्थाचार्य महाराज विराजमान हैं। वे इतने शान्त हैं कि उनकी मुद्रासे मोक्षमार्ग प्रकट हो रहा है। वे यद्यपि वचनसे कुछ नहीं बोल रहे हैं तो भी शरीरसे साक्षात् मोक्षमार्गका दिग्दर्शन करा रहे हैं। परहितका प्रतिपादन करना ही उनका कार्य है। बड़े बड़े आकर उनकी उपासना कर रहे हैं। यह सब देख वह बड़ा प्रभावित हुआ और नम्रतासे बोला भगवन्! आत्माके लिये हितकारी क्या वस्तु है? उन्होंने कहा मोक्ष। अनादिकालसे यह जीव संसाररूपी कारागारमें बद्ध है, उससे छूट जाना ही इसके लिये हितकारी है। आत्माके साथ जो कर्मोंका सम्बन्ध हो रहा है उसका छूट जाना ही मोक्ष है और वह तभी संभव है जब कि बन्धके कारणोंका अभाव तथा संवर हो जाय। आस्रवका निरोध और संवरकी प्राप्ति हुए बिना मोक्ष नहीं हो सकता।

मुनिराजकी उक्त वाणी सुनकर द्वैपायक बहुत प्रसन्न हुआ और

बोला कि महाराज इस ग्रन्थकी पूर्ति तो आपसे ही हो सकती है। भव्यकी प्रेरणासे मुनिराजने तत्त्वार्थसूत्रकी रचना पूर्ण की। वे मुनिराज गृद्धपिच्छ थे। यह दन्त कथा है। अकलङ्क स्वामी राजवार्तिकके प्रारम्भमें इसका समर्थन कर आगे कहते हैं **नात्र शिष्याचार्य-सम्बन्धो विवक्षित.**—यहाँ शिष्याचार्यके सम्बन्धकी विवक्षा नहीं है किन्तु संसारसागरमें निमग्न अनेक प्राणिगणकी उज्जिहीर्षासे प्रेरित हो आचार्य महाराजने स्वयं मोक्षमार्गका निरूपण किया है। आत्मासे कर्मका सम्बन्ध छूट जाय इससे बढ़कर और हित क्या हो सकता है। कर्मका सम्बन्ध छूट जानेपर संसारी और मुक्त जीवमें क्या अन्तर रह जाता है। इन दोनोंके बीच जितना अन्तर है यह सब कर्मकृत है और तत्त्वदृष्टिसे विचार करो तो कर्मकृत भी नहीं है, क्योंकि कर्म तो जड़ पदार्थ है। उनमें यह इच्छा कहाँ कि मैं इस आत्माका अहित करूँ। सब अपराधकी जड़ तो स्वयं है। स्वयं रागादि विकार करता है जिनसे कर्मोंका बन्ध होता है इसलिये आत्माको रागादि परिणतिसे बचाओ। रागके साथ द्वेष करनेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि यह तुम्हारे नहीं है परजन्य विकार है तुममें हुए है यह बात दूसरी है परन्तु तुम्हारे स्वभाव नहीं है। स्वभाव होते तो कभी नष्ट नहीं होते परन्तु वीतराग अवस्थामें उनका पता नहीं चलता। रागद्वेषका उदय जबतक ही रहता है जब तक यह जीव निज और परको ठीक-ठीक नहीं समझ पाता है। जहाँ परपदार्थसे भिन्न स्व द्रव्यमें—अपने आत्म द्रव्यमें रुचि हुई, उसका ज्ञान हुआ और उसीमें स्थिर निवास हुआ कि मोक्षमार्ग प्रकट हो गया फिर रागद्वेष कहाँ रहेंगे ?

युक्त्यनुशासनमें अन्तमें समन्तभद्र स्वामी लिखते हैं कि हे भगवन्! यह जो मैंने आपका स्तवन किया है वह आपके रागसे

४

आज सत्यधर्मका निरूपण हुआ है। जिसे आप लोगोंने महाराजसे सुरूप श्रवण किया है। सत्यधर्मसे क्या क्या नहीं होता? यह जीव अनन्त संसारसे पार हो जाता है फिर अन्य सामग्रीका मिलना दुर्लभ नहीं। सम्यग्ज्ञानसे ही सत्य धर्मका पालन हो सकता है। जिसने पर पदार्थसे भिन्न रहनेवाले अपने शुद्ध आत्मस्वरूपको समझ लिया वह झूठ क्यों बोलेगा?

मैं उदाहरण दूसरोंका क्या दूँ स्वयं अपनी बात सुनाता हूँ। जब मैं मड़ावरा में रहता था तबकी बात है। एक बार मौजीलाल और कुञ्जीलालका आपसमें लड़ाई हुई। मौजीलाल भतीजा था और कुञ्जीलाल चाचा। मौजीलालने कुञ्जीलालको खूब मारा और अपना अंगूठा अपने मुँहसे काट कर रिपोर्ट लिखा दी कि कुञ्जीलालने हमें मारा है। इतना ही नहीं कुछ दे दिलाकर डाक्टरसे सार्टिफिकेट भी लिखा लिया कि इसे घातक चोट पहुँचाई गई है। मुकदमा दायर हुआ। हरीसिंह मौजीलालके भाई थे। उन्होंने हमसे कहा कि तुम हमारी ओरसे गवाह दे दो कि हमने कुंजीलालको मौजीलालका अंगूठा काटते देखा है। मैंने बहुत कहा कि भाई अदालतमें जाते हुए मुझे डर लगता है अतः मेरी गवाह न दिलाओ पर वे नहीं माने। बोले ऐसा कह देना कि हम अपने चाचाके यहाँ लुहरा जाते थे। बीचमें मौजीलाल और कुंजीलालकी लड़ाई हो रही थी तब कुंजीलालने मौजीलालका अँगूठा मुँहसे काट लिया। मेरे मना करने पर भी उन्होंने पर्चा लिखकर दे दिया। मुझे कचहरी जाना पड़ा। पुकार हुई मजिस्ट्रेटने पूछा सच कहोगे मैंने कहा, हाँ सच कहूँगा, क्या जानते हो, मजिस्ट्रेटने पूछा, मैंने हरीसिंहके कहे अनुसार कर दिया। अन्तमें मजि

प्रेटने पूछा कि और क्या जानते हो ? मैंने कहा और तो कुछ नहीं जानता। ये हरीसींग खड़े हैं इन्होंने कहा था कि ऐसा कह देना, सो कह दिया। मामला गड़बड़ हो गया। हरीसींगने बहुत कहा कि दूसरेसे पूछ लिया जाय पर मजिस्ट्रेटने एक न मानी और यह कहकर मुकदमा खारिज कर दिया कि तुमने खुद अपना अंगूठा अपने मुंहसे काटकर इसपर झूठा आरोप लगाया है। भैया! मेरा तो विश्वास है कि जो सच बोलता है वह कभी दुःखी नहीं होता। इसलिये ज्योंकी त्यों बोलना ही कार्यकारी है।

यह दशलक्षण धर्म है। धर्म आचरण करनेसे होता है और आचरणमें ही फल मिलता है। जो ज्ञान क्रियाहीन होता है उसकी क्या कीमत ? 'हतं ज्ञानं क्रियाहीनम्' यह प्रसिद्ध भी है। सत्य धर्म ही प्राणीका कल्याण करनेवाला है। एक सत्यधर्मसे ही जीवका उद्धार हो जाता है।

एक राजाका लड़का चोरी करने लगा, पिताने बहुत समझाया पर नहीं माना। बोला, पिताजी कोई दूसरा बलवान राजा आ जायगा तो आपका राज्य चला जायगा और सब मुझे दुःखी होना पड़ेगा, यदि चोरी करूंगा तो अपना काम तो चला लूंगा। राजाने रुष्ट होकर उसे देशसे निकाल दिया। वह देशान्तरमें चला गया तथा जुआ चोरी शिकार वेश्यासेवन आदि पापोंमें फंस गया। एक दिन वह शिकारके लिये जंगलमें गया। देखता है कि कोई मुनिराज बैठे हैं और सबको तरह तरहके व्रत दे रहे हैं। चोरसे भी नहीं रहा गया। वह भी बोल उठा महाराज कोई सरलसा नियम मुझे भी दे दीजिये। चोरी, शिकार, जुआ आदि तो मैं छोड़ नहीं सकता फिर भी कुछ ऐसा नियम बताओ जिसे मैं पालन कर सकूं। मुनिराजने कहा भाई तू यह सब नहीं छोड़ना चाहता तो नहीं छोड़ पर एक झूठ बोलना छोड़ दे। उसने कहा

राजाकी बात मान ली और झूठ बोलना छोड़ दिया। चार छह माह हो जानेपर उसने विचार किया कि देखें तो सच बोलनेसे क्या लाभ होता है? उसने एक दिन राजपुत्र जैसी पोशाक पहिनी और रातको ९-१० बजे राजाके महलमें चोरी करनेके लिये प्रयाण किया। पहरेदारने टोका कौन हो और कहाँ जाते हो? उसने कहा चोर हूँ और चोरीके लिये राजमहलमें जाता हूँ। पहरेदारने समझा, यह तो हँसोड़ कर रहा है कहीं चोर भी अपने मुँहसे कहता है कि मैं चोर हूँ। उसने आगे जाने दिया। इसी क्रमसे वह सब पहरेदारोंको उत्तर देता हुआ वहाँ पहुँच गया जहाँ राजा सोते थे। सोते समय राजाने अपने सब कपड़े तथा आभूषण उतारकर अलग रख दिए थे। चोरने अपने कपड़े तो वहीं छोड़ और राजाके कपड़े तथा आभूषण पहिन लिये। जैसा गया था वैसा ही वापिस आ गया। किसी पहरेदारकी हिम्मत नहीं हुई कि इसे चोर कह सके। सबने समझा कि यह कोई राजाका खास मिलनेवाला है इसलिए राजाने ही यह सब इसे प्रदान किये हैं। अन्तमें वह अश्वशालामें पहुँचा और मनुष्यसे कहा कि एक घोड़ा तैयार करो। वह भी चक्करमें आ गया। घोड़ा तैयार करने लगा और वह पासमें पड़े हुए पलंगपर लेट गया। रात बहुत हो गई थी अतः उसे नींद आ गई। सवेरा होनेपर राजाने देखा कि आज तो मेरी पोशाक तथा आभूषण वगैरह सभी कोई ले गया है। उसने पहरेदारोंसे कहा कि मूर्खो! तुम हमसे मन चाहा वेतन पाते हो पर इतनी रक्षा नहीं कर सके। तब पहरेदार बोले—महाराज और तो कोई आया नहीं। सिर्फ एक भला आदमी आया था जो सूरतसे राजपुत्र जैसा लगता था और कहता था कि मैं चोर हूँ चोरी करनेके लिए राजमहलमें जाता हूँ। उसी की करामात होगी। उसकी तलाश हुई तो अश्वशालाके पास

पलगपर लेटा हुआ सो रहा था। पहरेदार तथा मंत्री आदि सब वहां पहुंच गये, राजा भी पहुँच गया पर किसी की हिम्मत नहीं हुई कि उसे चोर कह सके। वह जागकर बोला कि मैं चोर ही हूँ और रातको आपके ही घर चोरी कर आया हूँ। यह सब सामान आपका ही तो है। पर वे बोले नहीं, एक समान और वस्तुएँ भी तो हुआ करती हैं मेरी वस्तुएँ और कोई ले गया होगा, कहीं चोर अपने मुँहसे कहता है कि मैं चोर हू। वह बोला नहीं नहीं मैं वास्तवमें चोर ही हू। उसकी बातसे राजा बड़ा प्रभावित हुआ और बोला, भाई चोर हो चाहे जो हो, मेरी एक लड़की है सो उसके साथ विवाह कर लो और आधा राज्य ले लो। वह बोला राज्य तो मैं छोड़कर आया हूं मेरे भी राज्य था। रही लड़कीके विवाहकी बात सो जिस साधुने मुझे सच बोलनेका नियम दिया था उससे जाकर पूछ लू कि साधु मुझ एक सच बोलनेसे इतना फल तो मिल रहा है कि चोरी करनेपर भी कोई मुझे चोर नहीं समझता। अब और क्या आज्ञा है? मुनिने कहा कि भाई तूने धर्मका नमूना तो देख लिया अब तुझे जैसा उचित प्रतीत हो सो कर। आत्माका भला चाहता है तो सब छोड और मेरे जैसा हो जा। उसे साधुकी बात जँच गई और स्वयं साधु बन गया।

सत्य आदि धर्मोंसे जिनका आत्मा पवित्र है उनके चरण जहाँ पहुँच जाते हैं वहीं तीर्थस्थान हो जाते हैं। जिस प्रकार अगस्त ताराके उदयमें गन्दला पानी स्वच्छ हो जाता है उसी प्रकार पवित्रात्माओंके संसर्गमें मलिन आत्माएँ भी निर्मल हो जाती हैं। कुन्दकुन्द स्वामीका कहना है कि परपदार्थोंको छोड़कर आत्माका ध्यान करो। आत्मा इतर पदार्थोंमें भटकता है उसका मूल कारण रागद्वेष है। यही आत्माको मलिन करते हैं। भेद विज्ञानसे अपने आपको पृथक् करना है। जब उसका कीचड मिट जाता है तब वह निर्मल हो जाता है। इसी प्रकार जब आत्मा-

के रागद्वेष मिट जाते हैं तब आत्मा निर्मल हो जाता है। पर द्रव्यकी इच्छा छोड़नेसे ही निस्पृह अवस्था प्राप्त होती है। पुस्तक आदिकी इच्छा भी परिग्रह ही है और वह दुःखका कारण है। मेरा ज्ञानार्णव हाथका लिखा हुआ सागरमें पन्नालाल जी सिलीचालाके यहाँ रखा था, मैं शाहपुरमें था। उनके यहाँ चोरी हो गई मुझे विकल्प हुआ कि वहाँ मेरी पुस्तक चोरी न चली गई हो। उन्हें दूसरा काम नहीं था फिर भी मैंने विद्याधरको सागर भेजा और कहा कि उन्हें सान्त्वना दे आना और हमारी पुस्तक लेते आना। निष्परिग्रह अवस्थामें किसी अन्य पदार्थकी आकांक्षा नहीं रहती। ममता स्नेह छूट जाता है। रामचन्द्रजी सीताके स्नेह के पीछे वन वन भटके। यहाँ तक कि रावणके वंश विध्वंसके कारण बने परन्तु जब सीताका राग छूट गया तब सीताके जीव प्रतीन्द्रने कितने उपद्रव किये पर वे रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए। भगवान् रामचन्द्रजी शुक्लध्यानमें लीन रहकर अन्तर्मुहूर्तमें केवली बन गये। इससे पता चलता है कि ये रागद्वेष मात्र ही सकल विपत्तिके मूल हैं। इनसे भेद ज्ञान करो—अपने आपको जुदा अनुभव करो। इस भेद ज्ञानकी महिमामें अमृतचन्द्रसूरिने लिखा है कि—

> 'भेदविज्ञानतः सिद्धा सिद्धा ये किल केचन।
> तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥'

अर्थात् आजतक जितने सिद्ध हुए हैं सब भेद विज्ञान से ही हुए हैं और जितने संसारमें बद्ध हैं वे भेदविज्ञानके अभावसे ही बद्ध हैं। इस धर्म उपदेशको बयाममें न टालो, इसे सिनेमा न बनाओ। भगवानके दर्शन करो और भावना भाओ कि मैं भी आपके ही समान हो जाऊँ। जिसने वीतरागताका अनुभवकर लिया उसे विषय वासनामें आनन्द नहीं आ सकता।

'तिलतैलमेव मिष्ट येन न दृष्ट घृत क्वापि ।
अविदितपरमानन्दा वदति विषयमेव रमणीयम् ॥'

जिसने कभी घी नहीं खाया उसे तिलका तेल ही मीठा लगता है इसी प्रकार जिसने आत्मसुखका अनुभव नहीं किया वह विषय सुखको ही रमणीय मानता है।

'जिस नाहीं चाखो मीसरी तिसको कचरा मिट्ठ'

जिसने मिश्री नहीं खाई उसे कचरा ही मीठा लगता है

एक साधु थे। पैदल चलते चलते उनके पैर सुरदरे हो गये। एक बार एक गृहस्थको उनके पैर धोनेका अवसर आया तो वह इन सुरदरे देख कुछ आश्चर्य करने लगा। साधुने कहा अरे मूर्ख तूने अब तक स्त्रियोंके पैर पलोटे हैं साधुके पैर नहीं पलोटे। इनकी सेवा करनेका अवसर तुझे नहीं आया।

संसार बड़ी भयंकर चीज है इसमें बड़े बड़े डर गये। देखो भगवान् आदिनाथ भी इस संसारसे डर गये। वे ही स्त्रियों तो उनके थीं पर उन्हें छोड़कर जंगलमें जा छिपे। अस्तु कहनेका सार यह है कि मोह एक ऐसी चीज है कि अच्छों अच्छों के छक्के छुड़ा देता है। अतः और कुछ न छोड़ो तो मोहको छोड़कर आओ।

५

आज शौचधर्मका व्याख्यान आपने सुना। शौचधर्म आत्माकी पवित्रताको कहते हैं। यह पवित्रता लोभ कषायके अभावमें प्रकट होती है। लोभ बुद्धि समस्त अनर्थोंका मूल कारण है। लोभ विविध प्रकारका होता है। किसीको धनका लोभ है, किसीको पदका लोभ है, किसीको यशका लोभ है, पर दर असल विचार करो तो सभी लोभ छोड़ने योग्य हैं। मैं तो एक बात आपको सुनाता हूँ और अधिक जानता भी नहीं। व्याख्यान विद्वान् लोग देते हैं पदार्थमें कुछ जानता नहीं सिर्फ आप लोगोंकी अवस्था मुझे बड़ा बना रही है।

गाँवमें बहूरानी रहती थी। उसका पति था। सन्तान कुछ नहीं थी। और सम्पत्ति डेढ़ दो लाखकी थी। जब उसका पति बीमार पड़ा तो सब लोग खबर लेने आये। बीमारीकी हालत देख यह निश्चय हो गया कि यह बचनेवाले नहीं हैं तब रातके प्रारम्भमें ही बहूरानीने सबसे कह दिया कि आप लोग अपने अपने घर जाइए अब रातका समय है। इन्होंने औषधि वगैरहका त्याग कर दिया है जब मरण होगा तब देखा जायगा। मैं रातभर स्मरण सेवा करूँगी। यह कह गाँवके सब लोगोंको विदा कर दिया और किवाड़ अन्दरसे बन्द कर लिए। रातको दो बजे पतिका मरण हो गया पर वह घबड़ाई नहीं और न रोई ही। राज्यका कायदा था कि जिसके सन्तान नहीं होती थी उसकी सम्पत्तिपर राज्य कब्जा कर लेता था सिर्फ औरतको परवरिशके लिये कुछ देता था। बहूरानीने विचार किया कि हमारी सम्पत्तिका भी यही हाल होगा इसलिए दान करा दिया जाय तो अच्छा है। ऐसा सोच उसने अपनी सम्पत्ति निकालकर आँगनमें इकट्ठी की। सोना चाँदी आदि जो भी था सब इकट्ठा कर लिया। लगभग लाख डेढ़ लाखकी सम्पत्ति होगी। सबके ऊपर उसने चावल हल्दी मिलाकर छिड़क दी तथा एक वस्त्र सबपर ढाँक दिया। रात्रि शान्तिसे बिताई। प्रातःकाल सबको खबर लग गई। राज्यमें भी खबर हो गई, थानेदार तथा पुलिस आदि आ गई। बहूरानीने अपने कोठोंपर पुलिसके ताले लगवा दिये। जब पतिका दाह संस्कार हो चुका तब उसने कहा कि मेरी सम्पत्ति अधिक है अतः दीवान साहबको बुला लीजिये। दीवान साहब पहुँच गये। मकानके कोठों तथा तिजोरियोंके ताले जब खोले गये तब कुछ नहीं निकला। पुलिसने कहा कि तुम्हारे तो अधिक सम्पत्ति थी क्या हुआ? उसने कहा कि हुआ कुछ नहीं। आप लोगोंको कष्ट न हो इसलिये मैंने निकालकर स्वयं इकट्ठी कर दी है इसे आप ले जाइये। जब वस्त्र उघाड़कर देखा

गया तो उसपर चावल और हल्दी छिड़का हुआ था। दीवानने यह देखकर पूछा कि यह सब क्या है? तब उसने कहा कुछ नहीं मरनेके पहले हमारे पति इस सम्पत्तिका दान कर गये हैं। संकल्पके लिये हल्दी चावल छिड़क गये हैं। आप लेना चाहें ले जावें। मेरे घरसे तो जाना ही है। दीवानने राजाके पास खबर भेजा तो उत्तर आया कि दान की हुई सम्पत्ति लेकर राजा क्या करेगा। उसकी व्यवस्था बड़गैनीकी इच्छानुसार कर दी जाय।

देखिए दानकी भावनासे उसकी सब सम्पत्ति बच गई। उसने पपौरामें बड़ा भारी मन्दिर बनवाया। आप सबने देखा होगा। उसके हृदयकी विशुद्धता इतनी ही नहीं थी। जब पंच कल्याणक प्रतिष्ठा हुई तो पपौरामें इतनी भीड़ हुई कि सब कुओंका पानी समाप्त हो गया। तमाम मेलामें पानीके बिना त्राहि त्राहि मच गई। प्रतिष्ठाचार्य सब जपनेकी बात कहने लगे। बड़गैनीने कहा कि अब तो मैं जपूँगा। आप क्या जपेंगे? मुझे कुएमें उतार दिया जाय, लोगोंने उसका आग्रह देख पलंग पर बैठाकर उसे कुएमें उतार दिया। वहाँ जाकर उसने अच्छे हृदयसे परमात्माका स्मरण किया और कहा कि जब तक मेलाके सब कुए लबालब नहीं भर जाते हैं तब तक मैं यहाँसे उठनेकी नहीं। भैया! उसकी विशुद्धताके प्रभावसे कुँआ भर गया और उसका पलंग ऊपर आ गया। वहाँ एक कुँआ क्या मेलाके सब कुए भर गये। बात अधिक पुरानी नहीं है। बात कहनेका यह है कि शौच नाम पवित्रताका है और पवित्रतामें जो न हो जाय सब थोड़ा है।

आशा मात्र दुःखदाई है। जबतक योगी जगत्से कुछ पानेकी आशा रखता है यहाँ तक कि मान सम्मान पानेकी भी इच्छा रखता है तब तक वह योगी नहीं—

'जब तक जोगी जगद् गुरु, जगसे रहे उदास।
जब जग से आशा करे, जग गुरु जोगी दास।।'

जब योगी जगत्से कुछ पानेकी इच्छा रखता है तो वह दास हो जाता है और जगत् गुरु हो जाता है।

लोग विद्वानोंकी आलोचना करते हैं पर जबसे बड़े आदमियोंने विद्वानोंका आदर करना छोड़ दिया तबसे समाज नष्ट भ्रष्ट हो गया। एक अक्षरका देनेवाला गुरु कहलाता है। फिर जो रात दिन तुम्हें ज्ञानदान देते हैं उनके प्रति तुम्हारा अनादर रहे यह बड़े दुःखकी बात है। टीकमगढ़में रामबक्स सेठके यहाँ पंचकल्याणक प्रतिष्ठा थी। प्रतिष्ठाके लिये पं० भागचन्द्र जी बुलाये गये। जब वे टीकमगढ़ पहुँचे तो सेठ रामबक्सने पूछा कि महाराज कैसी रसोई बनवाई जाय कच्ची, पक्की या कच्ची पक्की? पण्डित जीने कहा न कच्ची न पक्की न कच्ची पक्की। तब सेठने कहा फिर आपकी रसोई कैसी बनती है? पण्डित जीने कहा, भाई बात यह है कि हम जिसके यहाँ पञ्चकल्याणक होते हैं उसके यहाँ भोजन नहीं करते। पण्डितजीका उत्तर सुनकर सेठने अपने मुनीमसे कहा कि जहाँ जहाँ प्रतिष्ठाकी चिट्ठियाँ दी गई हैं वहाँ वहाँ दूसरी चिट्ठियाँ लिखकर भेजो कि अब प्रतिष्ठा नहीं होगी। जो घास इकट्ठी की गई है वह गायोंको खिला दो और जो भोजन सामग्री तैयार की गई है वह भी गरीबोंको बाँट दो। पण्डितजी ने कहा—ऐसा क्यों? तब सेठने कहा कि जब आप गुरुजन ही हमारे यहाँ भोजन नहीं करते तब दूसरे गरीब लोगोंने क्या बिगाड़ा है? उसका प्रायश्चित कौन करेगा? इससे अच्छा तो यही है कि मैं प्रतिष्ठा ही नहीं कराऊँ। सेठकी बात सुनकर पण्डितजी चुप रह गये और बोले अच्छा रसोई बनवाओ। सेठने फिर पूछा कच्ची, पक्की या कच्ची पक्की? तब पण्डितजीने कहा भाई यह कुछ न पूछो, चाहे जैसी बनवाओ। पण्डितजीने बड़ी प्रसन्नतासे भोजन किया। प्रतिष्ठाका कार्य पूरा हुआ तब सेठ पण्डितजीकी विदाई करने लगे। पण्डितजी बोले यह क्या कर रहे हो? मेरे तो कुछ

लेनेका त्याग है। सेठने कहा यदि आपने त्याग है तो इन प्रतिष्ठा ग्रन्थोंमें क्यों लिखा कि प्रतिष्ठाचार्यका सत्कार करना चाहिये। आप इन्हें दान दीजिये। फिर लेनेका त्याग है दानका त्याग तो नहीं है? आप अपने घरकी सम्पत्तिका दानकर दीजिये पर इसे तो आपको लेना ही पड़ेगा। पण्डित जी चुप रह गये और सेठने तथा गाँववालोंने उनका अच्छा सम्मान किया। आप लोग तो सम्मान करना दूर रहा उल्टा परेशानीमें डालते हैं। समयकी बलिहारी है।

तत्त्वदृष्टिसे धर्म क्या है? इस ओर हम लोग विचार नहीं करते। वास्तवमें राग द्वेषकी निवृत्ति ही धर्म है। उसीसे आत्माकी पवित्रता होती है। शौच मुनियोंका धर्म है। न्हवन स्नान से क्या प्रयोजन? गृहस्थको प्रयोजन अवश्य है पर वह भी स्नानमें आत्मशुद्धि नहीं मानता। बनारसके मणिकर्णिका घाट पर एक बार लोकमान्य तिलकका व्याख्यान हो रहा था। व्याख्यानमें उनसे कह आया 'गङ्गास्नानात् मुक्तिः' अर्थात् गङ्गा स्नानसे मुक्ति होती है। पास ही में एक पंडा बैठा था। बोला, महाराज इसका क्या अर्थ है। तब तिलकजीने कहा 'गङ्गास्नानात् शरीरिकमलमुक्तिः' अर्थात् गङ्गाजीमें नहानेसे शरीरका मल छूट जाता है न कि आत्माका। पंडा उनकी व्याख्या सुनकर बहुत खुश हुआ। उसी सभामें एक शास्त्री विद्वान था वह बोला इस तरह तो आप शास्त्र विरुद्ध अर्थ कर रहे हैं। पंडा बीचमें ही बोल उठा शास्त्रीजी पहले हमसे निपट लो बादमें तिलकजी से। इन्होंने जो अर्थ किया है बिल्कुल ठीक किया है। मेरा तीन पेढ़ी गङ्गा स्नान कर चुकी और मैं भी कर रहा हूँ पर आज तक मेरे मनका पाप नहीं गया। यात्रियोंसे नाना यत्न पैसा ऐंठनेका लोभ नहीं ... मुक्ति होना दूर रहा, अतः गङ्गास्नानसे शरीरका ही ... न कि आत्माका। विद्वान चुप रह

जैनधर्म तो कहता है 'सम्यग्दर्शनज्ञानप्रधानाच्चारित्रान्मुक्तिः' अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे युक्त सम्यक्चारित्रसे ही मुक्ति होती है। जब तक प्रतिपक्षी राग बैठा रहता है तब तक मुक्तिकी प्राप्ति असम्भव है। देखो, छठवें गुणस्थानमें जो सञ्ज्वलनके तीव्रोदयमें होनेवाला राग मौजूद रहता है वही तो उसे प्रमत्त बनाये है और प्रमत्त होनेका फल ही शास्त्रादिकी रचना है। मैं तो भावना करता हूँ कि हे भगवन्! मेरा आपके दर्शन विषयक राग भी नष्ट हो जाय तो मेरा भला हो जाय। मैत्री प्रमोद कारुण्यादि भावनाएँ भी तो इसी रागका फल हैं। 'दुःखानुत्पत्त्यभिलाषो मैत्री' दुःखकी उत्पत्ति नहीं होना मैत्री है। यहाँ अभिलाषा कषायकी मन्दतामें होती है जो कि संवरका मार्ग न होकर आस्रवका मार्ग है। खाली निर्जरा संसारके यावन्मात्र जीवोंके होता है परन्तु संवर पूर्वक नहीं होनेके कारण उससे लाभ नहीं। 'आस्रवनिरोधः संवरः' आस्रवका निरोध हो जाना संवर है। मनुष्यका कल्याण मनुष्यकी आत्मासे ही होता है, ये तो उसमें निमित्तमात्र होते हैं। मनुष्य पर्याय पा लेना दुर्लभ नहीं परन्तु उससे मनुष्योचित काम ले लेना दुर्लभ है अतः ऐसे कार्य करो जिससे जीवन सफल हो सके।

(सागर १९-८-५२)

६

संयम धर्मका वर्णन महाराजने कर दिया और आप लोगोंने शान्तिसे सुन लिया। यथार्थमें संयम ही आत्मकल्याण करनेवाला है। सब तरफसे चित्तवृत्तिको हटाकर अपनेमें लगना सो संयम है। संयमका लक्षण लिखते हुए शास्त्रकारने कहा है—

'वदसमिदिकसायाणं दंडाणं तहिंदियाण पंचण्हं।
धारणपालणणिग्गहचागजओ संजमो भणिओ ॥'

अर्थात् अहिंसादि व्रतोंका धारण करना, समितियोंका पालन

करना, कषायोंका निग्रह करना, मन वचन कायकी प्रवृत्तिका त्याग करना और पाँच इन्द्रियोंका जय करना संयम है।

छहढालामें भी लिखा है—

'षटकाय जीव न हनन ते सबविधि दरवहिंसा टरी'

रागादि भाव निवारतें हिंसा न भावित अवतरी।'

षट्कायिक जीवोंकी रक्षा करना सो द्रव्य अहिंसा है और रागादि परिणामोंका अभाव होना सो भाव अहिंसा है। जैनधर्ममें अहिंसाका बड़ा विशद लक्षण कहा गया है।

'अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।

तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥'

अर्थात् रागादि भावोंका उत्पन्न नहीं होना सो अहिंसा है। आज लोकमें जो अहिंसा प्रचलित है। वह तो दया है अहिंसा नहीं है। जहाँ रागादिकी निवृत्ति है वहां धर्म है, दान देनेसे लोभका त्याग होता है इसलिये उसके साथ चारित्र है और चारित्र ही धर्म है। सम्यग्दृष्टि जीव जितनी प्रवृत्ति करता है उतनी अशुभोपयोगकी निवृत्तिके लिये करता है। आप लोग, अधिक नहीं तो इतना ही नियम कर लो कि जितनी देर यहाँ बैठे हैं उतनी देरके लिये हिंसा परिणाम नहीं करेंगे।

'जिनके न लेश मृषा न' अर्थात् जो रंचमात्र भी असत्य भाषण नहीं करते हैं उनके सत्यमहाव्रत होता है। यथार्थमें झूठ ही क्यों संसारके समस्त पापोंका मूल कारण रागादि ही है। एक मनुष्य स्त्रीको छोड़कर साधु हो गया। स्त्रीने मनमें विचारा कि इनकी परीक्षा तो करूँ कि ये सचमुच ही साधु हुए हैं या बनावटी। ऐसा विचारकर वह उनके पास पहुँची और तरह तरहके हावभाव दिखलाने लगा। भरसक प्रयत्न किया उसे विचलित करनेका पर वह विचलित नहीं हुआ। अब उसकी समाधि पूर्ण हुई तो बोला

देखि। यह चीज तो खतम हो चुकी है जिसपर तुम्हारे हावभाव का असर होता था।

'न जल मृण हू बिना दीयो गहै' जो जल और मिट्टी भी बिना दिये ग्रहण नहीं करते हैं उनके अचौर्य महाव्रत होता है। जब तक मनुष्य पर पदार्थको अपना मानता रहता है तब तक उसका चाहापन कहाँ जाता है? वह तो उसके पास रहता है इसलिये चोरी पापसे बचना है तो परको अपना मानना छोड़ दो।

'अठदश सहसविधि शीलधर चिद्ब्रह्ममें नित रम रहें' अठारह हजार शीलके भेद हैं उन्हें जो धारण करते हैं उनके ब्रह्मचर्य महाव्रत होता है। प्रेममात्र ब्रह्मचर्यका विघातक है। मनकी चंचलता रोकनेसे ब्रह्मचर्य व्रतकी रक्षा होती है। जिसने मनको छुट्टी दे रखी है वह ब्रह्मचर्यका क्या पालन करेगा? किसीने लिखा है—

'मनो नपुंसकं ज्ञात्वा मायासु प्रेषितं मया।
तत्तु तत्रैव रमते हताः पाणिनिना वयम्॥'

संस्कृत व्याकरणमें मनको नपुंसक लिङ्ग कहा है सो मैंने मनको नपुंसक समझ स्त्रियोंमें भेजा परन्तु वह वहाँ ही रमण करने लगा। महर्षि पाणिनिने मुझे बड़ा धोखा दिया। यदि वे अपनी व्याकरणमें उसे नपुंसक न लिखते तो मैं कैसे भेजता। मनको स्थिर रक्खो और कुसंगतिसे बचो। फिर ब्रह्मचर्य धारण करो सरलतासे उसका पालन हो जावेगा। ब्रह्मचर्यकी महिमा अपरम्पार है। आत्माका आत्मामें लीन होना सो ब्रह्मचर्य है। मनको यदि स्त्रियोंमें भेजते हो तो मन नपुंसक है और स्त्री शब्द स्त्रीलिङ्ग। उनका मेल कैसे खायगा? यदि पुरुषोंमें भेजते हो तो पुरुष शब्द पुल्लिंग है दोनोंका मेल कैसे रहेगा। इसलिये मनको ब्रह्ममें भेज दो अर्थात् ब्रह्ममें लगा दो तो उनका मेल बन जायगा क्योंकि मन नपुंसक लिङ्ग है और ब्रह्म भी नपुंसक लिङ्ग है। समान समान लोगोंका

हो प्रेम बढता है ऐसा प्राय देखा जाता है।

'अन्तर चतुर्दश भेद बाहर सग दशधा तें टलें' जो चौदह प्रकारके अन्तरङ्ग और दश प्रकारके बहिरङ्ग परिग्रहसे दूर रहते हैं उन्हींके परिग्रहत्याग महाव्रत होता है। ससारमें अनुभव करके देख लो कि परिग्रहमें क्या सुख है? मुझे तो रचमात्र भी सुख नहीं मालूम होता। परिग्रह सुखदायी है यह लोगोंकी कल्पना मात्र है। अधिक परिग्रहकी बात जाने दो एक मात्र लगोटीका परिग्रह भी दु खदायी होता है।

एक साधुके पास लगोटी थी। उसे अवसर चूहा कुतर जाया करता था अत चूहा भगानेके लिये उसने बिल्ली पाल ली। बिल्लीके लिये दूधकी आवश्यकता पडी इसलिये एक गाय रख ली। गाय थी उसका बछा था इन सबकी देखभाल कौन करे? इसके लिये एक दासी रख ली, एक बार साधु किसी दूसरे गाँव जाने लगा। उसके सब पदार्थ उसके साथ हो लिये। जब नगरमें पहुँचा तो वहीं दासी उसका हाथ पकडती है तो कहीं बिल्ली हाथ पकडती है और कहीं गायका बछडा पीछे लगता है। यह सब देख साधु घबडा गया और बोला यह सब ढाप इस लगोटीका है अत लगोटी छोड़नेमें ही सुख है।

महाराजने सयम धर्मका वर्णन किया है। आप गृहस्थ हो, सुनकर यों ही न रह जाओ। कमसे कम सयमका इतना पालन तो अवश्य करो कि जब सारे धर्म कर्मका नशा आ जाय तब उसका ससर्ग छोड दिया जाय, आजकल मनुष्य कैसे निर्दय और दुष्ट हो गये हैं कि स्त्रीके धर्म रहा आ जाता है फिर भी विषयोपभोग करते जाते हैं। यही नहीं जबतक बच्चा माँका दूध पीकर पुष्ट न हो जाय तबतक स्त्रीका समागम न करो। इसप्रकार निर्बल और निस्सार सन्तान पैदा कर समाज और देशका क्या भला करोगे? किसीका लीवर बढ रहा है, किसीकी आँखें दु ख रही हैं, कोई मुखामें सूख

रहा है फिर भी समान वेश किये ही जाते हैं। सिंहनीके एक बच्चा होता है, उससे वह सुखसे भाता है और गधीके अनेक बच्चे होते हैं पर जिन्दगी भर उसे भार ही ढोना पड़ता है। हम कपड़ेवाले हैं। हमारी बात न मानो पर महाराज तो दिगम्बर हैं इनका प्रभाव तो दूसरा ही होता है अतः इनकी बात मान जाओ।

यह पाँच महाव्रतका वर्णन हमने आपको बतलाया। सो महाव्रती ही बन सकते हों सो बात नहीं। अव्रती लोग संयमी भले ही न कहलावें पर मरकर देव तो हो सकते हैं। जैनधर्मके अनुसार अव्रती भी देवायुका बन्ध करते हैं। जब यहाँ शान्ति सागर महाराजका संघ आया था, तब मैं भी उनके पास गया था। महाराजने मुझसे कहा कि मुनि हो जा। मैंने कहा महाराज मैं बार बार पानी पीनेवाला दो बार भोजन करनेवाला निर्बल व्यक्ति हूँ इस महान् भारको कैसे धारण कर सकता हूँ? तब उन्होंने कहा अभ्याससे सब हो जावेगा। मैंने कहा महाराज! आज कलके मुनि मरकर कहाँ जावेंगे? उन्होंने कहा स्वर्ग जावेंगे। फिर मैंने कहा ऐलक क्षुल्लक ब्रह्मचारी तथा अन्य श्रावक कहाँ जावेंगे? उन्होंने कहा स्वर्ग जावेंगे। फिर मैंने पूछा और महाराज ये अविरत सम्यग्दृष्टि जीव कहाँ जावेंगे? उन्होंने कहा ये भी स्वर्ग जावेंगे। मैंने कहा तो महाराज! फालतू कष्ट क्या सहें? स्वर्ग तो वैसे ही मिल जावेगा (हँसी) सुनकर महाराज हँस गये।

कहनेका मतलब यह है कि अव्रती भी रहें पर अन्याय न करें।

(सागर ३०-८-५२)



आज तप धर्मका वर्णन है। 'इच्छानिरोधस्तपः' उसका लक्षण है। जिसने अपनी बढ़ती हुई इच्छाओंको रोक लिया वही तपस्वी

वर्णी प्रवचन

है। अष्टावक्र [illegible] हो सो दो पर उपाय

'विहाय [illegible]

कामरूपी [illegible] । जहाँमें

इन दोनोंको [illegible] छोड़ो और [illegible]

है उसका सारतत्त्व [illegible] पुरुषार्थ जो मोक्ष [illegible] बड़ी [illegible] स्त्रियाँ

अर्थ काम और [illegible] विषयमें

आवश्यकता नहीं। [illegible] तुझे इनका [illegible] थी। [illegible] वह

आज तक किसीका [illegible] अर्थके द्वारा [illegible] एक

कहा कि अपने-अपने [illegible] हुई थीं

हो जाय फिर भी [illegible] यही

किसीको तृप्ति नहीं [illegible] इसी प्रकार कामसे [illegible] देखा

भोग करते हुए [illegible] सतत यदि विषय [illegible] लोग

तो कहो। इसी प्रकार [illegible] तृप्ति हुई हो [illegible] आग

फलकी प्राप्ति हुई [illegible] नहीं होगा। [illegible] से हैं।

जाता है। इसमें [illegible] उत्पन्न [illegible] , और

सुख प्राप्तिके साधन [illegible] न द्वन्द्व

प्राप्त करनेके लिए [illegible] न जुदी

'येन दृष्टं [illegible]

[illegible] परब्रह्म है वही [illegible] चिंतयेत्' अध्यात्म

है ऐसा चिंतवन [illegible] में [illegible] भी अंतर नहीं [illegible] होने

अंतर क्या है? [illegible] अपना और [illegible] र कैसे

ब्रह्म कर्म रहित है। [illegible] कर्म सहित है [illegible]

कालिमादिसे सहित है [illegible] और [illegible] सोना [illegible] प है,

दिन भगवान् भगवान् [illegible] ही है। [illegible] सुख

समझते। [illegible] भगवान्के [illegible] और

[illegible] जो गुरु [illegible]

तो भगवान् है। निश्चिन्त होकर रात दिन क्या नाचते रहते हो? सबसे हटकर अपने आपको देखो। हम मुलट जावें तो सब मुलट जाय। अपने आपको मुलटाना ही सबसे बड़ा कठिन काम है। जो स्वयं मुलट जाता है उसका तो प्रभाव ही विलक्षण हो जाता है। वह स्वयं शब्दोंमें कुछ न कहे तो भी उसकी शरीरकी शान्त मुद्राको देखकर दूसरे लोग मुलट जाते हैं।

लोभ और कषाय (विषय और कषाय) संसारको बढ़ानेवाले हैं। इन्हें छोड़कर संसारको बढ़ानेवाला और कोई नहीं। लोभ और कषायको रोक लिया सो ही तप है। अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग आदि तपके भेद हैं। इन्हें कोई भले ही करे पर कषायका अभाव न हो तो इनका करना व्यर्थ है। शुक्लध्यानकी प्राप्ति कषायके अभावमें ही होती है। पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक प्रथम पायेमें यद्यपि कषायका सद्भाव रहता है पर संज्वलनका अत्यन्त मन्द उदय रहता है। इसमें ध्यानमें बाधा नहीं पड़ती। द्वितीयादि भेदोंमें किसी भी कषायका सद्भाव नहीं है। ध्यान कषायके अभावमें होता है और कषायका अभाव चारित्र कहलाता है इसीलिए ध्यानको चारित्रकी पर्याय कहते हैं न कि ज्ञानकी। जिन्हें तप करना है व इससे न डरें कि हम उपवास करना पड़ता है। देखो, भरतको कब उपवास करना पड़ा। दीक्षा लेनेके बाद अन्तर्मुहूर्तमें ही केवली हो गये। भगवान् आदिनाथको एक वर्ष तक अनशन करना पड़ा। छः माहका बुद्धि पूर्वक अनशन था और छः माहका आहार न मिलनेसे हो गया। एक हजार वर्ष तक तपस्या इन्हें करनी पड़ी तब केवली हो सके परन्तु भरत अन्तर्मुहूर्तके भीतर केवली बन गये। इसका यही तो अर्थ है कि भरतके कषायका अभाव जल्दी हो गया और भगवान् आदिनाथके बादमें हुआ। इतना निश्चित समझो कि जब भी कल्याण होगा तब कषायके अभावसे ही होगा। आप लोग परिग्रही जीव हैं सो मैं

किसीका परिग्रह नहीं छुडाता। आप एक धाग [illegible] बाँध लो और एक अँगूठी पहने हो सो [illegible] पहिन लो [illegible] छोड दो।

दीनमगनका किस्सा है एक स्त्रीका पति [illegible] लौटत वक्त यह सोना लाया। स्त्रीने कहा इसका [illegible] दो। पुरुषने स्त्रीकी इच्छानुसार चूडियाँ बनवा दीं। [illegible] शौकसे अपनी भुजाम पहिन लीं। उसकी इच्छा थी कि [illegible] इह देखकर मेरी प्रशंसा करें पर किसी स्त्रीने [illegible] कुछ पूछा भी न था। एक दिन उसने अपने घरमें [illegible] लोग बुझानेको आये स्त्रियाँ भी ममवदनाके लिए [illegible] चूडियोंवाला हाथ चलाती हुई सबके साथ [illegible] स्त्रीने इसी भीड भाडमें पूछ लिया कि ये चूडियाँ [illegible] बडी अच्छी हैं। सुनकर वह स्त्री बोली [illegible] बात पूछ लेती तो मैं घरमें आग क्यों [illegible] (हँसी)। [illegible] अपनी कषायसे ही तो उसने घरमें आग [illegible]। आप लोग भी तो इसी प्रकार अपने घरमें अपनी [illegible] आग लगाये रहते हैं और इससे [illegible] तापसे [illegible] रहते हैं।

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, धर्म, अधर्म [illegible], काल, और अध्यवसान भाव इनसे अपनेको भिन्न समझो। [illegible] कुन्दकुन्द स्वामीने लिखा है कि शास्त्र जुदी चीज है और ज्ञान जुदी चीज है शब्द जुदी चीज है और ज्ञान [illegible]। अध्यवसान भाव भी तुम्हारा नहीं है क्योंकि [illegible] निमित्तसे होने वाला एक प्रकारका विकार ही तो है। [illegible] समझा जा सकता है।

'जीव एव एक ज्ञानम्' [illegible] क्योंकि ज्ञानके साथ जीवका [illegible] है। [illegible] और वीर्य भी आत्मासे [illegible] हैं। पहले

जिनसे अभिन्न स्वस्वरूपका जो ध्यान करता है उसीसे प्रव्रज्या सिद्ध होती है। प्रव्रज्या संन्यासको कहते हैं और जिसके प्रव्रज्या होती है वह परिव्राजक कहलाता है। 'परित: सर्वान् त्यक्त्वा यः व्रजति स परिव्राजकः' अर्थात् जो सबको छोड़कर आत्माका ध्यान करता है वह परिव्राजक है। क्षमा आदि दशों धर्म परस्परमें एक दूसरेमें सम्बद्ध हैं इनमें क्षमा धर्म प्रकट हुआ कि मार्दव आदि नौ धर्म अपने आप प्रकट हो जाते हैं।

कुन्दकुन्द स्वामीने प्रवचनसारमें 'कर्ता करण कर्म और ज्ञान' ये चार बातें बतलाई हैं सो सभी आत्माके परिणमनको लिये हुए हैं अतः आत्मरूप हैं।

एक बात है जिसे आप सागरवालोंसे कहना चाहता हूँ मनमें हो करना, नहीं, छोड़ देना। बात यह है कि आपके यहाँ जितना रुपया मासिक खर्च होता है, उतने पैसा दानमें दे दो। इससे आपकी सब संस्थाएँ चल सकती हैं कहो भाई! मंजूर है।

१-६-५२



समय हो गया है। पण्डितजी ने (पं० दयाचन्द्रजी ने) आपके सामने अच्छा विवेचन कर दिया और समगौरयाजी ने भी सबका सब उड़ेल दिया है। हम क्या कहें? हम दानके विषयमें अपनी दो-चार बात कहते हैं। वास्तवमें जैनधर्ममें त्यागके सिवाय दूसरा उपदेश ही नहीं है। सर्व प्रथम मिथ्यात्वके त्यागका उपदेश है फिर हिंसा आदि पापों, पञ्चेन्द्रियोंके विषयों और क्रोधादि कषायों के त्यागका उपदेश है। त्याग पर पदार्थका हो तो होता है। स्व वस्तुका कोई क्या त्याग करेगा? पण्डित ठाकुरप्रसादजी थे जिनके पास मैं पढ़ता था। व्याकरण और वेदान्त दो विषयके आचार्य

थे। उनकी प्रथम पत्नीका देहान्त हो गया था अत ४० वर्षकी उमरमें उनका दूसरा विवाह हुआ। उनकी यह स्त्री बडी उदार और शान्त प्रकृतिकी थी। उस समय पंडितजी आगरा कालेजमें प्रोफेसर थे। वहाँसे ५०) मासिक उन्हें मिलता था। वे उनमें से अपनी स्त्रीको १०) मासिक देते थे। उसके हाथमें ( ) आये कि उसने पूरा पड़ौसमें जो गरीब हुआ उसे बाँट दिये। पण्डितजी को फिर १००) मासिक मिलने लगा तो वे उसे २०) मासिक देने लगे। वह भी यह पहलेकी तरह गरीबोंको एक दिनमें बाँट देती थी। पण्डितजीने उससे कहा कि यह रुपये तो मैं तुम्हें देता हूँ तुम दूसरोंको बाँट देती हो? पण्डितजी की बात सुनकर वह कहती कि आप आखिर मुझे देते हैं न? मैं जो चाहे सो करूँ। यदि आप न देना चाहें तो न देंगे। पंडितजी चुप रह जाते। कुछ समय बाद वे जोधपुर महाराजाके यहाँ चले गये और वहाँ उन्हें ५००) मासिक मिलने लगा। उनमेंसे वे स्त्रीको १००) मासिक देने लगे पर वह पहलेकी भाँति ही चार दिनमें बाँटकर खतम कर देती। एक दिन पंडितजी २००) की बनारसी साड़ी लाये। स्त्रीने कहा यह किसके लिये लाये हो। पण्डितजीने कहा तुम्हारे लिये लाया हूँ। तब स्त्रीने कहा यह मुझे शोभा नहीं देता। यह किसी महारानीको शोभा देती अथवा वेश्याको। मैं तो एक ब्राह्मणकी लड़की हूँ। २) की दुपट्टी ही मुझे अच्छी लगती है। पण्डितजीने कहा कि अब तो आ चुकी। इसका क्या होगा? उसने कहा, होगा क्या? किसीको दे दो। यह कहकर उसने अपनी नौकरानीको बुलाकर दे दी। वह लेनेसे सकुचाई तो इसने कहा सकुचानेकी क्या बात है? इसे पहिनना नहीं। पण्डितजीसे कहा कि जाओ इसे १०) के घाटेसे वापिस कर आओ। पण्डितजी वापिस कर आये। अनन्तर उसने उन रुपयोंसे नौकरानीको एक जमीन खुला दी जिससे उसकी रक्षा होने लगी।

धीरे धीरे पण्डितजीकी आयु ५० वर्षकी हो गई और उनकी २६ वर्षकी। इस बीचमें उनके एक लड़का और एक लड़की उत्पन्न हुए। एक दिन पंडितजी बैठे थे, उसने जाकर कहा। कहो पण्डितजी! क्या मजा लगा। आप तो वेदान्तके आचार्य हैं, आपसे क्या कहूँ? आप ५० वर्षके हो गये। २ सन्तान पैदा हो गईं अब तो विषय सम्बन्ध छोड़ो। पण्डितजी निरुत्तर हो गये, उनसे कुछ कहते नहीं बना। वह जाकर पण्डितजीकी गादीपर जा बैठी और बोली आप छोड़ो चाहे न छोड़ो, मैं तो धाय पुत्री, आप पिता हैं और मैं पुत्री हूँ। पण्डितजीने प्रभावित होकर उसके पैर पकड़ लिये और कहने लगे—माँ तुमने मेरी आँखें खोल दीं! तुम धन्य हो। उस समयसे दोनों ब्रह्मचर्यसे रहने लगे। २६ वर्षकी स्त्रीका इतना त्याग होना आश्चर्यमें डालनेवाला है।

वास्तवमें जो विषय कषाय छोड़ देता है वह संसारका कल्याण कर देता है। पर पदार्थका क्या छोड़ना? वह तो छूटे हुए ही हैं। सच्चा त्याग अपने विषयोंका छोड़ना है। धन और ज्ञान दोनों एक समान हैं। धन पाकर जिसने दान नहीं किया उसका धन निरर्थक है और ज्ञान पाकर जिसने दूसरोंका अज्ञान नष्ट नहीं किया उसका ज्ञान निरर्थक है। इस वास्ते इन पण्डितोंने जो व्याख्यान दिया उसे श्रवणकर विषयाभिलाषाको छोड़ो, परिग्रहकी ममता दूर करो। अनेक पाप हैं लेकिन सबसे बड़ा पाप परिग्रह ही है। यह मनुष्यके मनको चंचल बना देता है। इसकी दशा गुड़के समान है। एक बार गुड़ने सोचा कि जो देखो वही मुझे खा जाता है यदि सूखा होता हूँ तो डलीको डली लोग खा जाते हैं, यदि कुछ गीला हो जाता हूँ तो पकवान बनाकर लोग खा लेते हैं और यदि अधिक पतला हो गया—राब बनकर बहने लगा तो तमाखू पीनेवाले गुड़ाखू बनाकर पी जाते हैं इस प्रकार

तो संसारमें जीना बड़ा कष्टका है। एक भिखारी परमेश्वरके सामने गया और बोला—भगवन् आप तो सबकी रक्षा करने वाले हैं। मैं भी मन्दिरमें एक हूँ अत मेरी भी रक्षा करो, तो देखा वहीं मुझे जल्द कर जाना है। उसकी प्रार्थना सुनकर परमेश्वर चुप हो रहे। पाँच मिनट बाद उसने फिर पूछा महाराज क्या आज्ञा होती है, तब परमेश्वरने कहा तो भाग जा, तुझे देख मेरे मुँहमें भी पानी आ गया (हँसी)। सो भैया परिग्रह ऐसी ही चीज है। सबके मनको लुभा लेता है। अत ऐसा अभ्यास करो जिससे उसमें तुम्हारा सम्बन्ध छूटे।

त्याग करनेसे पीछे दुःखी होना पड़े यह बात नहीं है। यह जो कुन्दनलाल सुनलाबाले हैं न? इनकी लड़कीने एक बार नैनागिरमें अच्छा व्याख्यान दिया। मेरे पास और तो कुछ था नहीं एक चद्दर ओढ़े था वही उतारकर उसे दे दी। शीतकालकी रात्रिका समय था। यह बोली यह क्या करते हैं? शीतका समय है आपकी रात कैसे कटेगी? मैंने कहा कट जायगी आप लेंगे। यह कहकर मैंने चद्दर उसे दे दी। अब क्या होगा? यह विकल्प मेरे मनमें नहीं आया। मैं धर्मशालाकी अटारीपर ठहरा था, ज्यों ही सभा स्थानसे अपने ठहरनेके स्थानपर पहुँचा कि अयोध्याप्रसादजी दहलामें आकर कहते हैं वर्णीजी मैं आपके वास्ते यह चद्दर लाया हूँ। मैंने लेते हुए कहा कि दानका फल तुरंत मिल गया। इस हाथ दे उस हाथ ले। इसलिये देनेवालोंको यह विकल्प नहीं करना चाहिये कि देनेके बाद हमारे पास क्या बच रहेगा। मैं नहीं कहता कि तुम लोग परिग्रहका त्याग कर दो। तुम लोग तो एक एकके बदले दो दो लपेटे लो पर मैं कहता हूँ कि उनमें जो मूर्च्छाभाव है—ममेदं भाव है उसे छोड़ दो। यह ममेदं भाव ही सच्चा परिग्रह है और उसके त्यागसे ही आत्माका सच्चा कल्याण है।

६

आकिञ्चन्य धर्मका वर्णन तो आपने सुन लिया। इसमें बतलाया कि सब द्रव्य अकिंचन हैं। इससे यही सिद्ध हुआ कि कोई किसीका नहीं है। न मैं आपका हूँ और न आप मेरे हैं। सब द्रव्य अपने अपने स्वरूपमें अवस्थित हैं, स्वचतुष्टयको छोड़कर कोई भी द्रव्य पर चतुष्टयमें प्रवेश नहीं करता। आकिञ्चन्य धर्मकी यही महिमा है। विषापहार स्तोत्र या आदिनाथ स्तोत्र है उसमें धनञ्जय सेठ कहते हैं—

'तुङ्गात्फलं यत्तदकिञ्चनाच्च प्राप्यं समृद्धान्न धनेश्वरादेः।
निरम्भसोऽप्युच्चतमादिवाद्रेर्नैकापि निर्याति धुनी पयोद॥'

तुङ्गका अर्थ ऊँचा होना है और उदार भी होता है सो ... प्रकृतिके धारक अकिंचन मनुष्यसे जो प्राप्त हो सकता है ... सम्पत्तिशाली धनकुबेरसे ... आदिसे प्राप्त नहीं हो सकता। देखो पहाड़ ऊँचा है यद्यपि उसके पास पानीका अंश भी नहीं दिखाई देता तो भी उससे जिस प्रकार नदियाँ निकलती हैं उस प्रकार समुद्रसे एक भी नदी नहीं निकलती। मतलब यह कि मनुष्यको उच्च प्रकृतिका बनना चाहिये।

है ? जो परको अपना मानना छोड़ देता है, ...
पर सारा और जो परको अपना ...
छोड़कर चला। परको अपना ...
न तो यहाँ तक किया है कि ...
मानना है वह ...
पर्वत भी ... । सब
किया। कल ... में
आप-आपका ...

चाहिये था कि कुछ संस्थाओंके विषयमें करते। आप लोगोंको भी इसका विचार करना चाहिये था मालूम चालीस पचास हजार रुपयों का खर्च है। इसे आप लोगों को ही तो पूरा करना है। माँगनेके लिये किसीको बाहर भेजना यह तो मुझे पसन्द नहीं। अपना गौरव आपको रखना चाहिये। यहाँ पाँच हजार जैन हो। यदि एक एक आत्मा एक एक रोटी प्रतिदिन दे दे तो १०० निराश्रितोंका कल्याण हो जावे।

'आत्मनश्शुचकायमानस्तेन' ज्ञान ही स्वरूप है। आत्मा में अन्य पदार्थोंका समावेश नहीं है। जब और जबतक नय तक आत्मीय बुद्धि है तबतक हमारा कल्याण नहीं हो सकता। हम पहिले किसीके थे, अब किसीके हैं और फिर किसीके होंगे यह कल्पना मोहजनित है। मोहके सद्भावमें ही ऐसी कल्पना उत्पन्न होती है। जिस प्रकार दर्पणकी स्वच्छता ही उसका निजका स्वरूप है उसी प्रकार ज्ञान गुणकी स्वच्छता ही उसका सब कुछ है। मयूरादिक निमित्तसे दर्पण मयूरादिक आकार परिणमन करता है पर पर पदार्थ होनेसे पररूप कहलाता है इसी प्रकार आत्माकी स्वच्छता ही आत्माकी निजकी चीज है। उसमें जो घटपटादि पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं वे पर हैं।

१०

महाराजका व्याख्यान ब्रह्मचर्यपर हुआ आपने श्रवण किया। मैं भी इसपर एक बात कहता हूं। भर्तृहरिने एक श्लोक लिखा है।

'मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूरा'

केचित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः।

किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य

कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः॥'

अर्थात् मदोन्मत्त हाथियोंके गण्डस्थल विदारण करनेमें शूर वीर कितने ही मनुष्य इस पृथिवीपर हैं। और कितने ही मनुष्य प्रचण्ड सिंहके वधमें दक्ष हैं—समर्थ हैं, किन्तु मैं बलवान् पुरुषोंके सामने जोर देकर यह कहता हूँ कि कन्दर्पके दर्पको नष्ट करनेमें विरले ही मनुष्य शूर हैं। जिसने कन्दर्पका दर्प दल दिया वह आगामी भवमें पैदा नहीं होता। यह कठिन बात नहीं है अभ्याससे सब सम्भव है। बलवान् मनुष्य ही ब्रह्मचर्यका पालन कर सकता है, निर्बल मनुष्य इसका क्या पालन करेगा?

आपने छत्रसालका जीवनचरित्र नहीं पढ़ा। वह बड़ा सुन्दर था। उसे देखकर एक स्त्री उसपर मोहित हो गई पर वह कैसे? एक दिन छत्रसाल वन विहारके लिये गया वह स्त्री भी वहाँ थी। अवसर देख स्त्रीने कहा कि मेरी इच्छा है कि आप जैसा पुत्र उत्पन्न करूँ। छत्रसाल उसके भावको समझ गया और झटसे घुटने टेक उसके चुचुक अपने मुँहमें देकर कहने लगा मेरे जैसा क्यों? मैं ही तेरा पुत्र हूँ। स्त्रीका भाव बदल गया।

मेरा तो विश्वास है यदि ब्रह्मचर्य व्रत न होता तो संसार ही डूब जाता। ब्रह्मचर्यके रहनेसे ही संसार टिका हुआ है। समन्तभद्राचार्यने गृहस्थोंके लिये स्वदारसन्तोष व्रतका उपदेश दिया है। इसीका पालन कराते कराते सप्तम प्रतिमामें स्त्रीमात्रका भी त्याग करा दिया है। देखो, ब्रह्मचर्य की साक्षात् मूर्ति स्वरूप महाराज आपके सामने बैठे हुए हैं। नग्न मुद्राके धारक हैं। बालकके समान निर्विकार हैं। आज ब्रह्मचर्यका दिन है अतः सबको स्वदार सन्तोष व्रत लेना चाहिये।

बाली मोक्षगामी पुरुष हुआ है। अपने यहाँ उसकी कथा दूसरे प्रकार है पर रामायणमें कथा है कि उसने अपने भाई सुग्रीवकी स्त्रीका अपहरण किया था अतः सुग्रीवके कहनेसे रामचन्द्रजीने

उसे युद्धमें मारा था। रामचन्द्रजीके प्रहारसे घायल होकर बाली कहता है कि, 'मैं तो सुग्रीवका वैरी हूं आपने मुझे किस कारण मारा।' तब रामचन्द्रजीने कहा कि तुमने अपने अनुजकी वधूका अपहरण किया है इसलिये तुम आततायी हो और इसीलिये तुम्हारे मारनेमें पाप नहीं है। कहनेका मतलब यह है कि परस्त्री सेवन महान् पाप है। वे संसारमें आततायी कहलाते हैं।

ब्रह्मचर्यसे क्या नहीं होता? अन्य लाभ तो जाने दो मोक्ष लक्ष्मीकी प्राप्ति भी इसीसे होती है। मुझसे पूछो तो जो विषय सुख चाहते हैं उन्हें भी ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये। अभी महाराजने बताया कि मनुष्य एक मन भोजन ८० दिनमें करता है। एक मन भोजनमें एक तोला वीर्य तैयार होता है। आप उसे विषय सेवन द्वारा रोज-रोज नष्ट करते रहोगे तो क्या होगा? ऐसे आदमियों का तपेदिक न हो तो क्या होगा।

एक बार एकने लिखा कि 'बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमप्याकर्षति' अर्थात् इन्द्रियोंका समूह इतना बलवान है कि विद्वानोंको भी आकर्षित कर लेता है। उसने यह श्लोक लिखकर एक ऋषिको दिखाया। ऋषि बस्तीके बाहर मठ बनाकर रहता था। बोला इस श्लोकमें जो 'विद्वांसमप्याकर्षति' लिखा है उसे काट दो। यह ठीक नहीं है। लिखनेवालेने कहा अच्छा महाराज काट दूँगा। अब उसने जाकर बहुरूपिणी विद्या सीखी और सोलह वर्षकी युवतीका रूप बनाकर दिनमें तीन बजेके करीब ऋषिकी कुटियाके पाससे निकला और वहाँ ठहरनेकी इच्छा प्रकट की। ऋषिने कहा कि तुम स्त्री हो। यहाँ स्त्रियाँ नहीं ठहर सकतीं अतः आगे चली जाओ। उसने कहा महाराज मैं अकेली अबला, रात आनेवाली है, जंगलमें कहाँ रहूँगी? यहीं आपके आश्रय एक वृक्षके नीचे पड़ा रहूँगा। ऋषिने फिर भी मना किया पर वह वहाँसे नहीं हटा। रात्रि होने

पर ऋषिने अपनी कुटियाका मालिक जान शीतसे रक्षा कर दी। उस पुरुषने भी दालानमें आसन लगा ली। जब मध्यरात्रि हुई तो उस स्त्री वेषधारी पुरुषने शृङ्गारके गाना शुरू किये। रूप तो ऋषि महाराज पहिला देख ही चुके थे। अब हाव-भाव भी उनके मनमें जमे हुए थे। गाना सुनकर उनके मनमें कामभाव जागृत हो उठा। बोले, बेटा मालूम होता, मुझे पेशाब जाना है। वह बोला, महाराज, मैं यहाँ अकेली अबला आपका क्या विश्वास? मेरी यहाँ कौन रक्षा करेगा? आप अपने ठाममें पेशाब कर लीजिये, सबेरे फेंक देना। वे तब ऋषि छप्पर तोड़कर उसके पास आ गये। तब तक उसने स्त्रीका वेष हटा दिया था और अपने पिछले रूपमें प्रकट होकर महाराजको नमस्कार किया और पूछा कि इसमेंसे 'सिद्धान्तसमव्याख्यापति' अंश रहने दिया जाय या हटा दिया जाय। ऋषि लाज गये, इस सुगम अपशब्दमें लिख दो।

कहनेका तात्पर्य यह कि यद्यपि इन्द्रियाँ बलवान् अवश्य हैं पर अभ्याससे इन्हें जीता जा सकता है। यदि कोई नहीं जीत सके तो मोक्षमार्ग ही कैसे चले।



दैनन्दिनीके पृष्ठ

दैनिक [illegible]

आत्मरति[illegible]
से किसी भी [illegible]
होगा। जैसे [illegible]
संसारके मार्ग है। [illegible]
में स्वतन्त्र परिणति [illegible]
जाता हूँ।

सबसे [illegible]
करो। ऐसा वचन [illegible]
इसका अभिप्राय [illegible]
अभिप्राय न हो। [illegible]
तत्त्व अनुमित नहीं [illegible]

लोक [illegible]
मनमें [illegible]
का क्या [illegible]

समाज[illegible]
[illegible] है। [illegible]
[illegible] है। [illegible] आत्मीय [illegible]
है। [illegible] है, जो [illegible]
[illegible] करता है, [illegible]

[illegible] ओर लगाना ही
[illegible] काल व्यय कर

(माघ कृ० १०)

[illegible] न सर्व हो जाता
[illegible] कोई क्षति नहीं।
[illegible] नु उसमें पुण्यकी

(माघ कृ० ११)

[illegible] नाय यह है जा
[illegible] जिसपर हम ध्यान
[illegible] और उनका मूल
[illegible] के सम्बन्ध में
[illegible] य नहीं हैं, यह

(माघ कृ० १२)

[illegible] उसके अंतरंगमें
[illegible] ने दु खात्मक
[illegible] पना हो इन
[illegible] । दु खका

[illegible] १३)

[illegible] ताना
[illegible] की

सकता। जहाँ असाधुता है, वहाँ राग द्वेषकी सन्तति निरन्तर स्वकीय प्रभुत्व स्थापित किए है।

(पौष शु० १५)

सबको प्रसन्न रखनेकी चेष्टा, अग्निमें कमल उत्पन्न करनेकी चेष्टा है। अपनी परिणति स्वच्छ रखो, सकोच करना अच्छा नहीं।

(माघ कृ० १)

आज श्रीगुरुदेवसे यह प्रार्थना की, हे गुरुदेव! अब तो सुमार्गपर लाओ। आपकी उपासना करके भी यदि सुमार्गपर नहीं आए, तब फिर कब अवसर सुमार्गपर आनेका आवेगा। गुरुदेव! अभी तुमने गुरुदेवकी उपासना नहीं की, केवल गल्पवादमें तुम्हारी चेष्टा है। हम तो निमित्त हैं, तुम्हें उपादानपर दृष्टिपात करना चाहिए।

(माघ कृ० २)

धर्मका प्रचार होना उत्तम नहीं, सदाचार होना ही कल्याण करनेवाला है। पञ्चास्तिकायमें श्रीयुत कुन्दकुन्द महाराजने यहाँ तक लिखा है जो आत्मन संसार बन्धसे छूटना चाहता है, वह श्रीजिनेन्द्रकी भक्तिको भी त्याग दे। यह औपचारिक वचन है, जिस समय यह जीव सम्यग्दृष्टि हो जाता है, शुभ और अशुभ कार्योंमें इसकी उपादेय बुद्धि नहीं रहती। करना नहीं चाहता, करना पडता है।

(माघ कृ० ३-४)

निवृत्ति ही कल्याणका मार्ग है, अन्ततः गत्वा यही शरण है। पर पदार्थका सम्बन्ध छोडना ही शान्तिका मार्ग है, शान्तिका उपाय अन्य नहीं। शान्तिका मार्ग निवृत्ति रूप है।

(माघ कृ० ७)

जैसे हमारी दृष्टि परकी ओर है, वैसे आत्माकी ओर हो तो आत्मा ही कल्याणका मार्ग है। लोक परकी चिन्तामें अपना काल व्यय कर देते हैं।

(माघ कृ० १०)

दान करना उत्तम है, परन्तु जिसमें धर्मका लाभ हो जाता है। जैनधर्ममें दानकी विधि है कि दान देनेमें कोई हानि नहीं। पर पदार्थका जब चाहे त्याग सकता है। परन्तु उसमें पुण्यकी आशा करना अच्छा नहीं।

(माघ कृ० ११)

संसारमें शान्ति सब चाहते हैं। इसका मूल कारण यह है कि जो अशान्ति होती है, उसका मूल कारण क्या है इसपर हमें ध्यान देना चाहिए। अशान्तिका मूल कारण अभिलाषाएँ और उनकी मूल जननी पर पदार्थोंमें आत्मीयता है। पर पदार्थोंके संग्रहमें एक अपना उपयोग फँसा देते हैं। जिस दिन हमारे ये नहीं हैं, उस ज्ञान हो जावेगा अनायास वह मिट जावेगा।

(माघ कृ० १२)

कमण्डलु-पाछी परमार्थमें बाधा नहीं कर सकता है, जिससे अंतरंगमें संसारसे भीरुता हो। भीरुता उस ही सकती है, जो इसे दुःखात्मक समझे। दुःखका कारण परमात्मामें पर नहीं, हमारी कल्पना ही इन पदार्थोंमें निरन्तर मान दुःखकी जननी बन जाती है। दुःखका कारण रागादिक हैं।

(माघ कृ० १३)

शान्तिका मूलमन्त्र अन्तरङ्गकी कलुषता न हो। कलुषताका कारण पर पदार्थोंमें ममत्व बुद्धि है। ममता बुद्धि ही संसारकी जननी है। जब पर पदार्थोंमें आत्मीय अंश भी नहीं, तब उसमें राग करना व्यर्थ है। परन्तु यह [illegible] ही गर्तमें पड़ता

हैं। इसके दूर करनेका यत्न करो।

(माघ कृ० १४)

धर्म व अधर्म सरल परिणाम ही कारण हैं। सरलतासे तात्पर्य परिणामोंमें पर पदार्थोंमें जो राग द्वेष होता है वह नहीं होना चाहिए। यह बात कब हो? जब परमें निजत्व कल्पना न हो। निजत्व कल्पनामें ही अनुकूल और प्रतिकूल भाव होते हैं। जहाँ स्वर्णादिक अनुकूल पदार्थ हुआ वहाँ राग और प्रतिकूल हुआ, वहाँ द्वेष हो जाता है।

(माघ कृ० ३०)

आत्मतत्त्वकी यथार्थता प्रत्येक व्यक्तिमें होती है। परन्तु उसकी अनुभूतिमें वञ्चित रहते हैं। इसका मूल हेतु हमारा अनादि कालसे परानुभूति ही है। यद्यपि परानुभूति होती नहीं क्योंकि ज्ञानमें स्व पर्यायका ही संवेदन होता है। किन्तु हमारे मिथ्यात्वकी इतनी प्रबलता है, जो हम स्व स्वरूपसे वञ्चित रहते हैं, परको ही निज मान रहे हैं।

(माघ शु० १)

शान्तिका मार्ग स्वाधीन है, इस प्रतिज्ञासे नहीं मिलता। अतः स्वयंमें मिलता है।

(माघ शु० २)

वास्तवमें आत्मा एकाकी है, परका सम्पर्क ही उसकी जड़ है। दुःख क्या है? जो नाना प्रकारकी इच्छाएँ हैं, वही इस दुःखकी ध्वनि हैं।

(माघ शु० ३)

शान्तिका आस्वाद आज तक नहीं आया, इसका मूल कारण विरोधी पदार्थोंमें तन्मयता है। हम भावका त्यागनेमें असमर्थ हैं, और शान्तिका आस्वाद चाहते हैं। यह असम्भव है। सत्कार निमग्न

बनानेकी आवश्यकता है। हम आज तक जो संसारमें भ्रमण कर रहे हैं, इसका मूल कारण अपनेको अनादि संस्कारोंके न त्यागनेका ही कुफल है।

(माघ शु० ७)

आज भारतमें नवीन विधान लागू होगा। श्रीयुत महाशय राजेन्द्रप्रसादजी सिंहासनासीन होकर सभापति होंगे। आज भारतको स्वतन्त्रता मिली, परन्तु इसकी रक्षा तो निर्मल चारित्रसे होगी। यदि हमारे अधिकारी महानुभाव अपरिग्रहात्मता अपनावें, सरल रीतिसे इन परका भला कर सकते हैं।

(माघ शु० ८ । ता० २६ जनवरी)

बिना स्वार्थके कोई भी महाशय इस पदार्थके अधिकारी नहीं। स्वार्थसे तात्पर्य निज स्वभावका है। अनादिसे हमारे साथ शरीरका सम्बन्ध है। शरीरको ही हम निज मान रहे हैं, निरन्तर इसकी रक्षामें आत्मीय शक्ति लगा देते हैं। यह जड़ है, इसके पोषण शोषणसे आत्माका न हित है और न अहित है।

(माघ शु० ९)

जिसने ध्यान पर दृष्टि दी उसने संसार बन्धनको काटा। संसार बन्धनका कारण चित्तकी व्यग्रता है। जहाँ चित्तकी व्यग्रता है, वहाँ अनेक प्रकारके पदार्थोंका विकल्प रहता है और वह विकल्प रागादिसे दूषित रहता है। संसारमें पदार्थ आवें, इससे कोई क्षति नहीं, परन्तु उसके साथ इष्टानिष्टकी कल्पना रहती है और यही विष है।

(माघ शु० ११)

शान्तिका मार्ग न तो पुस्तकोंमें है और न तीर्थयात्रादिमें है और न सत्समागमादिमें है और न केवल दिग्वासाके योग निरोधमें है, किन्तु कषाय निग्रह पूर्वक सर्व अवस्थामें है। मेरा यह अटल

श्रद्धा है। श्रद्धाका यह शक्ति है, जो उसके साथ ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है और स्वानुभावात्मक निज स्वरूपमें प्रवृत्ति हो जाती है।

(माघ शु० १२)

बाह्य दृष्टिसे लोग प्रभावना चाहते हैं, प्रभावनाका जो मूल तत्त्व है, वह बहुत दूर है।

(माघ शु० १३)

। हम निज परिणति पर ध्यान नहीं देते, इसीसे दुःखके पात्र होते हैं। दुःखका मूल कारण अपनी भूलसे ही है, परन्तु हम भूलका कारण परको ही मान लेते हैं। पुस्तकमें तो पाठ सब पढ़ते हैं। परन्तु क्या पढ़ते हैं ? पढ़के उपदेष्टा अनेक हैं। आप चाहे जो समझ पड़े।

(माघ शु० १५)

मोक्षमार्गके उपदेश करें और सुनें, परन्तु उनपर आरूढ नहीं हुए और न इसकी चेष्टा ही है। अनादिकालसे संस्कार परम निजत्व कल्पनाका है, वह कब दूर हो ? ऐसी चर्चा करनेसे उसका दूर होना कठिन है।

(फाल्गुन कृ० १)

सर्वोत्तम बात तो यह है, जो किसीके चक्रमें न आवे। चक्र ही भ्रमण करनेका मुख्य कारण है। मनुष्योंसे स्नेह करना ही पापका कारण है। संसारका मूल कारण यही है, जिन्हें संसार बन्धन उच्छेद करना है, उनको उचित है परकी चिन्ता त्यागें। परकी चिन्ता करना मोही जीवोंका कर्तव्य है।

(फाल्गुन कृ० २)

कोई भी परके विषयमें भलाई बुराई नहीं सोचता। आत्मीय कषायके अनुकूल ही प्रवृत्ति करता है। इस प्रकारकी प्रवृत्ति ही संसारकी है। विशेष ऊहापोहकी आवश्यकता नहीं।

(फाल्गुन कृ० ३)

आत्माकी परिणति देखने जाननेकी है। उसमें इष्टानिष्ट कल्पना जो होती है वही संसारकी जड़ है। जिनको संसारका अन्त करना है वे परसे आत्मीयता त्यागें।

(फाल्गुन कृ० ४)

स्वाध्यायका फल रस रहित आत्मविषयक अध्ययन जिसमें हो अर्थात् स्वका परसे भेदज्ञान हो जाय। यही कारण स्वाध्यायमें संवर और निर्जरा होती है। आगमाभ्याससे उत्तम मोक्षमार्गमें अन्य सहायक नहीं।

(कृष्ण फाल्गुन कृ० ८)

महत्ता आत्मस्वरूपकी विशुद्धिकी है, बिना भेदज्ञानके विशुद्ध परिणति होना दुर्निवार है। भेदज्ञानका बाधक परपदार्थमें निजत्व कल्पना है। भेदज्ञानके होनेमें सबसे मुख्य कारण आत्मीय ज्ञानको अपनाना चाहिए। जैसे हम घटपटादिक पदार्थोंके जाननेमें मनोवृत्ति रखते हैं, उसी प्रकार आत्मज्ञानमें चेष्टा करनी चाहिए।

(भिंड फाल्गुन कृ० ११)

उपदेशका फल तो यह है, जो परलोकके अर्थ प्रयत्न किया जाय। जो मनुष्य आत्मतत्त्वकी यथार्थतासे अनभिज्ञ हैं, वे कदापि मोक्षमार्गके पात्र नहीं हो सकते।

(फाल्गुन कृ० १६)

प्रायः चर्चाका विषय यही रहता है, जो सम्यग्दृष्टि कुदेवादिका पूजन कर सकता है या नहीं? निष्कर्ष यही निकला, जो नहीं कर सकता। तथा प्रमाण भी दिया—"भयाशास्नेहलोभाच०" सम्यग्दर्शन तो वह वस्तु है, जो अनन्त संसारके बंधनोंसे छुड़ा देता है। वह क्या कुदेवादिकोंकी सेवा कर सकता है?

(फाल्गुन कृ० २०)

मेरा तो यह विश्वास है, जो वक्ता है वह स्वयं इसके प्रभावमें

नहीं आता। अन्यका प्रभावक लाना चाहता है। यह महती त्रुटि प्रवचनकर्ताओंमें है, एक हजार वक्ता और व्याख्यानदाताओंमें एक ही अमल करनेवाला होना कठिन है।

(फाल्गुन सु० १)

कषाय करना अत्यन्त हेय है, उसे त्यागना चाहिए। परन्तु यही कठिन है कारण अनादि की वासना कठिन है।

(फाल्गुन सु० २)

सब मनुष्योंके धर्मका आकांक्षा रहता है, अपना उत्कर्ष भी इष्ट है, परन्तु मानके नशामें अन्धे की भी दशा होती है। यही अकल्याणका मूल है।

(कुण्ड, फाल्गुन सु० ४)

मिलना ही बन्धका जनक है। जो आत्मा बन्धनसे मुक्त होना चाहता है, उसे उचित है कि परपदार्थकी संगति छोड़े। द्वादशांग (श्रुतज्ञान) शास्त्रका अन्तिम उद्देश्य परसे भिन्न अपनेको जानो परम्परासे सुरक्षित रहा।

(इटावा, फाल्गुन सु० ७)

आजसे अष्टाह्निका पर्वका आरम्भ हो गया, यह महा पर्व है। इस पर्वमें देवगण नन्दीश्वर द्वीप जाते हैं। वहाँपर बावन जिनालय हैं। मनुष्योंका गमन वहाँपर नहीं। देवगण ही वहाँपर जाते हैं। मनुष्य चाहे विद्याधर हों, चाहे ऋद्धिधारी मुनि हों नहीं जा सकते। किन्तु मनुष्योंमें यह शक्ति है, जो संयमासंयम ग्रहणकर देवोंकी अपेक्षा असंख्यगुणी निर्जरा कर सकते हैं।

(फाल्गुन सु० ८)

संसारके चक्रमें जीव उलझ रहा है। आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, इन संज्ञाओंके आधीन होकर आत्मीय स्वरूपसे अपरिचित रहता है। आत्मामें ज्ञायकशक्ति है, जिससे वह स्व-परको

जानता है। किन्तु अनादिकालसे मोहमदका ऐसा प्रभाव है, जो आपापरकी ज्ञप्तिसे वञ्चित रखता है।

(फाल्गुन शु० ९)

संसार एक अशान्ति का भण्डार है, इसमें शान्तिका अत्यन्त अनादर है। वास्तवमें अशान्तिका अभाव ही शान्तिका उत्पादक है। अशान्तिके प्रभावसे सम्पूर्ण जगत व्याकुल है। अशान्तिका वाच्यार्थ है अनेक प्रकारकी इच्छाएँ। वे ही हमारे शान्तिस्वरूपमें बाधक हैं। जब हम किसी विषयकी अभिलाषा करते हैं, आकुलित हो जाते हैं। जब तक इच्छित विषयका लाभ न हो, दुःखी रहते हैं।

(फाल्गुन शु० १०)

दुःखका कारण हर्ष विषाद है। हर्ष विषादका मूलकारण ममता भाव है।

(फाल्गुन शु० ११)

जो मनुष्य शान्ति चाहते हैं उन्हें उचित है जो परजनोंके संसर्गसे सुरक्षित रहें। परके संसर्गसे बुद्धिमें विकार आता है। विकारसे चित्तमें आकुलता होती है। जहाँ आकुलता है वहाँ शान्ति नहीं। शान्ति बिना सुख नहीं। सुखके अर्थ ही सर्व प्रयास मनुष्य करता है। मेरा तो यह विश्वास है, शान्तिके अर्थ ही जितने उपाय किए जाते हैं, बाधक ही हैं। उपायोंसे दूर रहना ही उपाय है।

(फाल्गुन शु० १३)

जिन जीवोंको यह निश्चय होगया जो मैं परसे भिन्न हूँ। वह कदापि परके संयोगमें प्रसन्न और विषादी नहीं हो सकता। प्रसन्नता और अप्रसन्नता मोहमूलक है। मोह ही एक ऐसा महान् शत्रु इस जीवका है जो उसीके प्रभावसे यह चौरासी लाख योनिमें भ्रमण है। अतः जिन्हें यह भ्रमण इष्ट नहीं उन्हें इसको त्यागना चाहिए। (इटावा, फाल्गुन शु० १४)

जो प्रतिज्ञा लो, उसे आदरसे पालन करो। अल्प भाषण करो, परको तुच्छ मत मानो। सब आत्मा अनन्त गुणोंके पिण्ड हैं। ऐसा प्रयास करो जो ज्ञानमें वह पदार्थ प्रतिभासमान हो। उसमें राग-द्वेष मूलक आत्मीय कल्पना न हो। परमें निजत्वकी कल्पना ही राग द्वेषकी जड है। इसे तो जो करना है अन्यथा वह गति होगी जो संसारकी होती है।
(फाल्गुन शु० १५)

समागममें सुख नहीं, सुखका मूल निजका समागम है। एकाकी आत्मा ही सुखका पात्र है।

(चैत्र कृ० १)

मनुष्योंके सम्पर्कमें अनेक अनुचित परिणमन होते हैं। प्रथम तो परमें ममता होती है, क्योंकि अन्तरङ्गमें निजत्व कल्पना हो जाती है। फिर यदि व्यक्ति यदि विरुद्ध हुआ, तब द्वेष हो जाता है। द्वेषका कारण अरुचि परिणति रागसे द्वेष और द्वेषसे राग हो सकता है, जो पदार्थ आज इष्ट है।

(चैत्र शु० ५)

धर्मका मूल कारण निरीहवृत्ति है। परसे अपना महत्त्व चाहना आकाशसे पिपासा शान्त करनेकी इच्छाके तुल्य है। जिसने आत्माके साथ स्नेह किया वे संसारसे पार हो गए और जिसने परसे स्नेह किया वे यहीं रहे।

(चैत्र शु० ६)

जिनसे व्यवहार बोलनेका करते हो वे मूर्च्छाके कारण हैं। मूर्च्छाका त्याग ही व्रत है। जिस आगममें मोक्ष अभिलाषाको भी कर्मबन्धका हेतु माना है वहाँ अन्य आकांक्षा स्वयं त्याज्य है। परिणामोंकी स्वच्छता ही संसार समुद्रसे पार होनेकी नौका है। दुःखमय जगतसे रक्षा होनेका उपाय अनासक्ति है, अन्य उपाय नहीं।
(चैत्र शु० ७)

प्रतिज्ञा पर दृढ रहो, तथा परके चक्रमें मत आओ। अपना स्वाध्यायमें मन लगाओ, इन गप्पाष्टकोंके साथ व्यवहार छोड दो। जब तक अपनेको दृढ न बनाओगे, इन व्यर्थके व्यवहारोंमें आत्माको पतित मार्गमें उलझा दोगे। फिर सुमार्ग प्राप्ति अत्यन्त कठिन हो जायगी। बहुत कालमें यह विवेक मिला है इसे यों ही न गमा दो।

(चैत्र सु० ८)

शिथिलता ही संसारमें पतनकी जननी है। जहाँ शिथिलता है वहीं मोक्षमार्गका प्रभाव आपसे आप शिथिलताकी ओर चला जाता है। गेहूँकी राशिमें नीचेसे एक मुट्ठी गेहूँ निकालिए, तो ऊपरसे गिरने लगेगा।

(चैत्र सु० ९)

भूलका कारण आजकल भौतिकवादकी प्रचुरता है। सब जनता चार्वाक मतका आश्रय ले रही है। जो देखो सो पराया धन लेकर धनी बननेके प्रयत्नमें है। गृहस्थमार्ग तो इसी परिग्रहसे चल रहा है।

(चैत्र सु० १०)

जिनका चित्त आत्मचिन्तनसे दूर है वह मनुष्य इन कार्योंमें तन्मय रहते हैं तथा जनता उनकी सहायता भी करती है। पर साधक रसिक प्राय: इस कालमें विरले महानुभाव हैं। जो हैं वे भी इतर मनुष्योंके चक्रमें आ जाते हैं। और नाना प्रकारकी सामग्री संचय करनेमें बुद्धिका दुरुपयोग कर 'पुनर्मूषको भव' इस आख्यानको चरितार्थ करनेमें दृष्टान्त बन जाते हैं। निवृत्तिमार्गमें बाह्य परिग्रहकी आवश्यकता नहीं। अन्तःशुद्धिके अर्थ यह बाह्य परिग्रहका त्याग ही कारण है। औपचारिक कारण है, इसका भी मुख्य न समझना। जहाँ यह व्यवस्था है वहाँ बाह्यको समद यह

निवृत्तिमार्गकी सिद्धि मानना परम अज्ञानता है।

(चैत्र शु० १०)

जैनधर्मका मर्म अब प्रतिदिन ह्रास होता जाता है, प्रायः मनुष्य शुद्ध भावना करनेवाले नहीं रहे और जो हैं वे भी नगण्य हैं, अस्तु यह दशा भी आदर्श है।

(चैत्र शु० ११)

आत्मगौरव उदार होता है, जो परकी चिन्तासे दूर रहता है। पर चिन्तातुर धर्मसे दूर रहता है।

(चैत्र शु० १५)

आज यहाँ पमेला हुआ परन्तु कुछ हुआ नहीं, केवल परस्पर मनोमालिन्य ही दृश्य दिखा। यहाँ पर श्री धनवन्तीबाई सिंघई, जो कि श्री स्वर्गीय ज्ञानचन्द्रजी की धर्मपत्नी हैं, अपना द्रव्य ७५,०००) विद्यालयमें देना चाहती हैं, किन्तु द्रव्य पानेमें विलम्ब हो जाता है। नाना मनुष्य नानामत हैं। परोपकारमें प्रथम तो प्रवृत्ति नहीं होती। यदि कोई करना चाहे तब उसमें रोड़ा अटकानेवाले बहुत हो जाते हैं। अस्तु, हम स्वयं अपनी परिणतिको पवित्र रखनेमें अक्षम हैं। पर धन्य श्री पूज्य स्वर्गीय चिरौंजा माताने पुत्रसे अधिक पाला। परोपकारकी भावना भी उनकी न थी। केवल इसका भला हो जाय इसके अर्थ उन्होंने अपना सर्वस्व लगा दिया और यह भी शिक्षा दी कि "बेटा! आत्मकल्याणके अर्थ किसी संस्था या संघमें न पड़ना, अन्यथा पछतावेगा। आत्म द्रव्य स्वतन्त्र है, अनादिसे मोहके द्वारा परको आत्मीय मान अनन्त यातनाओंका पात्र बन रहा है। अतः सबसे प्रथम तो इस आत्मीयभावको जो परको आत्मीय मानता है, त्याग दे। पश्चात् जो शक्ति अनुसार धन त्याग करनेकी चेष्टा कर। केवल लोक प्रतिष्ठाके अर्थ त्याग मत कर। यदि लौकिक प्रतिष्ठाके अर्थ

त्याग है तब यह निश्चय कर जो अभी मैंने अपने स्वरूपको नहीं समझा। मुझे यह विश्वास है, जो मैं सरल हूँ, अतः मेरी बात मानेगा।"

(वैशाख बदी १)

सर्वत्र सब देखा, पर आपमें आप न देखा। संसारको कल्याणका पाठ पढ़ाते, शाब्दिक जालसे निरन्तर पुरुषार्थ करनेमें सर्व शक्तिका अपव्यय करते करते यह जन्म बीता जाता है। परन्तु एक मिनटके सहस्र भाग कालको स्वात्महितमें नहीं लगाया, इसी पर यह अभिमान जो हम क्षुल्लक हैं। क्षुल्लक ही तो रहे, आप क्षुद्रोंकी यही दशा होती है।

आगमकी आज्ञा तो मुख्यतया निवृत्तिमार्गके अग्रसर बनो, यही है। हमलोग जो काम करते हैं, लौकिक प्रशंसाके लिए ही करते हैं। शरीरमें नित्यत्वबुद्धिकी कल्पना ही इसका मूल कारण है।

(वैशाख कृ० ४)

अपनी ज्ञायक परिणति निर्मल करना चाहिए। परमें ममता भावको कर निजात्मका भूलना यही संसार बन्धनका प्रथम प्रयास है। इस हीसे अखिल उपद्रव होते हैं और यही अनर्थोंका मूल कारण है। इसीके प्रतापसे आज संसारमें त्राहि त्राहिकी आवाजें आ रही हैं।

आज शास्त्र प्रवचनमें मेरे मुखसे असभ्य शब्द निकल गया कि दान देनेवाले भी लुटेरे हैं और लेनेवाले भी लुटेरे हैं। यद्यपि यह शब्द कटुक है, परन्तु अन्तरङ्गमें, जब सब द्रव्योंकी सत्ता पृथक् पृथक् है तब चार द्रव्य चेतना गुणका पिण्ड मात्र वस्तु है और धनादिक द्रव्य जड़ स्वरूप भिन्न है। जब उन दोनोंकी सत्ता भिन्न भिन्न है तब जो जाव उसे निज माने यह मिथ्याज्ञाना

है [illegible] है। [illegible] है। यदि [illegible] और [illegible] है। [illegible] हुआ। [illegible] है। [illegible] है।

([illegible] ५)

[illegible] है, [illegible] नहीं। [illegible] नहीं [illegible] है [illegible] है। यदि [illegible] हो जाय।

([illegible])

[illegible] है [illegible] है। [illegible] है। [illegible] है और [illegible] हो जाता है। [illegible]

सापेक्ष पर्याय हैं, यह निमित्तकी अपेक्षा कथन है। उत्पत्तिका मूल तो स्वयं है, किन्तु इसमें मोहादि अनेक कारण कलाप चाहिए। इसीसे इन भावोंको परजन्य कहा है।

किसीके सहवासमें रहकर आत्मकल्याणका होना असम्भव है। मोक्ष नाम ही छूटनेका है। अर्थात् केवल जीवकी अवस्थाका नाम ही मोक्ष है। आत्माकी शरीरके साथ जो एकता है वही संसारकी जननी है।

(वैशाख कृ० ७)

जब ही मनुष्य स्वार्थी है, तब तुम भी स्वार्थी हो। जीनका स्वभाव ही स्वार्थानुरूप होना है, तब तुम क्या इससे वञ्चित रहते हो? क्योंकि जब जीवका स्वभाव यथार्थ है, तब इसमें कोई भी शङ्का मत करो।

(वैशाख कृ० ८)

द्रव्यकी सिद्धिसे चारित्रकी सिद्धि होती है। अर्थात् जिसको द्रव्यका सम्यग्ज्ञान होता है वही आत्मा सम्यक्चारित्रका पात्र होता है। तथाहि—'न हि सम्यग्व्यपदेशं चारित्रमज्ञानपूर्वकं लभते ज्ञानानन्तरं चारित्राराधनं तस्मात्।'

स्वामी समन्तभद्राचार्यने भी कहा है—

'मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।
रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः॥'

इससे यह सिद्ध होता है कि चारित्र धारण करनेका पात्र सम्यग्ज्ञानी ही हो सकता है। अतः 'प्रवचनसार' में चारित्राधिकारमें प्रथम ही लिखा है। "द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धिः चरणस्य सिद्धौ द्रव्यस्य सिद्धिः"। पहले तो तात्पर्य यह है,

जो द्रव्यका सम्यग्ज्ञान होनेपर ही यह जीव चारित्रका अङ्गीकार करनेका पात्र होता है। और चारित्रकी सिद्धि होनेपर द्रव्य मोहादि चार घातिया कर्मोंके अभाव होनेपर निश्चल निष्कलंक होजाता है।

परमार्थसे देखो तब उभयभावी मोहके अभावमें आत्मा निर्मल होता है। प्रथम जो लिखा है कि द्रव्यकी सिद्धि होनेसे चारित्रका अधिकारी आत्मा होता है। इसका भी तो यही अर्थ है, जो मोह (दर्शन मोह) से आत्मामें विपरीत अभिप्राय होता है, उसके सद्भावमें परको आप मानता है। अर्थात् मोहके उदयमें शरीरादि पर द्रव्योंमें निजत्वकी कल्पना करता है और शरीरमें निजत्वकी कल्पनाके अनन्तर जो-जो पदार्थ शरीरानुकूल पड़ते हैं उनके सद्भाव और प्रतिकूल पदार्थोंके असद्भावकी चेष्टा करनेमें सतत प्रयत्नशील रहता है। अल्प समय भी इस जालसे सुरक्षित नहीं रहता। यद्यपि मुखसे यह पाठ पढ़ता है, सब द्रव्य स्वकीय स्वकीय चतुष्टयसे भिन्न भिन्न हैं। अन्य द्रव्यके साथ अन्य द्रव्य का परमार्थसे कोई सम्बन्ध नहीं है। तथाहि—

> 'नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः परद्रव्यात्मद्रव्ययोः।
> कर्तृकर्मत्वसम्बन्धाभावे तत् कर्तृता कुतः ॥'

यह सर्व कल्पना भी मालूम होती है। जो गृहस्थावस्थासे पृथक् होगए और अन्तरङ्गसे भावलिंगी अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान कषायोंका जिनके क्षयोपशम हो चुका है, तथा संज्वलन कषायका उदयमात्र जिनके है वह भी कहते हैं, किसीसे मत बोलो, क्योंकि जो जाननेवाला है वह तो दृष्टिका विषय नहीं, जो दृष्टिका विषय है वह अज्ञानी है फिर किससे वचन व्यवहार किया जाय ? फिर यही कहते हैं—

"यन्मया दृश्यते रूप तन्नजानाति सर्वथा ।
जानन्न दृश्यते रूप तत केन ब्रवीम्यह" ॥

पर पदार्थसे सम्बन्ध छोड़ो, और आगममे यह भी लिखा है जो जितने द्रव्य हैं व सर्व स्वतन्त्र हैं। एक परमाणुमात्र भी परका पररूप नहीं होता। अन्यद्रव्य अन्यद्रव्यरूप नहीं होता, यह तो निर्विवाद ही है, किन्तु एक द्रव्य जो अनन्त गुणोंका पिण्ड है उसमें जितने गुण हैं वे गुण भिन्न भिन्न रूपमें निश्चित हैं। यथा—पुद्गल द्रव्यमें जो स्पर्श रस गन्ध वर्ण हैं, वे अपने अपने स्वरूपको लिए हुए भिन्न भिन्न रहकर ही अविनाभाव सम्बन्धसे एक क्षेत्रावगाही हो रहे हैं। जब यह व्यवस्था अकाट्य है तब हमको उपदेश देनेकी क्या आवश्यकता है ?

वास्तवमें कुछ आवश्यकता नहीं और न उपदेष्टा उनके सुधार और बिगारके लिए प्रयत्न ही करता है। वह तो अपनी अन्तरङ्ग वृत्तिके अनुसार कार्य करनेमें प्रयत्नशील होता है। जब आत्मामें इच्छा उत्पन्न होती है तब आत्मा बेचैन हो जाता है। और जब जो इच्छामें आया, जब तक उसकी पूर्ति न [illegible] तावत् वह दुखी रहता है। अतः उस दुखके दूर करनेका प्रयास करता है—जैसे आपके यहाँ एक भिक्षुक आया और उसने आपसे भिक्षा याञ्चा की। आपने उसके वचन विन्यासको सुना। सुन करके आपको उसके ऊपर करुणा बुद्धि हुई। अब यावत् आप उस करुणा बुद्धिकी पूर्ति नहीं करते तब तक आप उसे दान देते हैं,—और आप कहते हैं हमने भिक्षुकपर दया की। परमार्थसे विचारो तब आपने आत्मीय दुःखके दूर करनेका ही प्रयास किया। परन्तु लौकिक व्यवहार ऐसा है कि अमुक मनुष्य दरिद्रोंका महान उपकार करता है, किन्तु

है, वह भी अपना नहीं। पुत्रकी इच्छा छोड़ो, जो क्षयोपशम ज्ञान है, वह भी मकरालयाका नहीं, अत उसको भी अपना मत मानो।

(वैशाख कृ० १३)

दृढप्रतिज्ञ बनो। सत्य बातके कहनेमें संकोच मत करो। मनुष्यता का आदर न करनेसे अमानुष हो जाओगे। अमानुषका अर्थ है, जो विवेकज्ञानके पात्र न रहोगे। विवेकशून्य ही अनन्त संसारकी यातनाओंका पात्र होता है। तथा विवेकी उनको क्षमकर अनन्त सुखका पात्र होता है।

(वैशाख कृ० १४)

शान्ति क्या है ? यह निर्वचन करना अति कठिन है। आगममें जो लिखा है वह तो पुस्तकगतका अनुभव है। अथवा यह भी हम नहीं कह सकते, क्योंकि उनकी कथा वे जानें, परन्तु यह अनुभवमें आता है, जो इच्छाके अभावमें शान्ति मिलती है और यह भी अनुभवमें आता है, जो इच्छाके सद्भावमें व्यग्रता उत्पन्न होती है, वह व्यग्रता स्वस्थताको विच्छिन्न करती है। जब श्री बाईजीका स्वर्गवास हुआ और जब उनकी दग्धक्रिया समाप्तकर गृहपर आया तब एक दम उन्मत्त सदृश चेष्टा होगई। अन्तःकरणमें ऐसी लहर उठती थी, जिसमें एक क्षणभर भी विश्राम मनको न मिलता था। बहुत महाशय जो मेरे हितैषी थे अनेक उपाख्यानों द्वारा सान्त्वना देकर मुझे प्रसन्न करनेका प्रयास करते थे। परन्तु जैसे सचिक्कण घटपर जल स्थान नहीं पाता, उसीके सदृश मेरे उन्मत्त हृदय पर उन महानुभावोंके गम्भीर और भव्य उपदेशोंका अणुमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ता था। यहाँ तक वचनोंका व्यवहार होता था, जो तुमने यह लिखकर और श्री स्वर्गीय बाई चिरौंजाबाईका अद्वितीय समागम पाकर आत्मस्वरूपका अंश भी न पाया। कहनेका

तात्पर्य यह है कि मैं पूज्य स्वर्गीय माताके वियोगमें दश दिन उन्मत्तकी तरह रहा। पश्चात् यही उपाय हृदयगत हुआ, जो इस स्थानको ही त्यागना चाहिए और यहाँसे अन्यत्र चले जाना चाहिए। जान सरल न था, अनेक मनुष्योंसे सम्पर्क था, जिसमें श्री सिंघई कुन्दन लालजीका सम्बन्ध तो क्षार नीरकी तरह अत्यन्त प्रबल था। जिन खटाईके दुग्धका पानीसे पृथक् होना कठिन था, अन्तमें यही हुआ जो स्नेह बन्धनको छोड़नेके लिए उपेक्षाभावका प्रयोग करना ही पड़ा

आत्मामें अचिन्त्य शक्ति है। कर्माधीन हुआ उसके विकासमें न होनेसे संसारका पात्र बना हुआ है। इसमें मूल कारण पर पदार्थों निजत्व कल्पना है। यह कल्पना जबतक सम्यक्श्रद्धाका उदय नहीं होता, निरन्तर रहती है और उसके साथ राग द्वेष दो सुभट रहते हैं। इनके असंख्यात लोक प्रमाण विकल्प होते हैं, जो केवल श्रुतज्ञानके विषय हैं। (वैशाख वदी ३०)

आज गाड़ीपुराके मन्दिरमें प्रवचन हुआ, उपस्थिति उत्तम थी, परन्तु मेरा उपयोग अन्य सोचनेमें नहीं लगता था। क्योंकि जब मैं अपनेको देखता हूँ तब वक्तापनेमें जो गुण होना चाहिए उसका लेश भी मेरेमें नहीं। केवल वचनातिशय परका मान्य नहीं में स्वयं अपनी परिणतिसे ठगाया जाता हूँ। तत्त्वमें तो यह सिद्धान्त दृढतम है, जो न तो कोई किसीका सुधारक है और न उसके विपरीत है। मोहके उदयमें यह सब स्वांग होते हैं अतः इन नट वेषोंको त्यागकर परमार्थ मार्गमें आनेका प्रयास करो निरन्तर स्वात्माको शुद्ध करनेका प्रयत्न करो। पाण्डित्यकला क्षयोपशम और उदयाधीन है। जहाँपर परको सुधार मार्गमें लानेकी भावन हो जाती है, वहाँ आत्माको बन्ध है, जहाँ बन्ध है, वहीं नरकादि गतियोंमें परिभ्रमण अनिवार्य है।

(वैशाख सुदी २)

जिस भावसे करनेमें भय हो मत करो। अन्तरंग हो बहिरंगसे अनुकूल रहे। संसारमें मायाका व्यवहार है, कहना कुछ, करना कुछ, मनमें कुछ, यह बात हम स्वयं कर रहे हैं। प्रतिदिन संसार असारताकी बात करते हैं और लोगोंको समझानेका प्रयत्न करते हैं। स्वयं कुछ करते नहीं। लोगोंको यों समझाते हैं, माना हममें यह परिणमन हो गया हो।

(वैशाख सु० ३)

हम परके कर्ता बनते हैं, फल उसका आकुलता और आगामी संसार है। कर्तृत्व हम आत्माका स्वभाव नहीं, किन्तु वैभाविक विकार है। स्वके परिणामका कर्ता तो आत्मा है ही; किन्तु परका कर्तृत्व इसमें नहीं। जो परका कर्ता अपनेको मानता है। वही संसारमें परिभ्रमण करता है और अनन्त यातनाओंका पात्र बनता है।

जो काम करते हो उसमें अन्तरङ्ग लोभीपनाकी भावना है, वही नाच नचाती है। यदि लोभीपनासे नहीं वस मर्म नव भेद जाननेके पात्र हो जानका संकल्प हो गया। व्रतधारण करनेका तात्पर्य तो राग द्वेष दूर होनेका है। यदि व्रतधारण करनेपर राग द्वेष निवृत्त न हुए तब वह व्रत नहीं, पर वह तो आत्मवञ्चना है।

आत्म वञ्चनाका अर्थ उस व्रतका फल संसार निवृत्ति नहीं। मनुष्य पर्यायमें ग्राम इतर पर्यायोंकी अपेक्षा सब साधन अनुकूल हैं। देवोंमें शक्ति बहुत है, परन्तु उसका उपयोग वे केवल शुभो पयोगमें ही कर सकते हैं। व भगवान तीर्थंकरके जन्म कल्याणक उत्सवमें आते हैं और भगवानको सुमेरु पर्वतपर ले जाकर क्षीर समुद्रके क्षारसे भगवानका अभिषेक करते हैं। राज्यमहोत्सवके अवसर पर अनेक प्रकारके बाह्य उपकरणों द्वारा इतनी शोभा कर सकते हैं, जो हमको दुर्लभ है। तप (दीक्षा) कल्याणकके अवसरपर भग

भगवान्‌को लौकान्तिक देव आकर द्वादशानुप्रेक्षाका पाठ पढकर अपना नियोग पूर्णकर चले जाते हैं, किन्तु द्वादश अनुप्रेक्षा, वैराग्यकी जननी है, उसके नामके न पात्र नहीं होते। इन्द्र भगवान्‌को पालकीमें विराजमानकर … उठाकर अपनेको कृत कृत्य मानकर चले जाते हैं अणुमात्र भी त्याग नहीं कर सकते।

मनुष्य पर्यायवाला जीव यदि चाहे तब भगवान्‌के … ही दीक्षा धारणकर … नाश करनेका पात्र हो जाता है। अतः सब पर्यायोंमें ऐसी उत्कृष्ट पर्यायका फल यदि … धारण न किया तब व्यर्थ ही मनुष्य भवको गमाया। अहर्निश … करते हैं, जो मनुष्य पर्यायको पाकर व्यर्थ नहीं जाने … चाहिए। ऐसे-ऐसे उदाहरण सम्मुख रखेंगे जो मनुष्य पर्याय … पाकर संयम धारण न कर विषयोंमें लीन होकर आत्म … वञ्चित रहते हैं। वे राखके अर्थ चन्दन वनका भस्म और … उड़ानेके अर्थ चिन्तामणि रत्नको फेंक देते हैं। इत्यादि व्याख्या… द्वारा श्रोतागणोंको प्रसन्न करनेकी चेष्टा करते हैं, परन्तु स्वयं … मार्ग पर आरूढ नहीं होते। ऐसे वक्ताओंके द्वारा न तो … का कल्याण होता है और न अन्य समाजका ही कल्याण … है। हाँ, थोड़े समयके लिए तालीकी झंकार … नियमसे प्रवेश … जाता है। धन्य हो। धन्य हो।

(वैशाख सु० …

वक्ता जिस ध्येयको श्रोताओंके समक्ष पालन करनेका उपदेश देता है, उस पर स्वयं आरूढ नहीं। अतः उस उपदेशका … मात्र भी प्रभाव नहीं पड़ता, प्रत्युत हास्यरसमें परिणमन हो जाता है। सिनेमामें जो पाठ दिखाए जाते हैं उनसे जो विषय … करनेवाले होते हैं, उन पर एकदम प्रभाव पड़ जाता है, क्योंकि … हमारे अभ्यस्त हैं। योगशक्तिसे आत्मप्रदेश चञ्चल होने …

भी कषायके अभावमें स्थिति और अनुभागबन्ध नहीं होता। अतः यदि संसारसे मुक्त होनेकी अभिलाषा है, तो इच्छाओंको रोक दो।

(वैशाख सुदी ५)

आगममें यह कथन बार बार आता है, जो आत्मामें भाव परतत्स्वभाव पर उपलब्ध होते हैं। और न जिनकी नियत अवस्था तथा जो क्षणिक हैं, तथा व्यभिचारी हैं, तथा मन मिलाकर भी स्थायी आत्मामें रहनेको असमर्थ हैं। इनसे विरुद्ध ज्ञायक भाव ही एक ऐसा है जो आत्माके साथ नियमसे रह सकता है। अतः इन अनेक औपाधिक भावोंको छोड़ इसीकी उपासना करो।

आत्मामें अचिन्त्य शक्ति है, इससे कुछ आता जाता नहीं, जब तक उसका विकास न हो उसकी महत्ता नहीं। जैसे पौंड़ा (इक्षुदण्ड) में मिश्री शक्तिसे विद्यमान है। परन्तु साँठाको चूसकर कोई शुद्ध मिश्रीका स्वाद नहीं ले सकता। एवं आत्मामें केवलज्ञानके सद्भावकी शक्ति है, परन्तु जब तक मोहका अभाव न हो शुद्ध ज्ञानका स्वाद नहीं आ सकता, कर्ममिश्रित ज्ञानका ही स्वाद आवेगा। यद्यपि यह निर्विवाद है, जो ज्ञानमें ज्ञेय एक अंश भी नहीं जाता। यह सब कोई कह देता है, परन्तु अनुभवसे पूछिए क्या बोलता? ज्ञानमें मीठा नहीं गया और न अन्य इन्द्रियजन्य ज्ञानमें रूपादिका अंश भी गया, परन्तु फिर भी पौंड़ा मीठा है। उसे इन्द्रियजन्य ज्ञान विषय करता ही है।

(वैशाख सुदी ६)

शरीरकी निर्बलतासे कुछ आत्मकल्याणमें बाधा नहीं, बाधक तो हाय-हाय करना है। हाय हाय पाठसे कुछ नहीं मिलता, केवल

संक्लेशता होती है, जो पाप बंधका कारण है। अतः जो कल्याण चाहते हो, तब इसे छोड़ो। (वैशाख सुदी ७)

चित्त तो शान्त है। फिर भी भीतर न जाने कौनसी बला है, जो यथावसर प्रेरणा करती है कि अमुक कार्य करो, अमुक न करो। काम जहाँ पर पर पदार्थ होते हैं, वहीं होता है। परकी पदार्थ कुछ नहीं करता। स्वयं आकाशादि पदार्थोंके सदृश स्वाभाविक परिणमन करता है। यह बात तो जब बने जब आत्मा परकी हो जाय। यद्यपि आत्मा निज स्वरूपवाला है, उसी स्वरूपवाला रहेगा, यह अटल सिद्धान्त है। जैसे पुद्गल, द्रव्य रूप रस-गंध-स्पर्शवाला है, कितनी ही कैसी अवस्था उसकी हो रूप-रस गंध स्पर्शसे शून्य कभी न होगा। यद्यपि स्कन्ध शब्द-बन्ध सूक्ष्म स्थूल आदि अनेक अवस्था पुद्गल द्रव्यकी होती हैं, परन्तु वे रूपादिसे शून्य कभी नहीं होतीं। क्योंकि इनके साथ पुद्गल द्रव्यका अभेद है। यद्यपि पुद्गल विभावरूप भी परिणमता है, स्वभावरूप भी परिणमता है परन्तु रूपादि गुणोंको लेकर ही परिणमता है।

(वैशाख सु० ८)

सब तरफसे चित्तवृत्ति हटाओ और स्वाध्याय लगाओ। किसीसे गल्पवाद न करो, स्पष्ट उत्तर दो। अन्तमें यह समागम त्यागना पड़ेगा। जिसको त्यागना ही पड़ेगा उसे पहलेसे त्यागो। औदारिक शरीर नश्वर है, तब क्या वैक्रियिक नित्य है? दोनों ही नश्वर हैं, फिर इनमें नित्यबुद्धि त्यागो। इसीप्रकार आत्मानामक जो द्रव्य है, वह पुद्गलके निमित्तको पाकर अनेक अवस्थाओंका पात्र होता है और वे अवस्था विजातीय पुद्गल और जीव द्रव्यके सम्बन्धसे जायमान हैं।

(वैशाख सु० ९)

संयम गुणका यह अर्थ है जो राग द्वेषके वशीभूत होके आत्माकी परिणति पर पदार्थोंमें विचरण करती है। वह वहाँ न जाय, निजमें ही रह जाय। दुःखका मूल आकुलता है, आकुलताका मूल इच्छा है, इच्छाकी उत्पत्ति मोहसे होती है, मोहसे यह आत्मा परमें निजत्व और निजमें परत्व मानता है। यही अभेद बुद्धि संसारकी जननी है। इन्हींसे निज मान संसारमें परिभ्रमण करता है। केवल ज्ञानमें विकार और योगशक्ति विद्यमान है। परन्तु अष्टकर्मके सहचार बिना ये शक्ति स्वभाव रूपसे पड़ी रहती हैं, कुछ हलचल और चंचलता आत्मामें नहीं होती। इसीसे भगवान् नेमिचन्द्राचार्यने बन्धका कारण कषाय कहा है।

(वैशाख सु० १०)

विचारकी बात है जो अर्हंतादि पञ्च परमेष्ठीका तो श्रद्धान कर सके, एकदेश अन्तरङ्ग धर्मका पात्र हो सके, अनन्त संसारके कारण मिथ्यात्वका ध्वंस कर सके, किन्तु ढूँढ चूलेके मन्दिरमें न आ सके। श्रीचन्द्रप्रभ आदि तीर्थंकरका स्मरण कर सके, परन्तु उनकी जिसमें स्थापना है उस मूर्तिको न देख सके। यदि देखे तो मोहसे देखे। बुद्धिमें नहीं आता। पञ्च पापको त्याग सके, अणुव्रती हो सके अणुव्रतके उपदेष्टाओंके दर्शन कर सके। बलिहारी इस बुद्धिकी। (वैशाख सु० ११)

विवेकका महत्त्व आत्मदृष्टि ही जानता है, सब पदार्थ पृथक् सत्तालिए परिणमन कर रहे हैं। उनमें अन्यथा कल्पना ही अनर्थ सन्तानकी मूलजननि है। इसको जिसने उन्मूलन किया, वही विवेकका पात्र है। (वैशाख सु० १२)

परके सम्बन्धसे जैसे अग्नि घनघात सहती है, पर आत्मा नाना दुःखोंका पात्र होता है।

(वैशाख सु० १३)

यद्यपि श्री महावीरजीकी निरीहता जगत स्वीकार करता है। अहिंसाका प्रचार जितना जगतमें दृष्टिपथ है, श्री वीरके प्रभावका फल है। परन्तु जगत उनका उसका आदर नहीं करता, इसमें जैनियोंका दोष नहीं। जगत स्वयं इस धर्मके स्वरूपको अपनानेसे डरता है। महावीरका धर्म वही पालन करेगा जो निरीह होगा।

(वैशाख शु० १४)

यातनाओंके होनेमें मूलकारण परमें निजत्व कल्पना है। समयसार द्वारा स्व पर भेदविज्ञान हो जाता है। भेदविज्ञानके बाद आत्मा अपने स्वरूपमें रम जाता है, तथा परसे विरत हो जाता है। इसके पर निमित्तक विकल्प मिट जाते हैं।

(वैशाख शु० १५)

न हम किसीके हुए, और न कोई हमारा है। हम परको अपना मानते हैं, इसका अर्थ यह है हम परके हैं। न तो तुम किसीके उपकारी हो, और न अपकारी हो। मोहमें कल्पना कर व्यर्थ ही कर्ता बनते हो और उसका फल यह जगत प्रत्यक्ष है, जहाँ अनन्त दुःखोंके भोक्ता बनते हो। बुद्धिसे काम लो, परसे सम्बन्ध छोड़ो आप ही सुखके भाजन हो सकते हो।

(ज्येष्ठ कृ० १)

अनुभव तो कहता है कि आत्माकी शान्ति और ज्ञान आत्मामें ही है। हम उसे अन्यत्र अन्वेषण कर रहे हैं। औदयिक भावोंसे लेकर क्षायिक भावोंकी उत्पत्ति आत्मामें ही होती है। हम उसे अन्यत्र मान रहे हैं। क्रोधादि कषाय आत्माको दुःखदायी हैं। हम क्रोधके बाह्य कारणोंको त्याग करनेकी चेष्टा करते हैं।

(ज्येष्ठ कृ० ४)

संसारमें शान्ति सर्वत्र नहीं, यह जन-साधारणकी धारणा है।

यह कहना आपातसे है। संसार वस्तु बाह्य द्रव्य नहीं। अथात संसार और मोक्ष यह दोनों आत्माके परिणाम विशेष हैं। इसीसे गृद्धपिच्छने "संसारिणो मुक्ताश्च" दो प्रकारसे जीव स्वरूप बतलाया, एक संसारी और एक मुक्त। जिनके रागादि दोष विद्यमान हैं वे संसारी और जो इन दोषोंसे मुक्त हो गए वे मुक्त जीव हैं।

(ज्येष्ठ कृ० ६)

जिस कार्यके करनेमें अन्तरंगसे संक्लेश हो उसे मत करो। ऐसा कार्य न करो जिससे आगामी पश्चात्ताप हो। पापकी जड़ अज्ञानता है।

(ज्येष्ठ कृ० ८)

पदार्थ तो अन्यरूप होता नहीं और न अन्य पदार्थ आत्मरूप होता है। फिर भी हमारी अनादिसे यह धारणा बनी हुई है, जो परको अपना मानते हैं और आपको परका मानते हैं। यह कथा चेतनमें ही घटती है। अचेतन पदार्थोंमें न तो कल्पना है, और न कोई तज्जन्य दुःख है।

(ज्येष्ठ कृ० १०)

संसारका प्रभाव इतना विशेष है, जो उसमेंसे उत्तम मानव इसके चक्रसे मुक्त होनेको तरसते हैं। कहनेवाले बहुत हैं परन्तु माननेवाले बहुत कम हैं।

(ज्येष्ठ कृ० १२)

पर पदार्थका परिणमन अपने अधीन नहीं। अन्यथा चिन्तन करना महती अज्ञानता है। प्रायः प्राणी अधिकांश इसीसे दुःखी रहते हैं, जो संसारमें हमारे अभिप्रायके अनुसार परिणमन हो। यह होना असम्भव है। पदार्थोंका परिणमन स्वचतुष्टयके अनुरूप होता है। उसे अन्यथा करनेमें आज तकन कोई समर्थ हुआ न होगा। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको देखकर मनुष्य उपादेय कार्यको निमित्तोंमें

आरोप पर होता है। जैसे—मृत्तिकामें घट पर्याय होता है। मृत्तिका ही उसका कर्त्ता है, घट कर्म है, परन्तु व्यवहारमें कुम्भ कार घट करोति अनुभवति च।' तत्त्वमें अन्तर्व्याप्यव्यापक भावके द्वारा विचार करो तब मृत्तिकाके द्वारा ही घट किया जाता है और मृत्तिका द्वारा घट पर्याय अनुस्यूत रहती है। बाह्य व्याप्य व्यापक भावके द्वारा विचार करो तब मृत्तिकाके द्वारा ही घट किया जाता है, और मृत्तिका हीमें घट पर्याय अनुस्यूत रहती है। बाह्य व्याप्य-व्यापक भावके द्वारा कलश पर्यायोंकी उत्पत्तिके अनुकूल व्यापारको करनेवाला कुम्भकार है और कलशकृत जल पानके उपयोग जन्य तृप्तिका अनुभवन करनेवाला कुम्भकार ही है। फिर भी लोकमें यह व्यापार होता है जो कुलाल घटको करता है और उसीका अनुभव करता है। परमार्थमें न तो कुम्भकार घटका कर्त्ता है और और न भोक्ता है। अपने परिणामोंका न कर्त्ता है और न भोक्ता है। निमित्त-नैमित्तिकी अपेक्षा कर्तृ-कर्मका व्यवहार मात्र होता है। इसका यह अर्थ नहीं जो निमित्त कुछ करता ही नहीं। यद्यपि यह सिद्धान्त है, जो कोई पदार्थ किसी पदार्थमें अपना न तो द्रव्य देता है और न गुण-पर्याय देता है। किन्तु ऐसा नियम है, जो उपादान कारण निमित्तकी सहकारिताके बिना स्वकार्य करनेमें क्षम नहीं होता। जैसे—मोक्षपर्याय केवल आत्मा ही में होती है किन्तु मनुष्यायुका अभाव भी उसमें सहकारी कारण है। जीव ऊर्ध्व गमन करता है, किन्तु अधर्म द्रव्य उसमें सहकारी कारण है।

(चैत्र वदी १२)

प्राचीन निर्ग्रन्थ अभ्यासके बिना हमलोग अध्यात्म ज्ञानसे वञ्चित रहते हैं। अध्यात्म ज्ञान बिना हमारी प्रवृत्ति बाह्य परिग्रहमें निरन्तर संलग्न रहती है। उन्हींके अर्जन और रक्षण करनेमें पर्यायका उपभोग रहता है। निरन्तर आर्त रौद्र परिणामोंकी

शृङ्खलाबद्ध प्रवृत्ति रहती है। इस तरह यह मनुष्य जीवन व्यतीत हो जाता है। यह तो मैंने बहुभाग परकी कथाका उल्लेख किया। केवल बाह्य कार्योंसे यह हमारा लिखना है। परमार्थसे उनकी आभ्यन्तर प्रवृत्तिका हम यथातथ्य निरूपण नहीं कर सकते।

(चैत्र वदी १३ सं० २०००)

जहाँ तक बने आत्माको पवित्र बनानेकी चेष्टा करो। पवित्रता ही संसार मूलका उच्छेद करनेवाली शक्ति है। अपवित्रताकी विरोधिनी शक्ति पवित्रता ही निर्धारित है। हम लोग बाह्य पदार्थों को संसारका कारण मान रहे हैं।

कल्याणके लिए तो—

'रत्तो बधदि कम्म मुचदि जीवो विरागसपत्तो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज॥'

यही अभिप्रायको हृदयमें धारणकर श्री शुभचन्द्र स्वामीने 'ज्ञानार्णव' में लिखा है।

'रागी बध्नाति कर्माणि वीतरागो विमुच्यते।
एषो जिनोपदेशोऽयं संक्षेपाद्बन्धमोक्षयोः॥'

यह सब कुछ पढ़ लेते हैं और सभामें व्याख्यानका अवसर आता है तब बाह्य रूप बनाकर प्रतिपादन करनेमें रञ्चमात्र भी त्रुटि नहीं रखते। परन्तु दशा यही रहती है—

'जिस शिशु नाचत आप न राचत लखनहार बौराया'।

ठीक दशा यही हमारी प्रतिदिन होरही है, अतः जिन्हें कल्याण करना हो, इन वक्तव्योंको आत्मीय परिणामोंमें लाना चाहिए। अन्यथा नेत्रविहीनको लालटेन और नपुंसकको सुन्दर स्त्रीकी तरह भावशून्य ज्ञानीका ज्ञान उपयोगमें नहीं आता।

(ज्ये० वदी १४)

किसीके व्यवहारसे सर्वथा मोहित मत हो जाओ। अनादि-कालसे परके व्यवहारहीमें तो आत्माका अस्तित्व मानकर नाना यातनाएँ पाईं। यह यातनाएँ परजन्य नहीं, तुम्हीं इसके अपराधी हो। और जब तक इस अपराधको न त्यागोगे, कदापि सुखके पात्र न होगे। सुखका अर्थ यही है, जो आत्मामें आकुलता न हो।

(ज्ये० कृ० ३०)

सुननेवाला और वक्ता महाशयमें इतना ही अन्तर है कि वक्ता ज्ञानी है, श्रोतालोग अज्ञानी हैं। जो जितना वक्ता कथन करता है, श्रोता भी उतने मात्र ज्ञानी ही हो जाते हैं। कर्तव्यपथमें वक्ता और श्रोताओंमें विशेष भेद नहीं देखा जाता। अस्तु—मैं तो निजकी कथा कहता हूँ, जो श्रोताओंको कथा मैं कह ही क्या सकता हूँ? परन्तु हमारी आत्मपरिणति तो स्वच्छ नहीं हुई। मेरेको इसका महान् हर्ष है, मैं अपनी त्रुटिको अनुभव करता हूँ। जन्म बीत गया, भीतरकी परिणति स्वच्छ नहीं हुई। क्षुल्लकपद केवल लँगोटी और एक खण्ड वस्त्रसे नहीं होता। इसकी प्राप्ति अन्तरङ्ग कषायका उस पदके अनुकूल अभाव होना चाहिए। यद्यपि यह निर्विवाद है, जो हमारे ज्ञानमें यह नहीं आता जो हमारे एकादश प्रतिमाके अनुकूल कषायका अभाव है, फिर भी बाह्य परिणामोंसे अन्तरङ्ग परिणामोंकी सत्ताका प्रत्यय होता है। अनुमान सम्यक् भी हो सकता है, विपर्यय भी हो सकता है। फिर भी चरणानुयोगकी पद्धतिके अनुकूल ही लोकमें व्यवहार होता है। जो कुलसे जैन हैं और यदि प्रवृत्ति अन्य धर्मके अनुकूल है तब वह जैनधर्मके अनुकूल सम्यग्दृष्टि नहीं।

(ज्ये० शुक्ल ३)

कल्याणके लिए निमित्त कारण अनुकूल होना चाहिए। यद्यपि निमित्त कारण कुछ बलात्कार नहीं करता फिर भी कार्यकी उत्पत्ति

उसमें सद्भाव नियत नहीं होता। यथा चौदह गुणस्थानमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी पूर्णता होगई, फिर भी आयुके अभावकी आवश्यकताका सद्भाव अपेक्षित ही है।

(श्र० पृ० ८)

जो शास्त्र उपयोगमें लाओ उसे सम्यक् जानकर स्वाध्याय करो। किसी कार्यका करनेकी चाह आवाह है, तब उसरूपसे उसमें अपनेको अर्पित करदो। किसी कार्यके करनेके अनन्तर अपनेको भूल जाओ, अनायास कार्य हो जायगा।

(श्र० पृ० ९)

चित्तको उदार बनाओ। परकी आशा छोड़ो, आराधना अपनी करो। आत्मगुण दया करो। परके दोष देखनेका जो स्वभाव बना रक्खा है उसे त्यागो। कषाय क्षायकभावके बढ़नेसे ज्ञाता दृष्टा नहीं हो जाओगे, परम इष्टानिष्ट भावोंको त्यागो।

भारतवर्षमें पर्वके दिनोंमें विशेष रूपसे दान करते हैं और उस दानसे पुण्य मानते हैं। पुण्य होनेका कारण मन्द कषाय है और यह होना कोई कठिन वस्तु नहीं परन्तु जिसको आज संसार पुण्य मान रहा है वह यही तो है—जो परोपकार करना, दुःखित प्राणियोंके कष्ट दूर करनेके भाव होना, परमात्माकी उपासना करना अथवा जो परमात्मा पदकी प्राप्तिमें संलग्न हैं उनका वैयावृत्य करना या उन्हें आहारादि प्रदान करना इत्यादि अनेक कारण पुण्य सम्पादनके हैं। पर पुण्यका यही है जो बाह्य कारण ऐसे मिल जावें जिनसे हम लौकिक मनुष्योंकी दृष्टिमें विशेष माने जावें। वास्तवमें जिन जीवोंने उपादेय बुद्धिसे पुण्यका सञ्चय किया है, प्रथम तो जो मनुष्य पुण्यसे विशेष सुखकी वाञ्छा करते हैं, उन्हें स्वाभिप्रायके अनुकूल उतना फल नहीं मिलता। जो मिलता है, वह सुखका जनक नहीं, सुखका लक्षण तो निराकुल परिणति है

पदार्थोंके भोगनमे सुख है नहीं, सुख तो आत्माका गुणविशेष है। उसका विकास आत्मामे ही होता है। जब हम किसी कार्यकी इच्छा करते हैं, तब कालमे हमारी आत्मामे अशान्तिका उद्वेग होने लगता है और हम निरन्तर बेचैन रहते हैं। जब हमारा इच्छित कार्य हो जाता है, उस कालमें हम सुखी हो जाते हैं। उसका कारण जो हमारे कार्य करनेकी इच्छा थी, वह आकुलताकी जननी थी। कार्यके होते ही इच्छा निवृत्त होगई, वही शान्तिका जनता है। इसमे यह निष्कर्ष फलित हुआ जो इच्छाके अनुकूल कार्य सम्पादन कर शान्ति होनकी अपेक्षा आकुलताकी जननी इच्छा ही की उत्पत्ति न हो। यह मार्ग प्रथम मार्गकी अपेक्षा प्रशस्त है, अतएव मोक्षमार्गमें निर्जराकी अपेक्षा संवरकी उपयोगिता बहु अंशमे श्लाघ्य है। 'संवरो हि मार्गः'। भगवान्की आज्ञा ही मार्ग है। भगवान्की आज्ञा क्या है? परम वैराग्य धारण करना हो तो है।

वैराग्य ही तो मोक्ष मार्गोपयोगी वस्तु है। सम्यग्ज्ञान क्या वस्तु है? वस्तुरूप ही तो पड़ता, जो आत्माका अनादि कालका विपरीत अभिप्राय था उसका त्याग अर्थात् उसका न होना। जो होता है उसकी तो निर्जरा होती है न होनका नाम संवर है। यदि कल्याण चाहते हो तब रागद्वेषरूप परिणति न होने दो। उसमा उपरान्त तो औदयिक भाव हैं, उनमे निरन्तर त्यागी। अनादिसे जो इसका सम्पर्क है, उसके सहवाससे कौनसी अद्भुत निधि पाई। केवल जड़ात्मक पुद्गल पिण्ड ही तो पाया। पुद्गल पिण्ड भी आपके रागद्वेषरूप भावोंका संसर्ग पाकर उनकी अधम दशाको प्राप्त हुआ जिसे न तो शब्दके द्वारा यह जीव श्रवणेन्द्रिय द्वारा जानना चाहता है, और देखनेसे भयभीत होता है। घ्राणेन्द्रिय सूँघना नहीं चाहता, रसनेन्द्रिय स्वाद लेना नहीं चाहता, स्पर्श

नेन्द्रिय स्पर्श करनेसे भागती है। यह सब तुम्हारा अनुचित कर्तव्यता ही का तो फल है। अतः अन्तिम यही कहना है, जो आत्माको इन अनादि बन्धनोंसे मोचन करनेकी अभिलाषा है तब सबरका आदर करो। सबसे प्रथम यह प्रयत्न करो, जो इस जड़ात्मक शरीरसे चैतन्यका कल्पना है उसे त्यागो। इसे त्यागो इसका अर्थ यही है, जो शरीरमें आत्मबुद्धिकी उत्पत्ति न हो। भेद ज्ञानका यही तो अर्थ है, शरीरको शरीर और आत्माको आत्मा समझो। अन्य शब्दमें यही तो अर्थ निकला कि शरीरमें आत्म बुद्धि न हो और आत्मामें शरीर बुद्धि न हो।

(जेठ सुदी १०)

'कर्मफलानुभवन निर्जरा' जो कर्म उदयमें आवे, अपना फल देकर चला जावे यह तो होता ही है। ऐसी निर्जरा प्राणी मात्रके होती है। किन्तु जिन जीवोंके फल भोगनेके समय राग द्वेष नहीं होते, उनके आगामी यह बन्धनके नहीं होते, उनकी निर्जरा प्रशस्त है।

(जेठ सुदी ११)

जो उपयोग व्यर्थके विकल्पोंमें लगाते हो उसे आत्माकी ओर लगाओ। इसका तात्पर्य यह है जो परकी चिंतामें जाता है वह शान्तभावमें परिणत हो जावे। परमार्थ तो यह है। मोह मदिरा पानकर शान्तिकी आशा करना, आगीके पास बैठकर शीत स्पर्शकी आशा करनेके तुल्य है।

संसारी जीव सब अर्जित कर्मोंके फलोंको भोगते हैं। किन्तु जब इस जीवके शुभोदयसे स्व पर विवेक हो जाता है, उस समय संचित कर्म उदयमें आवेगा। परन्तु रागादिक अभावमें अग्र कर्मबन्धन होनेसे वह निर्जीर्ण हो जाता है। अतः जिन महान् आत्माओंको स्वीय कल्याण करना है उन्हें रागादि भावोंके

होते हुए भी उनमें अनास्था रखना ही आगामी कर्म बंधमें साधक न पडेंगे। जैसे-सम्यग्दर्शन होनेके अनन्तर अप्रत्याख्यानादि कषायोंके उदयमें जो होनेवाले भाव हैं व अवश्य उदयमें आवेंगे और उनका कार्य असंयम भी रहेगा। परन्तु अन्तरङ्ग श्रद्धामें उनमें वह आत्मीयता नहीं, जो मिथ्यादर्शनके सद्भावमें थी। इसीसे उनसे वह आगामी बुरा चालका बन्ध नहीं जैसा मिथ्यादर्शनके कालमें होता था।

(जेठ सुदी १२)

प्रातःकाल गर्मीका प्रकोप शान्त होजाता है। इसका कारण रात्रिका चन्द्रोदय होता है। अथ चन्द्रमाकी किरणें शीत प्रधान हैं। उनके अभाव रूप दिनमें समग्र प्रदेश होजाता है। वह क्रमश शीत निमित्तको पाकर शीतल हो जाता है। एवं आत्मा मोहादिक कर्मोंके निमित्तोंको पाकर रागी द्वेषी होता है और यही आत्मा आत्मीय पुरुषार्थके द्वारा वीतराग होगा।

मंगलका दिन मंगलकारक हो। कार्य ऐसा करो जिसमें मंगल स्वयं हो, मंगल जिससे मंगल न होगा। मंगलके योग्य कार्य करनेसे मंगल होगा। मंदिर जानेसे, भगवानकी भक्तिसे भगवान् न होगे। जिन कार्योंके करनेसे श्री शान्तिनाथ महाराज भगवान हो गए, व कार्य करो, गल्पवादमें दिन मत व्यय करो।

(जेठ सुदी १४ मंगलवार)

मन्दिर जानेका यह तात्पर्य है, जो गृहस्थ सम्बन्धी वार्तोको करनेका वहाँ अवकाश नहीं। तथा मंदिरोंमें शास्त्र भण्डार रहते हैं, अनेक स्वाध्याय प्रेमी जन वहाँ पर रहते हैं। तत्त्वचर्चा भी होती है, तथा प्रवचन भी होता है। इन सुन्दर अवसरोंको पाकर स्वाभाविक रुचि आत्माकी निज परिणतिकी ओर लग जाती है। अनादि कालमें आत्माका सम्बन्ध इस पुद्गल द्रव्यके साथ हो

दोनों कर्म और आत्मा कर्म तथा तन्त्व सम्बन्ध कर्मसे कर्म यथार्थ तो यथार्थ ही है, परन्तु मोही जीव इसका उपयोग नहीं करते। केवल पराश्रय होकर आत्मीय कल्याणसे वञ्चित रहते हैं। कल्याणका मार्ग स्वाश्रित है। कल्याण वस्तु क्या है? पर पदार्थके सहवाससे छूट जाना ही है। आत्माका शरीरसे सम्बन्ध है, उसे निज मानना ही संसार है।

कलकत्तावाले बाबू छोटेलालजी साहब तथा बाबू नन्दलालजीकी साहबकी इस ओर अच्छी दृष्टि है। आप साहित्यके महान् अनुरागी हैं। आप यह चाहते हैं। जो मानवमात्रके हृदयमें जैन धर्मका विकास हो। जैनधर्म तो व्यापक धर्म है। हम किसीका धर्म देते हैं यही बड़ी भारी भूल है। धर्म तो आत्माकी वह परिणति विशेष है जो आत्माको संसार बन्धनसे विमुक्त कर देती है। यह परिणति शक्तिरूपसे जीवमात्रमें है। इसका आंशिक विकास नारक, तिर्यञ्च, मानव, देवमें होता है, परन्तु संज्ञी होना चाहिए। तिर्यञ्चगतिको छोड़ शेष तीन गतियोंमें जीव संज्ञी ही होते हैं। तिर्यञ्चगतिमें असंज्ञी भी होते हैं, संज्ञी भी होते हैं। अतः संज्ञी तिर्यञ्चमें भी आंशिक धर्मकी योग्यता होती है। वह धर्म जिससे संसार बन्धन छूट जाते हैं, रत्नत्रयात्मक है। अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप है। उसमें भी आत्माकी श्रद्धा आत्माका ज्ञान तथा आत्मामें ही चर्या ये रत्नत्रय हैं। यह धर्म निरपेक्ष आत्मामें ही विकसित होता है। यह धर्म किसीकी अपेक्षा न रखकर ही आत्माको मोक्षमें ले जाता है। मोक्ष कोई स्थान विशेषका नाम नहीं। वह इस रूप आत्माकी अवस्थाविशेष है। इन्हीं महापुरुषोंकी पञ्च परम गुरुरूपसे उपासना होती है। जबतक ज्ञान गुणका जघन्य परिणमन है, तबतक आत्मामें अवश्यम्भावी बन्ध है। यह अवस्था 'यथाख्यातचारित्रावस्थाया अधस्तादवश्यंभाविराग सद्भावात्'

होता है। अत जिन्हें वश ऋष्ट नहीं, उन्हें अवश्य इन कर्मादि शत्रुओंको त्याग देना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है, जो धर्म मात्र आत्माको पात्र बनाता है। उन्हें तो इस बाह्य धर्मोंकी आवश्यकता नहीं। परन्तु उच्च भावोंके अभिलाषा होकर भी पात्र नहीं। वे उन्हीं गुणोंके लाभार्थ पञ्च परमेष्ठीकी उपासना करते हैं, जैसा कि लिखा है—

वन्दे तद्गुणलब्धये' इस अन्तर धर्मका पालनके लिए ही हम लोग मन्दिरादि निर्माण कराते हैं। जो मन्दिर निर्माण करते हैं उनमें इसी महानुभावका बिम्ब रहता है। उसको देखकर हम इस महापुरुषके गुणोंका स्मरण कर आत्मलाभ करनेकी चेष्टा करते हैं। मूर्तिको निमित्त मानकर ही तो हम इन गुण निकाम होनेका बुद्धिपूर्वक प्रयत्न करते हैं। इससे यही तो निकला जो गुण तो हमारी आत्मामें है। परन्तु जब कार्य होता है, तब उपादान और निमित्त कारणके सद्भावमें होता है। अत लोकमें देखा जाता है कि कार्यके उपादानमें मनुष्य निमित्तकारणों को भी आश्रय देते हैं। तब यह क्या न्याय है जो आपलोग तो आत्मधर्मके विकासके अर्थ श्रीजिनबिम्ब का दर्शन कर सकें और अस्पृश्यादि शूद्र न कर सकें। आप श्रीपरमेष्ठी का मन्त्र जाप कर सकें और हरिजन इस मन्त्र का जाप न कर सकें।

(प्रथम आषाढ़ वदी ३)

आत्मा की उस अवस्था का नाम परमात्मा है, जिसमें घातिकर्म का नाश होकर स्वच्छ परिणमन ही जहाँ होता है। वह परमात्मा दो रूपसे कहा जाता है। घातिया कर्म का अभाव तो दो

गया, किन्तु अघातिया कर्म अभी विद्यमान हैं। उसे तो सकल परमात्मा कहते हैं। जहाँ घातिया-अघातिया उभय कर्म नहीं रहे वह निकल परमात्मा कहा जाता है।

शरीर की अवस्था शिथिलता का पात्र हो रही है इसके अनुकूल मति-श्रुतज्ञान भी शिथिलताके सम्मुख है। परन्तु इतनी दुरवस्था होने पर भी कषाय की शिथिलता नहीं होती। इसका कारण हमारा निरन्तर कल्पना है। यद्यपि वृद्धावस्थामें इन्द्रियोंकी शिथिलता से तद्विषयक अनुराग स्वभाव से ही मन्द रहता। किन्तु मर्नसे मरता व्याधि लोकेषणा अपना प्रभुत्व आत्माके ऊपर जमाए हुए है। यद्यपि इसमें आय-व्यय कुछ नहीं, किन्तु कषायोंके उदयमें यही तो होगा, अतः इसको दूर करने का प्रयत्न करो। कोई कठिन कार्य नहीं। अपने स्वरूप का विचारो, ज्ञाता दृष्टा रहो। आत्मामें अनन्त गुण हैं, किन्तु एक चैतन्य गुण ही ऐसा है जो उनके सत्त्व को बताता है। यदि ज्ञानमें वस्तु न आवे तब होकर भी नहींके तुल्य है।

(प्रथम अषाढ़ वदी ४)

आज प० धनकीन दमीक स्वर्गवास के उपलक्ष्यमें आठ बजे सभा हुई। प० कमलकुमारजीने उनके गुणोंका सम्यक्रीतिसे वर्णन किया। पुनरपि यह मनमें आया, एक दिन इस शरीरका वियोग होगा। जब तक आयुकर्मका सम्बन्ध है, निवृत्तिमार्गको अपनाओ, गल्पवादमें दिन मत व्यय करो। समीचीन शब्दोंकी जो परिपाटी उपयोगमें लाते हो, इस वचन प्रणालीके साथ कुछ उस प्रणाली को भी अपनाओ जो श्रेयोमार्गकी सहचरी है।

(प्र० आषाढ़ वदी ५)

आज मंदिरमें दर्शन करनेके अनन्तर यह मनमें कल्पना आई, जो मन्दिर बना है। ईंट, चूना, पत्थर हीसे तो इसका निर्माण हुआ। इसमें जो मूर्तिमण्डल है वह भी पत्थर आदिसे बने हुए समचतुरस्रसंस्थान मनुष्याके आकार हो तो हैं। उनमें मनुष्योंद्वारा ही श्री आदिनाथसे लेकर श्रीमहावीरस्वामी तक तीर्थंकरोंकी स्थापना है। तब कल्पना करो, जो मनुष्य जन्म भगवानकी स्थापना करले, यदि वह चेतनमें आप भगवानका निक्षेप करले तो कौन इसको वारण कर सकता है?

जो आत्मा अपनी शक्तिसे पाषाणकी मूर्तियोंमें भी श्रीआदिनाथ आदि चतुर्विंशति तीर्थंकरोंकी स्थापनाकर पाषाणोंमें पूज्यता ला देवे क्या यह जीव अपनेको भगवान नहीं बना सकता? परन्तु खेद है, हम अपनी शक्तिका अनादिसे सदुपयोग नहीं करते। यही कारण है कि चतुर्गतिके पात्र बन रहे हैं।

(प्र० अषाढ़ वदी ६)

आत्मा तो सभी ही अपने अस्तित्वका स्वीकार करते हैं। शरीरको आत्मा कैसे मान सकते हैं? जिस घरमें हम रहते हैं, कोई भी ज्ञानी उसे अपना स्वरूप मानता हो ऐसा नहीं देखा गया है। घर चूता है तब घरमें खप्पर लगाता है, शरीरमें नहीं।

प्रवचनमें सांख्य सिद्धान्तकी परिपाटी दिखाई गई। यह लोग कर्मप्रकृतिको ही कर्ता मानते हैं और भोक्ता आत्माको मानते हैं। देखो, कर्म ही तो आत्माको अज्ञानी बनाता है। ज्ञानावरण कर्मके उदयसे ही तो ज्ञानका विकास रुक जाता है तथा कर्म ही आत्माको ज्ञानी बनाता है। ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमके बिना ज्ञान नहीं होता। इसी तरह कर्म ही आत्माको निद्रा उत्पन्न करता है। दर्शनावरण कर्मके उदयके बिना निद्रा नहीं, एवं आत्माको जगाता है, क्योंकि दर्शनावरण कर्मके क्षयोपशमके होनेपर ही आत्माकी जागृत

अवस्था होती है। इसी तरह कर्म ही आत्माको सुखी करता है। सातावेदनीय कर्मके उदयसे ही तो सुख संवेदन आत्मा करता है। इसीतरह कर्म ही आत्माको दुखका संवेदन कराता है, क्योंकि असातावेदनीयके उदयके बिना दुख संवेदन नहीं होता। इसीतरह कर्म ही आत्माको मिथ्यादृष्टि बनाता है। दर्शनमोहका उदय होने पर ही आत्मामें मिथ्यादर्शनका उदय होता है। इसी तरह कर्म ही आत्माको असंयमी बनाता है, क्योंकि चारित्रमोहके बिना असंयमभावकी उत्पत्ति नहीं। इसी सरणीके अनुसरण करनेसे कर्म ही आत्माको स्वर्ग नरक तथा तिर्यग्लोकमें भ्रमण कराता है। आनुपूर्वी कर्मके उदय होनेपर ही तो यह प्रक्रिया बनती है। इसीतरह कर्म ही कर्ता है, कर्म ही धर्ता है, कर्म ही दाता है, कर्मकी उदयदशाके बिना पत्ता नहीं हिल सकता। कहां तक कहें, जो शुभ अशुभ कर्म यह जीव करता है, वह सब चारित्रमोहके तीव्र-मन्द उदयका ही तो कार्य है। जिस वास्ते यह व्यवस्था हो रही, वह सब स्वतन्त्ररूपसे कर्म ही करता है। कर्म ही देता है जीव यावत् हैं, ते सर्व अकर्ता हैं। यह हमारा स्वमत निश्चय है। हम ही इस तत्त्वका प्रतिपादन नहीं करते, किन्तु जिनेन्द्र भगवानकी श्रुति भी इस ही अर्थको कहती है। तथाहि—देखो, जब पुरुष नामक कर्मका उदय आत्मामें होता है तब इस जीवको स्त्रीविषयक भोग करनेकी अभिलाषा होती है। जब स्त्रीवेदका उदय होता है तब इस जीवको पुरुषसे रमनेकी अभिलाषा होती है। तथा जब नपुंसकवेदका उदय होता है उस कालमें दोनोंसे रमण करनेकी अभिलाषा होती है। ये तीनों मोहनीय कर्मके ही तो भेद हैं। इससे सिद्ध होता है कि कर्म ही अब्रह्मकी अभिलाषाका कर्ता है। आत्मा अब्रह्मका कर्ता नहीं। इसीप्रकार जो परका घात करता है अथवा परके द्वारा घाता जाता

है, कर्ता क्या है? जब परघात नामकर्मका उदय आता है तब यह क्रिया होती है, और इसका कर्ता नहीं। इस प्रकार यह सांख्यका सिद्धान्त जो जैन सिद्धान्तके मर्मको नहीं जाननेवाले श्रमणाभास हैं वे ही इसका प्रतिपादन करते हैं। उनके अभिप्रायसे जीव सर्वथा अकर्ता ठहरा। प्रकृति ही कर्ता हुई। कई सम्यग्दृष्टि इस दोषका इस प्रकार निवारण करते हैं कि आत्मामें अज्ञानादि भाव होते हैं, परमार्थसे इन भावोंका कर्ता तो प्रकृति ही है। और आत्मा जो है, वह अपना कर्ता है। इससे आत्मा कर्ता है इस श्रुति का लोप होने का कोई अवसर नहीं, यह कहना भी अयुक्त है। क्योंकि आत्मा द्रव्यरूपकर नित्य है असंख्यातप्रदेशी है। नित्य जो है, वह कार्य नहीं होता, क्योंकि कृतकत्व और नित्यत्व धर्मों का परस्परमें विरोध है। अवस्थित असंख्यात प्रदेशवान् जो आत्मा है, उसके जैसे पुद्गलस्कन्ध की तरह न तो प्रदेशों का आगमन होता है और न निकलना ही होता है। यदि ऐसा होने लगे तब निर्व्यय भाव ही मिट जाय।

(प्र० असाढ़ वदी ०)

यद्यपि यह आत्मा ज्ञानगुणका पिण्ड है। किन्तु साथमें अनादि कालसे आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, इन चार संज्ञाओंसे दुःखी रहता है। कम बोलो, इसके साथ कायव्यापार भी कम करो। तथा साथमें मनोव्यापार भी कम करो। इसके साथमें कषाय भी कम करो, आत्माको आकुलताकी करनेवाली कषाय है। जिनने कषाय पर अधिकार न किया, वे बुद्ध नहीं, संसारी जीव हैं। संसारका मूल कारण कषाय है, यही महती गल्ती है।

अनादि कालसे जो वासना आहारादि विषयक आत्मामें अभेद रूपसे अपना अस्तित्व बनाए है और तुम उन वासनाओंमें इतने लिप्त हो, जो निजके ज्ञानसे शून्य हो रहे हो। आपके

स्वतन्त्र उसका ज्ञान होता है, किन्तु सब आप उनसे अपना अस्तित्व मान रहे हो। यह वासना विकारजन्या है, तुम्हारा अस्तित्व स्वयं सिद्ध अनादि निधन है।

(आषाढ़ कृ० १२)

यहाँ तो यह कायरता और कहाँ आगमकी अगाधता, जो वस्तु स्वरूपका निरूपण कर कायरोंको भी मोक्षमार्ग पथका पात्र बना देता है। जो आगमाभ्यास करते हैं और उस प्रतिपाद्य अर्थ पर आरूढ़ होते हैं, वही महापुरुष आगमके रचयिता होते हैं।

(आषाढ़ कृष्ण ३०)

सब मनुष्य कहते जगत मायाका जाल है। जगतसे तात्पर्य चतुर्गति है। यहाँपर जो पदार्थ दृष्टिगोचर देखे जाते हैं वे सब पौद्गलिक हैं। इन्हें हम अपना मानते हैं। हम क्या मानते हैं? संसारकी यही पद्धति है। इस पद्धतिका जिनने ध्वंस किया उन्होंने निज पाया। निज पाना ही संसारका अन्त करना है।

(आषाढ़ शुक्ल १)

यदि अन्तरंग गृद्धता है तब त्यागी होना सभाजको भार है। आत्मा ज्ञाता द्रष्टा है, इसका उपयोग करो। उसमें हर्ष-विषाद मत करो, अन्यथा जो उदय आ आया है, निर्जीर्ण होकर भी आगामी बन्धका जनक होगा। जैसे—गज स्नान तो करता है, स्नानसे पूर्व धूलिका सम्बन्ध विलग होजाता है। परन्तु फिर नवीन धूलिका सूंडके द्वारा सम्बन्ध कर लेता है और प्राचीन दशाका भोक्ता होता है। ज्ञानी जीवका यह निर्मल विचार होता है जो उदयगत कर्मको ऋण समझकर भोगकर ही उसका पिण्ड छुड़ाना चाहिए। आत्मा एक स्वतन्त्र पदार्थ है, इसके आभ्यन्तर अनन्त शक्तियाँ हैं। जिनमें ज्ञान भी एक शक्ति है। उसमें जो पदार्थ आता है उसे यह जानता है। इतना काम तो ज्ञानका है, परन्तु

मोही जीव इस ज्ञेयको अपनेसे अभिन्न मानकर मिथ्यादृष्टि बन जाता है। इसीके प्रभावसे जो पदार्थ अपने सम्मुख आते हैं श्रद्धानुरूप किसीसे राग और किसीसे द्वेष कर लेता है।

(आषाढ़ सुदी ७)

रमका मुख्यता पर परस्परवार्तालाप हुआ, एकपक्षका कहना था देखो, द्वीपायन मुनिके द्वारा ही द्वारिका भस्मीभूत होगई। कृष्णमहाराजके अवसानमें जल तक न मिला। अतः कोई प्रकारके वैभवका मान मत करो। देखो, वर्तमानकी व्यवस्था, जो राजा थे वह सब प्रजा के शासनमें आगए। संसारकी गति विचित्र है।

आत्मन्! अब तो संसारकी विडम्बना त्यागो। इसका यह अर्थ नहीं कि संसार कोई दृश्यमान जगत है।

इसमें जो परिणमन हो रहे हैं वह विडम्बना नहीं। अथवा कुछ रहो, उससे हमारा कोई सम्पर्क नहीं, हम सुख-दुःखके दाता नहीं। हमारे आत्मामें जो मोहादि उत्पन्न होते हैं उनके परवश में होकर हम किसी पदार्थमें मोह और किसीमें राग द्वेष उत्पन्नकर नाना प्रकार मानसिक मन, वचन, कायके व्यापार कर निरन्तर मोह, राग, द्वेषको दूर करनेका प्रयत्न करते हैं। किन्तु कल्पना यह करते हैं, जो पदार्थ रागमें कारण पड़ता है उसे सुखका कारण मान लेते हैं।

बहुत कम आलाप करो, परकी समालोचना त्यागो। जो मनमें आवे, उसे ही वचन और कायसे व्यक्त करो। यदि कोई तुमको मूर्ख कहे तब प्रसन्न हो उसे साधुवाद दो। यदि कोई प्रशंसा करे तब समझो कोई विशेष बात है। प्रतिदिन शास्त्र सुनाओ, अपनी कथा मत मिलाओ। जो आगममें लिखा है, उसे सुनादो। परन्तु यत्नपूर्वक पदार्थोंका विवेचन करो। वर्तमानमें जितने मत दृष्टिपथ

रा रह हैं ये सर्व मनुष्योंके विचार ही ता हैं। सभन्न वह यद्यपि सब पदार्थोंका द्रष्टा है।

"सके इच्छा नहीं, तथा आगमन भा नहीं अतः यह तो आगमकी रचना करत हैं। जो रचयिता हैं, व सर्वज्ञ नहीं। हाँ, यह अवश्य है जो इन असर्वज्ञोंमें जो माहसे परे हैं व अभिप्राय पूर्वक अन्यथा नहीं लिखते। केवल चारित्रमोह जिनके है व पदार्थोंकी व्यवस्था करते हैं।

(अ आषाढ़ सुदी ६)

परका निरन्तर आलम्बन करो यही परमार्थ पदका अद्वितीय पथ है। व्यवहारसे परमात्मा निश्चयमें आत्मा। परको सदा त्यागो, एक सेकेन्ड भी इसमें विलम्ब मत करो। यह वस्तु अन्य कुछ नहीं पर पदार्थमें आत्मीय कल्पना है। जिसके यह कल्पना है वही मोही जीव है। अतः इस कल्पनाके अस्तित्वमें अपनेको ज्ञानी मत मानो।

(आषाढ़ सु० ७)

निज जीवोंकी परमें निजत्व कल्पना है वही मोही मिथ्यादृष्टि नास्तिक है। यदि यह चेतन आपको ज्ञाता-द्रष्टा मान अनायास यह कल्पना मिट जाय। ज्ञानमें ज्ञेयका आना अन्य बात है, ज्ञेयको निज मानना अन्य बात है। ज्ञानमें 'मिश्री मधुर है' यह आता है। परन्तु 'मीठा ज्ञान है' यह कोई नहीं कहता। मिश्री मीठी है।

(अषाढ़ सु० ८)

ग्रहण और त्याग आपहीमें है पर पदार्थ पर ही है। न तो उसे हम ग्रहण कर सकते हैं और न त्याग ही सकते। अतः जिन्हें

द्रप उत्पन्न होते हैं, उनका हम त्याग। तथा जा हमारा दर्शन, ज्ञान, चारित्र है उसे स्वीकार करें। विशेष बातें अनुभवसे पूछो।

(अगहन सु० ९)

जिस कार्यके करनेमें शक्तिहीन हो उसका विकल्प करना सर्वथा त्यागो। कल्याणका मार्ग त्यागमें है। सबसे प्रथम मिथ्यात्वका त्याग करो। मिथ्यात्वके त्यागसे ही अनायास समस्त असत्यों का त्याग हो जाता है। जितने विवाद हैं मिथ्या कल्पनाके द्वारा ही होते हैं। आज संसारमें जितनी कुरीतियाँ आ रही हैं इसका मूल कारण मिथ्या अभिप्राय ही है। अतः चेष्टाकर इस रोग को निवारण करो। चेष्टा करनेकी आवश्यकता नहीं, स्वयं स्वको जानो यही इसका मूल उपाय है। आज तक हमने इसको नहीं जाना, केवल मुखसे कहनामात्र ही जाना है।

जब हम स्वयं अन्यकी वैय्यावृत्य करनेमें संकोच करते हैं तब अन्य हमारी वैय्यावृत्य करें, यह सर्वथा अनुचित है। श्रीदयाचन्द्र-जी जो वैय्यावृत्य करता है, वह सापेक्ष है। उसे आभ्यन्तर तपमें नहीं गणना कर सकते हैं। और जो त्यागी हैं उनको अन्तरङ्गसे वैयावृत्य करनेकी रुचि नहीं। यद्यपि हम एक प्रकारसे वृद्ध हैं, करनेमें अशक्य हैं। यदि कोई हमारा उपकार करे तब उचित ही है। परन्तु ऐसा सरल प्रकृतिका अब मनुष्य नहीं रहा है। शास्त्रोंमें जो वर्णन है, वह कहनेका पदार्थ है। उस रूप प्रवृत्ति करना परम दुष्कर है। जब यह व्यवस्था है तब भक्तप्रत्याख्यानमरण तो हो नहीं सकता, क्योंकि उसके अनुकूल सामग्री नहीं। प्रायोप-गमन संन्यास तो इस कालमें सर्वथा असम्भव है। ऐसे शक्तिशाली जन नहीं जो न परसे वैयावृत्य करावें और न आप करें। अतः इंगिनीमरणकी ही शरण लेना चाहिए। यदि कोई रोग आजावे तो स्वयं उपचार करे। यह विचार कर कर्म तो स्वयं हमने

उपार्जन किये हैं। अब जब उदयकालमें वह आया तब भय करना व्यर्थ है। यह जो कुकर्म है उसे भोगना ही पड़ेगा। अतः सर्व विकल्प त्यागकर जो कर्म साताअसाता रूप उदयमें आवें उनको आनन्दके साथ भोगकर संतोष करो।

प्रतिदिन विचार करता हूँ कि अब इन गल्पवादसे आत्मीय परिणतिको रक्षित करनेमें पूर्ण सफल होऊँ। किन्तु फल इसके विरुद्ध ही पाता हूँ। इसका मूल कारण यह है, हमने अपने लक्ष्यका निश्चय ही नहीं किया। जिसका कोई लक्ष्य ही नहीं उसका मनुष्य जीवन ही नहीं। मनुष्य वही है जो अपनेको अनन्त संसारकी भीषण यातनाओंसे रक्षा करे। प्रतिदिन मन्दिरमें शास्त्र बाँचते हैं अथवा सुनते हैं। परन्तु फिर वही प्रवृत्ति जो संसारकी जननी है रही। इसका प्रयत्न न कर सके अतः तोतारटन्त ही हुआ। तोताराम रटन प्रतिदिन रहता है, परन्तु राम कौन हैं, उनके नाम लेनेमें क्या इसका होगा? नहीं जानता है। इसी प्रकार हम लोग प्रतिदिन भगवन्नामका उच्चारण करते हैं और उस नामसे हमको क्या लाभ होगा? इसपर कुछ भी विचार नहीं करते।

(प्र० अषाढ़ सुदी १०११)

मनोरथ करना कोई कठिन कार्य नहीं, परन्तु कार्य करनेमें अपनी शक्तिका सदुपयोग करना कठिन है। प्रतिदिन राग द्वेष मोहके त्यागकी कथा करते करते जन्म बीत गया। जितने वर्ष आयुके गए, अब उतने मास भी जीवनास्तित्व रहना कठिन है। परन्तु एक दिन भी जो चाहा उसका शतांश भी न किया।

प्रायः सामान्य मनुष्य समानमें ही विशेष ज्ञान और विशेष कार्य करते देखा जाता है। पशुओंमें न तो इतना ज्ञान है और न परिग्रह भी है। पशु जो मनुष्य पालते हैं उनके तो परिग्रहका बोझ भी नहीं, मनुष्यों के ऊपर ही उनकी रक्षाका भार है। जो

[illegible]तन्त्र बडे-बडे पशु हैं उनके [illegible]
[illegible]ास आदि खाकर रात्रिको [illegible]
[illegible]ोई निश्चित स्थान भी नहीं, [illegible]
[illegible]रे। हाँ यह देखा जाता है [illegible]
[illegible]निकलकर छूपर लोगोंको [illegible]
[illegible]ह देखा जाता है, परन्तु जो [illegible]
[illegible]ृक्ष आदि पर सो जाते हैं। [illegible]
[illegible]निर्यञ्चिनी गर्भिणी हो जानवर व [illegible]
तथा तिर्यञ्चोंमें यह भी देखा [illegible]
[illegible]ाण तक निसवन कर देते हैं। [illegible]
यहाँ तक देखा गया है [illegible]
[illegible]क पशुओंसे भी सामना [illegible]

तथा कोई पशु ऐसे भी [illegible]
केवल अपनी खाने रखते हैं। [illegible]
कबूतर और कबूतरी इतना [illegible]
चालाक होते हैं। जैसे—[illegible]
पुष्ट होता है। कोयल [illegible]
और जब ये पुष्ट हो जाते [illegible] हैं। और इसमें
कोकिलाका नाम परपुष्ट है। [illegible]
शाली जीव हैं। इनसे मान[illegible] हैं। [illegible]
इसमें सब जीवोंकी अपेक्षा [illegible]
उपयोग करे तब बडेसे [illegible] है। पशुओंमें [illegible]
बुद्धि नहीं तो वर्षादिसे [illegible]। मनुष्य सर्व [illegible]
रक्षाके लिए गृह बनाना है।

([illegible]

नियममें त्यागपरता [illegible]

परामर्शसे कार्य करोगे, सफल होगे। और पूर्वापर बिना विचार काम करोगे, असफल होगे। असफलता दुःखकी कारण होगी। जो मनुष्य निरपेक्ष होते हैं वही कल्याणके पात्र होते हैं। जो जनताको प्रसन्न करना चाहते हैं वे ही डूबते हैं।

(आषाढ़ सु० ११)

रात्रि दिन कल्याणकी चर्चा होती है, परन्तु कल्याणका मार्ग क्या है? उसपर अभी मेरी बुद्धिमें श्रीगणेश भी नहीं हुआ। इसका कारण यदि यह कल्पना करें कि तूने मनोयोग पूर्वक अध्ययन नहीं किया तो बहुतसे महाशय ऐसे भी देखनेमें आते हैं जो बहुत हैं, पर कल्याण मार्गसे पर हैं।

अहर्निश गृहस्थोंकी चर्चामें अपना हित गमा देते हैं। मोक्ष मार्गकी भी कथा करेंगे जिसमें अन्यके लिए ही मुख्य प्रयत्न रहता। आप तो जलभिन्न कमलका अनुसरण करेंगे। कदाचित् यह कल्पना करें कि इनका त्यागका ओर लक्ष्य नहीं पर ऐसे भी देखे जाते हैं जिन्होंने आत्मामें कोई रस नहीं लिया, फिर भी कषायाग्निसे अन्तर्दग्ध हैं। कई ऐसे भी महानुभाव देखे गए, जो पण्डित भी हैं और त्यागी भी हैं, परन्तु जब उनके विरुद्ध शब्दका प्रयोग हुआ, महाराज द्वीपायन मुनि बन जाते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है, जो कल्याणका मार्ग अभ्यन्तर निर्मलतासे है। ज्ञानका होना अन्य बात है और उसका सदुपयोग करना अन्य बात है।

(प्र० आषाढ़ सुदी १४)

प्रायः शारीरिक वेदनाकी अपेक्षासे मानसिक वेदनाएँ बहुत निकलेंगे। हम निरन्तर इस प्रयत्नमें हैं जो विकल्प जालसे मुक्त होवें। परन्तु इसमें उत्तीर्ण नहीं होते। एक बार भी हल नहीं कर सकते। इसका मूल कारण बुद्धिमें नहीं आया।

यह लिखा—"यः आत्मानात्मस्वामी कर्ता होता है, ज्ञानाव

स्थामे कर्त्ता नहीं।" तब क्या मन्थन करके यह आत्मा करता नहीं ? यदि कर्त्ता नहीं तब यह जो नरक स्वर्ग होता है सो क्यों होता है ? तथा जो क्रिया, धर्म करता है सो किस भावोंका निन्दा करता है। इत्यादि प्रश्नोंका समाधान मिलना चाहिए, यही उत्तर आत्मासे मिलता है। पराधीन बनकर होकर भी आत्मा जो अन्तरङ्गसे नहीं करता है और कर्म करते हैं। जैसे आजकल गल्लाका राशन है, राशनका दुकानसे सड़ा गल्ला मिलता है। अत परवश होकर घासला गल्ला लाकर खाना पड़ता है। रिश्वत देना पाप है, परन्तु ऐसे अवसर आते हैं जो बिना रिश्वतके काम नहीं चलता। एक प्रकार ऐसे ही अल्पसंख्यक मनुष्य होंगे, जो रिश्वत न लेते होंगे। परिग्रहका पाप सब कर देते हैं, परन्तु अर्जन करते समय धर्म करनेमें भी रिश्वत लेना देखा जाता है।

(५० आषाढ़ सु० १५)

परिश्रम करनेसे कुछ मिलता है, चिन्ता नहीं। कोई मनुष्य तेलके अर्थ बालूको घानीमें पेले तब क्या उससे लाभ होगा ? एव संसार बंधनसे मुक्त होनेके निमित्त कोई पुण्य कार्य करे तब मुक्ति-लाभ असम्भव है। चिंता करनेसे भी उसका लाभ असम्भव है। हम न किसीके न कोई हमारा, इस रूप भी भेदज्ञान न होगा।

आज कानपुरके प्रसिद्ध हकीम छन्नालालजी आए, आप योग्य पुरुष हैं। हमारे ऊपर तो आपकी पूर्ण दया है; इसका मूल कारण आप धार्मिक विचारक बनेमें मुख्य हैं।

(द्वि० आषाढ़ कृ० ३)

एक महापुरुषने प्रश्न किया, केवलज्ञानका स्वरूप विवेचन करो। मेरे तो यह उत्तर आया—जिस ज्ञानमें मोह, रागादि कल्पना नहीं होती उसी [illegible]

राग-द्वेष मोह नहीं, वहाँ अनन्तसुख, अनन्तवीर्य है। जहाँ आकुलता नहीं वहीं सुख और शांति है।

पद्मपुराणका पाठ हमारे द्वारा हुआ। श्रीहनुमानजी दूत होकर लंका जा रहे हैं। बीचमें महेन्द्रपुरके राजाको परास्त किया। राजा बहुत प्रसन्न हुआ। महेन्द्र अञ्जनाके पिता थे। अपने धेवतेका वैभव देखकर बहुत ही प्रसन्न हुए।

पुण्यशाली जीवोंकी चेष्टा आश्चर्यकारिणी होती है। रास्तेमें दिवाकर नामक चारण ऋद्धिधारी मुनि और तीन राजकन्याओंका उपसर्ग मेटा। अनन्तर वे कन्याएँ श्री रामके पास चली गईं और हनुमानने लंकाका कोट विध्वंस किया। कोटके संरक्षकको परलोक धाम पहुँचाया। अनन्तर उसकी कन्यासे बहुत युद्ध हुआ। अन्तमें कन्याने कामबाणसे हनुमानको परास्त किया। अन्ततः मोक्षगामी प्रभुतासे कामदेवसा प्रबल योद्धा सामान्य कन्यासे पराजित हो गया। कन्या भी कामकी वेदनासे पितृ-जन्य शोकको भूलके हनुमानके साथ विषय सुखमें लीन हो गई। जब तद्भव मोक्षगामी वीर भी रामके वशीभूत होकर ऐसी-ऐसी चेष्टा करते हैं तब अन्य सामान्य पुरुषोंकी कौनसी कथा।

(द्वि० आषाढ़ कृ० २)

प्रश्न—इस संसारका मूल कारण क्या है? उत्तर—मोह। प्रश्न—मोहका स्वरूप क्या है? उत्तर जिसके सद्भावमें अपना और परका ज्ञान न हो। आप क्या हैं? जो यह कहता है कि मैं कौन हूँ जिसके यह शंका होती वही तो मैं हूँ। इससे अतिरिक्त यह है, इसी का नाम भेदविज्ञान है। इसके बलसे ही आत्मा अनन्त संसारको मेट सकता है।

(द्वि० आषाढ़ कृ० ३)

मंदिरमें जिसका चित्र तुम्हारे ज्ञानमें आता है वह पूर्ण म

मनुष्य ही तो थे। उन्होंने निज पुरुषार्थसे ही मोह शत्रुको पराजित किया। तुम भी मनुष्य हो, यथाशक्ति मोहको पराजित करो। और आत्मिक शान्तिका लाभ लेनेके पात्र बनो।

आज पण्डित पन्नालालजीके यहाँ भोजन हुआ। आप बहुत ही श्रद्धालु और धर्मिष्ठ जीव हैं। आपकी लोगोंने योग्यता नहीं जानी। आपके द्वारा जो कार्य होता, वह बहुत कालतक जैनधर्मका द्योतक रहता, परन्तु यहाँ तो समाजकी गति विचित्र है। धनिक-वर्गकी गति धन पाकर जो होती है, वह किसीसे गोप्य नहीं।

आजकलके महात्मा गान्धी जो वर्तमानके सुधारक हैं तथा उनके अनुगामी त्यागीवर्ग और जनता सामान्य है। मेरे प्रति यह भाव रखते हैं जो इस व्यक्तिको जैनधर्मका मार्मिक परिचय नहीं है।

यदि इन्हें जैनधर्मका परिचय होता तब हरिजनोंको मन्दिर प्रवेशकी अनुमति न देता। बस मूल तो इतना ही है। वर्तमानमें इस प्रकारके सुधारक बहुत हो गये। ये सब जैनधर्मके अनुगामी नहीं, इनको जैन नहीं समझना चाहिए। मैं इन महानुभावोंको अनन्य आदर दृष्टिसे देखता हूँ।

(द्वि० आषाढ़ कृ० ५)

कोई इन्द्र कहे, तुम अपने स्वरूपसे च्युत हो जाओ। प्रत्येक पदार्थ अपने अपने स्वरूपमें लीन है। माननेसे पदार्थका अन्यथा परिणमन नहीं होता, हाँ, हमारी कल्पना मात्र मिथ्या हो जाती। जैसे कोई महानुभाव चाकचिक्यादि दोषसे सीपमें चाँदी और रज्जुमें सर्पकी कल्पना कर लेवे। एतावता सीप रजत नहीं हुआ और न रज्जु सर्प ही होगया।

मनुष्यको उचित है प्रथम आत्म-कल्याणकी चेष्टा करे। आत्म-कल्याणके अर्थ आत्माको जाने पश्चात् उसमें जो कलङ्क हैं, उन्हें परिमार्जन करे। अच्छा अब बतलाओ आत्मा क्या है? उत्तर—महाशय जिसमें यह प्रश्न हुआ है जिसने उसके व्यक्त करनेके लिए

आत्मीय अभिप्रायको शब्द संकेता द्वारा व्यक्त किया वही आत्मा है। वह कैसा है ? इसका उत्तर अपनेसे पूँछो। वह कोई पुद्गल पिण्ड तो है नहीं, जो कोई झटिति उत्तर दे, ऐसा है। जिसमें सङ्कल्प विकल्प होते हैं वही आत्मा है। सङ्कल्प विकल्पके अभावमें जो शान्तिका पात्र होता है वही तो वह है। श्री स्वामी नेमिचन्द्र महाराजने लिखा है—द्रव्यसंग्रह—

'जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई॥'

सबसे प्रथम लक्षण आत्माका उपयोग आचार्यने बताया। यह लक्षण ऐसा है जो आत्माकी सब अवस्थाओंमें व्यापक होके रहता है। आत्मा द्रव्यरूपसे तो नित्य है, परन्तु पर्यायरूपसे एकरूप नहीं रहता। सामान्यतः आत्माकी दो अवस्था हैं—एक संसारी और एक मुक्त। मुक्त अवस्थामें तो आत्मा केवल रहता है, पर पदार्थोंके साथ जो गाढ़ सम्बन्ध था, वह छूट गया। उसका परिणमन शुद्ध ही रहता है। उस समय आत्माका ज्ञान केवल कहलाता है। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय ज्ञानका अभाव हो जाता है, क्योंकि ये ज्ञान क्षायोपशमिक हैं। यदि वह क्षयोपशम न हुआ, ज्ञान मिट जाता है। जो-जो कार्य जिन जिन कारणोंके सद्भावमें होते हैं वे-वे कार्य उन कारणोंके असद्भावमें नहीं होते। इससे सिद्ध हुआ कि केवलज्ञान ही एक ऐसा ज्ञान है जो स्वोत्पत्ति परकी अपेक्षा नहीं रखता। अतः वह ज्ञान कभी भी नाश नहीं होता।

(दि० आषाढ़ कृ० ५)

जबतक स्थिर परिणति करनेमें असमर्थ आत्मा रहता है तबतक ही दुःखका पात्र होता है। एक तो वह मनुष्य सुखी होता

है जिसने परिग्रहको स्वाधीन कर रखा है। स्वाधीनका अर्थ परिग्रह त्याग दिया है। परिग्रहके लिए संसार प्रयत्न करता है, इसमें मूल कारण मिथ्यात्व है।

(द्वि० आषाढ़ कृ०)

चार मासमें आनन्दसे अध्यात्म शास्त्रका अध्ययन करो। व्यर्थके पक्षवादसे बचो, जबतक स्वात्मचिन्तनमें काल लगाओ। क्षयोपशम ज्ञान है, ज्ञेयान्तरमें जाय जाने दो, राग द्वेषकी मात्रा न हो। यही पुरुषार्थ करो, व्यर्थ दुःखी मत होओ।

(द्वि० आषाढ़ कृ० ७)

संसारमें कर्मके आधीन सर्वप्रकारकी विपत्ति इस जीवको भोगनी पड़ती है। जीव अनन्त हैं। सबके परिणमन पृथक् पृथक् हैं। अपने अपने परिणामोंके अनुसार आत्माका फल होता है। व्यवहारमें चार वर्ण हैं, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इनमें ब्राह्मण वर्ण अपनेको सर्वश्रेष्ठ मानता है, और वैसे शास्त्र भी मिलते हैं, जो वर्णवाद मानते हैं। उनका तो कहना है—"ब्राह्मणो मुखमासीत्"।

(द्वि० आषाढ़ कृ० ८)

ब्राह्मण भगवानका मुख हैं, अर्थात् मुखसे ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति हुई और बाहुसे क्षत्रिय हुए, उरसे वैश्य और पैरोंसे शूद्र उत्पन्न हुए। ब्राह्मणोंका कार्य है जो वेदाध्ययन करें—तथा तीनों वर्णोंको सुमार्ग पर लानेका उपदेश करें। क्षत्रिय भूमिका पालन करें, वैश्य पशु पालन, कृषि, वाणिज्यादि व्यापार करें, धन संग्रह करें। शूद्र तीनों वर्णोंकी सुश्रूषा करें, सेवावृत्ति करें यह क्रम है। यही मान लिया जाय, परन्तु अब तो इन्होंने यह करना छोड़ दिया। सेनामें प्रविष्ट होते हैं, कप्तान, आदि पदों पर भी प्रतिष्ठित हो जाते हैं।

कृषि भी करते हैं, पशुपालन भी करते हैं, शिल्पीका भी कार्य करते हैं, रोटी बनानेका भी काम करते हैं, पानी भी भरते हैं। क्षत्रिय लोग भी खेती करने लग गए हैं, व्यापार भी करते हैं तथा सेवा-वृत्ति भी करते हैं। वैश्य भी सेनामें भरती होने लगे, नौकरी भी करने लगे। फिर भी शूद्रोंके प्रति यह प्रतिबन्ध है, तुम्हारा परिवर्तन न हो सकता। यह मनुष्यता बलात्कारिता है। यहाँ तक प्रतिबन्ध लगा रक्खा है कि जिस कूपका पानी उत्तम वर्णके उपयोगमें आवे, वहाँ पर अस्पृश्य शूद्र जलादिपान नहीं कर सकते। यदि परिवर्तन तो जिस मार्गसे ब्राह्मण गमन करें वहाँ अस्पर्श शूद्रोंको जाना तक निषिद्ध है।

(द्वि० आषाढ कृ० ९।१० ११)

धर्म किसीका मूल धन नहीं है। प्राणी मात्रका धर्म है। उस पर भी लोगोंने इसे जमानेकी चेष्टा कर खूब की।

(द्वि० आषाढ कृ० १२)

मानकषाय ही संसारका कारण है। अतः जहाँ तक बने मानादिकषायोंका अभाव करनेका प्रयत्न करो। यही श्रेयोमार्ग है।

(द्वि० आषाढ कृ० १३)

शांतिका कारण रागादि मलोंका न होना है। दुःखका मूल कारण रागादि हैं, अन्य नहीं। यह आत्मा पर पदार्थोंका त्यागनेका प्रयत्न करते हैं तथा उन्हींको निज मानते हैं। उनके वियोगमें बेचैन हो जाते हैं। यह विडम्बना सब भेदज्ञानके न होनेसे हो रही है।

(द्वि० आषाढ कृ० १४)

जो मनुष्य शांतिके अभिलाषी हैं उन्हें पर पदार्थोंकी समालोचना त्याग देना चाहिए। आत्मा अचिन्त्य शक्तिवाला है, यह कोई महिमाकी बात नहीं। सर्व पदार्थ ही अचिन्त्य शक्तिशाली

हैं। आत्मा ज्ञानवान् है, यह उसकी विशेषता है। यह भी कोई महत्त्वका द्योतक नहीं, सर्व आत्माज्ञानी हैं। राग-द्वेषका ह्रास जिसमें हो वही पूज्य है।

(द्वि० आषाढ़ कृ० ३०)

हे आत्मन् ! केवल कल्पनासे सुखका आस्वाद नहीं आता, सुखकी प्राप्तिके लिए आवश्यकताओंकी अल्पता ही सहकारिणी है। आत्मामें आवश्यकता होनेके मूल कारण परमें निजत्व मानना है। यही उसकी जड़ है।

(द्वि० आषाढ़ शु० १)

अनेक सिद्धान्त जगतमें हैं सबसे जघन्य सिद्धान्त चार्वाकका है। जो आत्माके अस्तित्वको स्वीकार नहीं करता। इस सिद्धान्त को माननेवालोंका कहना है, जो भौतिक पदार्थोंके विकारमें कोई ऐसा सामर्थ्य शक्ति आ जाती है जो यह सर्व कार्य करता है, उसीमें सुख-दुःखका संवेदन होता है।

(द्वि० आषाढ़ शु० ४)

मनुष्य जब अपनेको महान् समझता है और उसकी रक्षाके अर्थ प्रयत्न करता है, वह वास्तवमें मनुष्य हो जाता है। और जो अभिमानसे लिप्त होकर इतरका तिरस्कार करता है वह संसारमें मनुष्यतासे दूर होता है।

(द्वि० आषाढ़ शु० ५)

यह बड़े-बड़े शास्त्रोंकी सम्मति है जो सम्यग्दृष्टि विरल जीव होते हैं। जब यह व्यवस्था है तब खेद काहेका ? कल्याणका मार्ग कठिन नहीं, परन्तु जब उस ओर दृष्टि ही नहीं तब नियमसे कठिन है।

(द्वि० आषाढ़ शु० ६)

सिनेमामें दृश्य देखकर जैसे मनुष्य लाभ उठाते हैं, यहाँ

वक्ताके वचनको भी श्रवण कर थोड़े समयको प्रसन्न हो जाते हैं। बहुत हुआ वक्ताको हर्षित करनेके लिए धन्यवाद शब्दका प्रयोग कर देते हैं।

(द्वि० आषाढ़ सु० ९)

प्रत्येक कार्य शान्तिसे करो, और शान्तिके लिए करो। शान्ति का स्वरूप जानकर अशान्तिके मार्गमें मत जाओ। जो भी कार्य करो उसमें आत्मीय लाभ और हानि देख लो। आत्मीय लक्ष्य कुछ नहीं, तब तुम्हारे सब प्रयत्न व्यर्थ हैं। सर्वदा आत्मीय लक्ष्य पर दृष्टिदान रखना। आम्!

(द्वि० आषाढ़ सु० १०)

जो नियम लो, उसका पालन करो। उपदेश देकर मानको आसान करो। सद्वचन बोलो, अल्प विहार करो। यथार्थ सत्य कहो, जो कटुक भाषा हो उसका प्रयोग न करो। सत्यका पालन वही कर सकता है जो संसारसे भयभीत हो। जो लोक प्रतिष्ठा चाहता है वह मुमुक्षु नहीं।

(द्वि० आषाढ़ सु० ११)

शुद्ध भाव रक्खो, परकी मूर्च्छासे ही शुद्ध भावका घात होता है। अविरत सम्यक् ही उत्तम विकृतिका कारण होता है।

पुण्य पाप बन्धके कारण होनेसे दोनों ही कुशील हैं। उनमें एकको कुशील और एकको सुशील मानना बुद्धिमें नहीं आता। चाहे सुवर्णकी बड़ी हो चाहे लोहेकी बेड़ी हो, दोनों ही पुरुषोंको बन्धनका कारण हैं। इससे कुशील जो हैं उनसे संसर्ग और राग त्यागो। कुशील शुभ कर्म भी है और अशुभ कर्म भी है। दोनों आत्माको संसार व बन्धन कराते हैं। जैसे लोकमें जब यह निश्चय हो जाता है कि अमुक मनुष्यकी प्रवृत्ति दुष्ट है। तब हम उस मानुषका चाहे वह उत्तम वर्णका हो चाहे जघन्य वर्णका हो; संसर्ग

त्याग देते हैं। इसी तरह यह कर्म प्रकृति चाहे वह शुभ हो चाहे अशुभ हो। जब हमको दोनों ही परिणतियाँ संसारका कारण होती हैं तब जो विज्ञानी वीतरागी हैं वे उनके साथ न संसर्ग करें और न राग करें। लोकमें यह भी देखा गया है, जो कुशल हस्ती होता है वह स्वकीय बन्धनके लिए तृणपटलसे आच्छन्न जो गर्त है, उसपर स्थित जो करेणु कुट्टिनी है चाहे वह मनोरमा हो चाहे अमोरमा हो उसका संसर्ग नहीं करता। इसीसे भगवान् कुन्द कुन्दाचार्यका उपदेश है—

'रत्तो बधदि कम्मं मुचदि जीवो विरागसपत्तो ।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥'

अन्यत्रापि कथितं—

'रागी बध्नाति कर्माणि वीतरागो विमुच्यते ।
एषो जिनोपदेशोऽयं सक्षेपाद्बन्धमोक्षयोः ॥'

जो रागी जाव है वह बन्धको प्राप्त होता है और वीतराग छूटता है, यही जिन भगवान्का उपदेश है इससे रागको त्यागना चाहिए। जो मनुष्य परमार्थ मार्गसे च्युत हैं, वे व्रत शील तप करके भी संसारके पात्र होते हैं।

(द्वि० आषाढ़ शु० १८)

समझे पर अपनेको समझो, अपनेमें भी अपनापन छोड़ो अर्थात् अभिमान न करो। अभिमानसे आत्मगुणका घात होता है। जैसे मैलापन कपड़ेकी स्वच्छताका घातक होता है। अग्निको उष्ण पर्यायके सम्बन्धको पाकर उसके शैत्यका पता नहीं चलता उस कालमें उस गुणकी उस ही पर्याय रहती है।

(द्वि० आषाढ़ शु० १२)

शीघ्रता न करो, धीरतासे प्रेम करो। परको प्रसन्न करनेको आत्माको सुमार्गमें लगाओ। सुमार्गका अर्थ है अपनी परिणति इतनी स्वच्छ करो, जो उसमें ज्ञेय ज्ञेयरूप रहे। ज्ञानकी परिणति ज्ञानका ही स्पर्श करे, यद्यपि ज्ञान ज्ञेय सम्बन्ध मात्रसे एक दूसरेका रूपक है और कुछ नहीं।

(द्वि० आषाढ़ शु० १४)

आज गुरुपूर्णिमा है। स्वयं रागादि दोषोंसे अदपित हो प्राणी मात्र पर अनुकम्पा करो।

(द्वि० आषाढ़ शु० १५)

पदार्थोंके परिणमन स्वाधीन नहीं, अज्ञानी जीवोंकी कल्पना असत्य है। परमें ही अस्तित्व मानते हैं, अपने को कुछ नहीं मानते। यही महती अज्ञानता है। इसका मिटना असम्भव है।

(श्रावण कृ० १)

तत्त्व तो जो है सो रहेगा, वह कभी भी विनाश न होगा। केवल परके सम्बन्धसे पाकर विकृत हो जाता है। जैसे कोई फल अधिक गर्मी पाकर सड़ जाता है, उसके रसादि गुण विकृत परिणमनको प्राप्त हो जाते हैं। उसकी अभक्ष्य संज्ञा दे दी जाती है।

(श्रावण कृ० २)

शान्तिके लिए व्यग्र मत होओ, वह अन्यत्र नहीं समीप है। परन्तु उस ओर हमारा लक्ष्य नहीं। हमारा विषय बाह्य है, अतरंगकी ओर लक्ष्य नहीं। जो निजकी दशासे परिचय न किया तब मनुष्य जन्म यों ही बिताया, मनुष्यमें उत्तम अन्य नहीं।

(श्रावण कृ० ३)

देखकर चलो, देखकर भोजन करो, भोजन करते समय उपयोगको अन्यत्र मत जाने दो। क्षुधाके अनुरूप भोजन करो, जो रुचे

तथा पचे उसे उपयोगमें लाओ। भोजनका प्रयोजन शरीरकी रक्षा है। यदि भोजनसे शरीर रोगी हो जाय तब वह भोजन विष है।

(बच्चा पृ० ७)

बहुत कम बोलो, कुछ न करो यह अच्छा है, किन्तु अनुचित काम न करो। उचित अनुचितकी परिभाषा निज स्वरूपमें करो। आपका अनुभव ही कल्याणका मार्ग है अनुभव शून्य ज्ञान कल्याणका कारण नहीं।

संसारमें सर्व मनुष्य अपने-अपने गान गाते हैं। कोई किसीका उपकारी नहीं। केवल जो आभास कषाय उत्पन्न होती है उसे दूर करनेका प्रयास करते हैं। कषायसे आत्मामें एक प्रकारकी बेचैनी हो जाती है। वह बेचैनी ही कार्यमें प्रवृत्ति कराती है। जैसे-जिस समय हमको क्रोध उत्पन्न होता है, उस समय परको अनिष्ट करनेकी इच्छा होती है। उससे हमका कुछ लाभ नहीं, परन्तु वह इच्छा जब तक है तब तक बेचैनीसे विकलता रहता है। जब परका अनिष्ट हो गया, वह विकलता मिट जाता है। इससे यहां क्रोध कषायका कार्य ही इसका कारण है। वास्तवमें जो विकलता थी, वह क्रोध कषायसे थी। कार्य होनेसे वह सत्ता और मिट गया। विचार कर देखो न?

न हम क्रोध करते न विकलता होती, अतः क्रोधको न होने देना ही हमारा पुरुषार्थ है। इसका अर्थ यह है या भाव होनेपर उसमें आसक्त न होना। यही आगामी न होनेका उपाय है। क्रोध यह उपलक्षण है यावत् मोहकर्मके उदयसे जब हो उन भावोंमें आसक्त न होना। यहाँतक कहा जाय? इनका ज्ञानमें जो पदार्थ आवें आनेकी रोक-टोक नहीं हो सकती। उनमें रागादि न करना यह संसार-बन्धनसे मुक्त होनेका अधिकार मात्र है। आत्मा द्रव्यकी परिणति आत्मातिरिक्त पदार्थोंके सम्बन्धसे ही कलुषित हो-

है। कल्पितका अर्थ यह है जो उस पर्यायमें नित्य कल्पना कर हम किसी पदार्थमें राग करते हैं और जो हमारे रागसे विरुद्ध होते हैं उनके वियोगका यत्न करते हैं। इस प्रकार प्रक्रिया करते-करते अन्तमें इस पर्यायका अन्त आ जाता है। अनन्तर जिस पर्यायमें जाते हैं वहाँ यही प्रक्रिया कायम रहती है। इस तरह अनन्त संसारके पात्र होते हैं। वास्तवमें न तो अन्य पदार्थ हमारे हैं और न हम उनके हैं। तब क्यों उनमें निजत्वकी कल्पना? इसी कल्पनाको दूर करनेका अर्थ आगमाभ्यास है। आगममें तो इतना सुन्दर कथन है। यदि यह हमारे अनुभवमें आ जावे तब कल्याणमार्ग अति सुलभ हो जावे।

आत्मा नामक एक पदार्थ है। उसका अनादिकालसे अजीव पुद्गलके साथ सम्बन्ध है। आत्मा चैतन्यगुणवाला द्रव्य है। पुद्गल जड़ है, उसका लक्षण स्पर्श, रस, गंध, रूप है। जहाँ ये पाये जावें उसे पुद्गल कहते हैं। पुद्गलके साथ जीवका ऐसा सम्बन्ध है जो यह जीव उसको निज मान लेता है। निज मानकर उसको सदा रखनेका प्रयास करता है। यदि उसमें कोई बाधा पहुँचाता है तब उसे निज शत्रु मान लेता है।

(श्रावण कृष्ण ५)

उचित और अनुचित विचारकर किसी कार्यमें प्रवृत्ति करनेका आरम्भ करो। उचित तो यह है कि प्रथम आपको जानकर तद्रूप रहनेका प्रयत्न करो। बात कहना बातूनीका काम करना है।

(श्रावण कृष्ण ७)

शुद्धताका अर्थ है, एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यसे तादात्म्य नहीं। सम्बन्ध अनेक प्रकारके हैं। उनमें संयोगादि सम्बन्धका निषेध नहीं। तादात्म्य सम्बन्ध मात्रका निषेध है। जैसे आत्माका ज्ञानके

साथ तादात्म्य है, वैसा पुद्गलादि द्रव्यके साथ सम्बन्ध नहीं। अतः जो निज वस्तु है उसीको अपनाओ।

(श्रावण कृष्ण ८)

हे आत्मन्! सब उपद्रवोंसे पृथक् होनेकी चेष्टा करो। संसारमें आपकी प्रवृत्ति ऐसी निर्मल करो जिसे देखकर अन्यको शान्ति पहुंचे। यह लक्ष्य मत रखो जो अन्यको शांति पहुंचे। परकी कल्पना त्यागो। परसे कभी भी आत्मशांति नहीं। शांतिका कारण आपको आप रखो।

(श्रावण कृष्ण ९)

आपका कार्य कल पर मत छोड़ो, अन्यथा कभी भी कोई कार्य नहीं कर सकोगे। जो कार्य करो, सांगोपांग करो। किसीके द्वारा यदि उस कार्यकी समालोचना हो तो यदि वह उचित है तब उसे स्वीकार करो। और जो कार्यमें दोष हो उन्हें पृथक् करो।

(श्रावण कृष्ण १०)

धर्म अतीन्द्रिय नहीं, यदि कोई मनुष्य प्रयास करे तब धर्म तत्काल अनुभवमें आ सकता है। धर्म आत्माका चेतन परिणाम है। जिसके उदयमें अनायास संसार बन्धनसे छूटकर केवलदशा जीवकी हो जाती है।

(श्रावण कृष्ण ११)

संसारमें प्राणीमात्रके प्रति सद्व्यवहारसे प्रवृत्ति करो। किसीको तुच्छ मत मानो, तुच्छ मानना मान-कषायका द्योतक है। मान कषाय ही संसारमें दुखदाता है। मनुष्योंमें मनुष्यताका व्यवहार करो, क्योंकि जैसे आप मनुष्य हो अन्य भी मनुष्य हैं।

(श्रावण कृष्ण १२)

किसीसे द्वेषभाव न करो, द्वेषभावसे पाप प्रकृतियोंका बन्ध होता है। प्रकृतिके उदयमें निर्मलभाव नहीं होते, निर्मल भावोंके

अभावमें निरन्तर तीव्र संक्लेशता रहती है। संक्लेशता ही दुःखकी जननी है। जिन्हें दुःखसे मुक्त होना हो वे रागादिक परिणामोंसे बचें।

(श्रावण कृष्ण १४)

जब तक आप आकुलताके कारणोंमें व्यस्त हैं, परको वीतरागताका उपदेश देकर उपदेष्टा बननेकी चेष्टा मत करो। जो प्रतिज्ञा करो, उसका निर्वाह करो। यदि अनुचित प्रतिज्ञा हो, उसका भंग करनेमें ही लाभ है। किसी भी मनुष्यके साथ अशिष्ट व्यवहार मत करो, चाहे वह अपना शत्रु क्यों न हो?

(श्रावण कृ० ३०)

आज स्वतन्त्रता दिवस है, अतः भारत सरकारकी ओरसे छुट्टी है। दिन आना जाना होता है। खेद इस बातका है कि हम लोग अपनेको नहीं सम्हालते। संसारको उपदेश देते हैं, कल्याण मार्ग पर चलो, परन्तु हम स्वयं कल्याण मार्ग पर नहीं चलते। अन्यको उपदेश देते हैं, क्रोध मत करो। हम स्वयं क्षमाकी अवहेलना करते हैं।

(श्रावण शु० २)

मन शुद्ध करो, विचारके रहो। विचारसे तात्पर्य आत्मतत्त्वको ठीक समझो और उसीमें रत रहो। तथा उसका देखना जानना ही मानो। राग द्वेष औपाधिक भाव हैं, इनको त्यागो। जो तुम्हारी निरपेक्ष परिणति है, उसका आदर करो।

(श्रावण शु० ३)

जिस कार्यमें करनेमें उत्साह नहीं उस कामको मत करो। व्यर्थ परिश्रमसे कुछ लाभ नहीं। मनको स्थिर रखनेके लिए आत्मबोधकी महती आवश्यकता है। सम्यग्दर्शनका यह अर्थ है जा

वस्तुको यथार्थ प्रतीत करा देय। सम्यग्दृष्टि जीव परके गुणोंकी प्रशंसा करते हैं, क्योंकि गुण निज वस्तु हैं।

(श्रावण सु० ५)

जहाँ तक बने आत्माको प्रसन्न रखो यदि कोई अपमान करे तब दुखी मत होओ। प्रसन्न चित्त विचारोंसे निजकी रक्षा करो। ज्ञाता, दृष्टाका केवल अर्थ ही मत समझो प्रत्युत ज्ञाता दृष्टा रहो।

(श्रावण सु० ६)

किसीके साथ स्नेह मत करो। स्नेह ही बन्धनका मूल है। स्नेहका मूल मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व ही परम निकृष्ट कल्पना करता है। प्रश्न यदि ऐसा है तब मिथ्याज्ञान जाने बाद क्या पर पदार्थमें राग होता है? तत्त्वसे राग नहीं होता, संस्कार के बलसे वह थोड़े काल रहता है पश्चात् अनायास चला जावेगा। किसीसे राग न करो, द्वेष तो सुतरां हेय है। रागमें मोक्षमार्गकी उपलब्धि का उपाय होनेकी सम्भावना है, परन्तु है राग बन्धका हेतु, अतः हेय है।

(श्रावण सु० ८)

जिस कार्यके करने योग्य सामर्थ्य न हो, उसे आरम्भ मत करो। पराश्रित जीवनको मत बनाओ। पर घर भिक्षावालोंको उचित है जो दाताके घर पर भोजन मिले उसे सन्तोष पूर्वक भक्षण कर उदरपूर्ति कर लें। गृद्धताको त्याग भोजन करो। भोजन तो पर पदार्थ है, इतने मुग्ध क्यों होते हो?

(श्रावण सु० १०)

मेरा स्वयं विश्वास है, जो मनुष्य मात्र संयमका पात्र है। विकास उसकी योग्यताके अनुरूप होता है। किसीको तुच्छ

ममत्वका मूल अज्ञानता है। उत्तम कुलमें पैदा होनेसे ही आत्मा संयमका पात्र होता है, यह हमारी बुद्धिमें नहीं आता।

(श्रावण शु० ११)

शान्तिका मार्ग कहीं नहीं आत्मीय परिणतिमें है। परन्तु उसमें मोहादिजन्य विकार न होना चाहिए। मोहसे आत्मामें पर पदार्थमें निजत्व भाव हो जाता है और जहाँ निजत्व हुआ, वहाँ ही राग-द्वेषको आश्रय मिलता है। जहाँ राग द्वेष हुआ वहाँ ही फिर संग्रह करनेकी रुचि होती है।

(श्रावण शु० १२)

सबसे बलवान पाप पर पदार्थमें निजत्वकी कल्पना है। जिस महापुरुषने इसे छोड़ा, अपने मनुष्य जन्मका लाभका फल पाया।

(श्रावण शु० १४)

परकी रक्षा वही कर सकता है, जो स्वयं आत्माकी रक्षा करनेमें समर्थ है, जो आत्माकी रक्षा करनेमें असमर्थ है वह क्या परका कल्याण कर सकता है? रक्षासे तात्पर्य आत्माका पापसे पृथक् करना पाप ही संसारकी जड़ है।

(श्रावण शु० १५)

यह भारतवर्षमें अवस्था थी, जो पाँच वर्षके बालकोंकी रचना इस प्रकारकी कर्णप्रिय और भावपूर्ण होती थी। एक बालकका उपाख्यान है जो एक पंडितने सभामें यह समस्या दी जो—'ग्रा

ग्रामे किं कुर्म हरिणशिशुरेवं विलपति"।

(भाद्रपद कृष्ण ४)

परकी समालोचना त्यागो, आत्मीय समालोचना करो। समालोचनामें काल लगाना भी उचित नहीं। प्रत्युत यह काल उत्तम विचारोंमें लगाओ। आत्माका स्वभाव ज्ञाता दृष्टा है, यही

रहने दो। उसमें इष्ट अनिष्ट कल्पनासे बचा। अनादिकालसे यही उपद्रव करते रहे।

(भाद्रपद कृष्ण ३)

परके समागमसे लाभ भी होता है और हानि भी होती है। और न लाभ होता है न हानि होती है। जैसे जीवके मरनेपर हिंसा होती भी है और नहीं भी होती है। प्रमत्त योग सद्भावमें हिंसाका सद्भाव है, अभावमें नहीं। इसी न्याय सारेमें यही प्रणाली है। स्वच्छ भावोंकी उत्पत्तिका मूल कारण स्वयं है।

(भाद्रपद कृ० ४)

बहुत विकल्प होना ही दुःखका मूल कारण है। आत्माका परिणाम दर्शन, ज्ञान है। उसमें जो इष्टानिष्ट कल्पना होती है, वही आत्माको पतित बनाती है। फिर उस पतितको दूर करनेके लिए पतित पावनकी पुकार होती है। जब पतित पावन कोई साक्षात् सुननेवाला नहीं मिलता और जो कृतकृत्य आत्मा हो चुके, उनके इन्द्रियजन्य ज्ञान नहीं, जो उसकी पुकारको सुने। ज्ञानमें आनेपर भी मोहके अभावसे उसपर करुणा बुद्धि नहीं। फिर हम पत्थरकी मूर्तिमें भगवान्‌की कल्पना कर अपना दुःख सुनाते हैं। सुननेवाली मूर्ति ही तो है, उसके इन्द्रिय नहीं, कौन सुने? अन्ततो-गत्वा यही समझमें आता है, जैसे हम पापके कर्ता हैं, तद्वत् हमारी आत्मा ही उसका वारण करनेवाली है। तब सिद्ध हुआ, हम स्वयंही पतित हैं और स्वयं ही पतितपावन हैं। किन्तु हमारी अनादि कालसे श्रद्धा परमें हो रही है। यही संसारका मूल कारण है।

(भाद्रपद कृ० ५ ६ ७)

अनादि कालसे पर पदार्थोंके सम्बन्धमें मोही, रागी-

रहा है, यदि यह आत्मीय ज्ञान, दर्शन पर ही आत्मीय स्वत्व रक्खे तब आत्म कल्याणका मार्ग प्राप्त हो सकता है।

(भाद्रपद कृ० ८)

आत्मीय परिणतिको स्वच्छ रक्खो, परन्तु यह तो चर्चा नहीं संसारका ठेका होता है। जो मनुष्य आत्मकल्याणसे वञ्चित हैं, वे ही संसारके कल्याणमें प्रयत्न करते हैं। परमार्थसे कोई भी पदार्थ किसी पदार्थका कुछ नहीं कर सकता, प्रतीति ऐसी होती है जो कुम्भकारने घट बनाया। कुम्भकारने प्रयत्न किया, कुम्भकार उस प्रयत्नका कर्ता है।

(भाद्रपद कृ० ९)

संसारमें यदि शान्ति चाहते हो तब सबसे पहले परमें निजत्वकी कल्पना त्यागो। अनन्तर अनादिकालसे जो यह परिग्रह पिशाचके आवेगमें अनात्मीय पदार्थोंमें आत्मत्वका संस्कार है, उसे त्यागो। हम आध्यात्मिक महात्माओंसे आत्मज्ञान करनेका प्रयत्न करते हैं, यह सब मिथ्या धारणा त्यागो। सन्तोषका कारण त्याग है। उस पर स्वयं कल्पना करो। प्रतिदिन जो गल्पवादसे जगत को सुलझानेकी चेष्टा है, उसे त्यागो और आपको सुलझानेका प्रयत्न करो। संसारमें धर्म और अधर्म तथा ज्ञान और पाप यही तो परिग्रह है। यह जो धर्म है, जिसे लोकमें पुण्य शब्दसे व्यवहार करते हैं, तुम्हारा स्वभाव नहीं। संसारमें ही रखनेवाला है।

(भाद्रपद कृ० १०)

निःशङ्क रहो, यही मोक्षमार्गका प्रथम मूल मन्त्र है। गृहस्थोंके चक्रमें मत आओ। यह ही संसार वृद्धिकी मूल जड़ है। पराधीन ही रहना और आपत्तियोंमें मूर्च्छा करनेवाला है। आत्मा जहाँ पराधीन हुआ, वहीं अनेक प्रकारके सङ्कटोंमें पड़ जाता है।

किसीको वचन मत दो, जो आपकी परिणतिको पराधीनताम मत रक्खो।

(भाद्रपद कृ० ११)

उत्तम प्रतिज्ञाके अनुसार कार्य करनेवालोंको सिद्धि हस्ता मलकवत् है। बहुतसे मनुष्य संसारमें ख्यातिकी चाहसे नाना प्रकारके कष्ट उठाते हैं। अन्ततो गत्वा यदि लौकिक यश न मिला तब पश्चात्तापके पात्र होते हैं। यदि शान्ति और सुखकी कामना है तब इन विकल्पोंको छोड़ो और सरल मार्गोंमें काम करो।

(भाद्रपद कृ० १२)

जो निर्भय होते हैं, वे ही कार्य करनेमें उत्तीर्ण होते हैं। संसार रागादि परिणामोंके द्वारा जीव और पुद्गलकी विभाव पर्याय है। विभाव पर्यायकी उत्पत्ति दो पदार्थोंके विलक्षण सम्बन्धसे होती है। एक स्थान पर रजत और स्वर्णका पिण्ड रखा है इससे उनमें विकृति नहीं होती। किन्तु उन दोनोंको योग कर एक पिण्ड बना दिया जाता है तब विकृत हो जाते हैं। एवं जीव और पुद्गलका विलक्षण सम्बन्ध ही संसारका जनक है। किन्तु इनमें पुद्गल अचेतन है, उसको यह ज्ञान नहीं जो हमारी विकृतावस्थाम कारण जीवका विभाव परिणाम है। अत उसके प्रति बदला लेनेकी चेष्टा है। जीवमें चेतन गुण है, अतः पदार्थोंके बाह्याभ्यन्तर कारणोंको जान उनके पृथक् करनेका प्रयत्न करता है।

(भाद्रपद कृ० १३ १४)

मैं इन सबका ज्ञाता द्रष्टा हूँ, ऐसी मेरेमें शक्ति है। अनादिसे स्वभाव मेरा मेरे साथ है, किन्तु उसमें यह दोष आ गया जिसको मैं देखता हूँ। उसको निज मानने लगा। यही महती त्रुटि हुई। दर्पणमें स्वच्छता है और उसका कार्य स्वपरप्रकाशकत्व है। जैसे दर्पणमें अग्नि झलकती है।

(भाद्रपद कृ० ३०)

स्वाधीनता ही सुखकी जननी है। परतन्त्रतासे आत्मविकासमें बाधा आती है। परके ध्यान करनेसे आत्माकी क्षति नहीं, उसमें राग द्वेषकी कल्पना ही क्षतिका कारण है। राग द्वेषकी उत्पत्तिका मूल कारण तो आत्मा ही है। परन्तु जिसमें मोहनीय कर्मकी सत्ता होगी, वही आत्मा रागादि परिणामोंका पात्र होगा।

(भाद्रपद सु० १)

परका समागम ही दुःखका निमित्त है। मोह, राग द्वेषके लिए इसका अंश पर्याप्त है। महान् पुरुषोंने इसीसे त्यागी रहना इष्ट किया। यहाँ तक महापुरुषोंने विचार किया, जो हमारे आधुनिक मनुष्योंके ध्यानमें उनके विचारोंका आभास भी नहीं होता।

(भाद्रपद सु० २)

चित्तमें निर्मलता रखना। अपनी कषायको अपनी न समझो। जब अपनी नहीं तब उसे रखनेका प्रयास ही क्यों? आप तो ज्ञानादि गुणोंका पिण्ड है, तब उसमें अन्यको रखनेकी चेष्टा क्यों?

(भाद्रपद सु० ४)

हम अपनेको भीरु समझते हैं यही हमारे ज्ञानमें बाधक है। जिस दिन हम सिंह वत् निर्भय हो जावेंगे, अनायास आत्मकल्याण सन्निहित है।

(भाद्रपद सु० ५)

दिन शांतिसे यापन करना। 'समयसार' में यह दिखाया है जो सब द्रव्य अपने अपने स्वभावमें परिणमन करते हैं। अन्य द्रव्यका परिणमन करानेमें समर्थ नहीं। इससे यह न समझना, जो श्रीकुन्दकुन्द महाराजने निमित्तको मेटा हो, उपादान कारणकी अपेक्षा यह कथन है।

(भाद्रपद सु० ७)

सत्यका अर्थ है यथावस्तु तथा निरूपण करना। शास्त्रके द्वारा निरूपण होता है। वह डंडा लेकर प्रवृत्ति नहीं कराता तथा यह भी नहीं कहता कि तुम हमको आचरण करो। हमका उचित है कि हम स्वयं मार्गपर चलकर उससे लाभ उठावें। उत्ति लाभकी आशा छोड़कर उसपर अमल करना ही आत्मकल्याणका साधक है। व्याख्यान देकर मनुष्य जगतको प्रसन्न करना चाहते हैं। आत्माको प्रसन्न करनेकी अवहेलना करते हैं। फल उसका उत्तम नहीं, उत्तमता तो इसमें है जो निरन्तर पापोसे पृथक् रहनेकी चेष्टा करो। पापका मूल कारण राग है, इसका निपात करो।

(भाद्रपद सु० ९)

तत्त्वसे देखा तब आत्मा तो निर्विकल्प है। उसमें यशोलिप्सु ही व्यर्थ है। यश तो नामकर्मकी प्रकृति है। यशसे कुछ मिलता जुलता नहीं।

(भाद्रपद सु० १०)

आपको निर्मल बनानेका प्रयास करो। परकी चिंता करनेसे कुछ लाभ नहीं। पर पदार्थके परिणमके तुम कर्ता नहीं और न दाता भी हो। व्यर्थके संकल्प विकल्प जालमें अपनेको फँसाते हो। विचारो तो सही, बन्दर चनेके लोभसे घटमें अपने दोनों हाथोंको फँसा लेता है। धिक्! इस लोभको।

(भाद्रपद सु० ११)

संसारकी लीला अनन्त नहीं, कषायाध्यवसान असंख्यात लोक प्रमाण ही तो हैं।

(भाद्रपद सु० १२)

निरन्तर स्वात्मचिन्तन करो। इसका अर्थ यह है कि तुम अकेले हो, यह शरीर भी पर है, इसका स्वभाव अन्य है। तुम देखने-जाननेवाले हो। यह दृश्य है, इसमें तुम्हारा अंश भी नहीं।

सका अंश तुममें नहीं, व्यर्थ आलस मत पड़ो। आलसमें मनेका
ारण तुम्हारा लाभ है,—"लाभ पापका बाप बखाना।"

(भाद्रपद शु० १२)

निर्भीक होकर काम करो। भय पापसे करो। उत्तम अभिप्रायको
व्यक्त करनेमें संकोच मत करो। जिसने उत्तम बातोंका प्रचार न
ैया वह मनुष्य गणनाका पात्र नहीं।

(भाद्रपद शु० १४)

सबसे महान बंधन संसारमें परका निजत्व मानना है। आत्म
रीरको आत्मा माननेसे सम्पूर्ण जगत अनन्त दु:खोंका पात्र हो
ा है। यदि दु:खसे मुक्त होना चाहते हो, परमें ममता त्यागो।

(भाद्रपद शु० १५)

सबसे प्रथम आत्माकी आराधना करो जो मार्गको दिखाने
ला है। यही आराध्य देव है। उसमें अचिन्त्य सामर्थ्य है। यह
हे तो आत्माको उसे स्थानपर लेजाने जहाँपर आत्मामें अठारह
र जन्म-मरण अनंतकाल भुगतना पड़े। और यह चाहे तो ऐसे
ानपर ले जावे जहाँसे फिर आगामी काल कहीं पुनरागमन न
ने। यह लिखना सहज है, परन्तु करना कठिन है। विकल्पका
ना सरल है, किन्तु उसका करना अति कठिन है। कठिन ही
ीं अति कठिन है। अतः जिन्हें सुख चाहना है उन्हें विकल्पोंका
्याग करना चाहिए। केवल कथा करनेसे कोई लाभ नहीं।

(आश्विन कृ० १२)

परमार्थमें क्षमा, अन्तरंग शान्तिभावकी प्राप्ति हो जाना यही
। किन्तु हम लोग परसे क्षमा मांगते हैं और परको देते हैं। यह
यहार है, उसे त्यागना ही श्रेय है। इसपर लोगोंकी दृष्टि नहीं।

(आश्विन कृ० ३)

ना काम करो, दृढ़ निश्चयसे करो। परकी कल्याण कथा

ड़ो। श्रेयोमार्ग पर दृष्टिपात करो। केवल गल्पवादमें समय न
माओ।

(आश्विन कृ० ६)

आत्मद्रव्य है इसमें क्या प्रमाण है? आपका कहना ही
समें प्रमाण है। आपके यह भान हुआ, जो मैं कौन हूँ? जिसने
ह इच्छा हुई वही तो आप हो।

(आश्विन कृ० ७)

काम समारम्भ दुःखकी खानि है और अर्थ अनर्थका कारण
। इन दोनोंका मूल धर्म (गुण) है। अतः इसमें मग्न न हो।
पुत्र मित्र-कलत्राणि न हि सुखकारणानि, एतानि मोहं
रित्यज्य मोक्षमार्गे प्रवृत्ति कुरु।

(आश्विन कृ० १०)

परके ऊपर दया करना उसका चिह्न है जो वह उसके न्यारा
रनेवाला मैं कौन हूँ? जब मैं स्वयं दुःखी हूँ परके ऊपर क्या न्यारा
रहूँगा? जिसपर दया करता हैं, उसे लघु मानता है। यही तो
महती अज्ञानता है।

(आश्विन कृ० ११)

परसे समागम करना ही परम दुःखका कारण है। दुःख अन्य
वस्तु नहीं, आत्मामें आकुलता ही दुःखकी जननी है। यदि इससे
पृथक् करनेकी इच्छा है तब परके समागमको त्यागो। गल्पवादमें
कुछ नहीं होता। कर्तव्य पथमें आओ, कुछ करके दिखाओ।

(आश्विन कृ० १२)

व्यग्रता त्यागो, कोई भी काम हो शान्तिपूर्वक करो। शान्तिके
अर्थ अशान्त होना महान् अनर्थका जड़ है। अनर्थ परम्परासे
शान्ति बहुत दूर हो जाता है। अतः कोई भी परिस्थिति आजाय

इसमें व्यग्र मत होओ। व्यग्रतामें कायम बाधा ही होगी। केवल शांतिका लाभ भी न होगा।

(आश्विन कृ० ११)

अनेक प्रकारके विकल्प उठते हैं जो प्राय व्यर्थ हैं। उचित तो यह है जो सब कल्पनाओंको त्यागकर यथार्थ आप ही रह जाए। फिर कौन पदार्थके सदृश केवल आपही आप कल्याणका विषय रह जावेगा। उस कालमें जो कल्पना जानसे नाना प्रकारके आकुलताजन्य दुःख होते थे वे स्वयमेव शांत हो जावेंगे।

(आश्विन कृ० ३०)

प्रत्येक प्राणीसे सुसमागम लगानेका प्रयत्न करो। किसीको बुरा मत समझो। सब प्राणी आत्मीय परिणतिके अनुकूल प्रवर्तन करते हैं। आज जिसे आप विपरीत मान रहे हो, कल उसीको सुपरीत समान लगाओगे। जैसे शीतकालमें घाम सुहाता है, वही गर्मीके कालमें असुहावना लगता है। अतः सहसा कोई सिद्धांत स्थिर मत करो।

(आश्विन शु० २)

विरागी व्यग्रतामें कोई भी इष्ट सिद्धि नहीं होती। केवल पापका बन्ध होता है। पुण्य-पाप दोनों विकृत भाव हैं। इनसे पर जो भाव है वही शांतिका दाता है। शांति संसारमें कहीं नहीं, शांतिका उदय स्वयं आत्मामें होता है। आवश्यकता स्वच्छताकी है।

(आश्विन शु० ४)

कोईका अनिष्ट चिन्तन मत करो। किसीका हित हो इसका हर्ष मानो। परका उत्कर्ष देखकर हर्ष मानो। किसीको दुष्ट देख उसे सज्जन बनानेकी चेष्टा करो। उसकी निन्दा मत करो। धर्मके

विपाकसे प्राणी कहाँ-कहाँ नहीं जाता। यह सर्व विकृत परिणामोंका ही तो विपाक है, उन्हें त्यागो।

(आश्विन शु० ५)

परकी आशासे जो कल्याण चाहते हैं वह गर्तमें पात करते हैं।

(आश्विन शु० ६)

जिससे मनमें कलुषता आवे, वह परिणाम त्यागो। पर पदार्थको दुःखदायी मत मानो। आगम जो ज्ञान उत्पन्न हो उस परसे विशुद्धता और सम्यक्शांतिकी कल्पना करो। परका व्यर्थ उपालम्भ मत दो। यह तुम्हारी कल्पना ही तो है उसका अंश भी तुममें नहीं आता।

(आश्विन शु० ८)

पाप कार्योंसे भय करो, अन्यसे भय करनेकी आवश्यकता नहीं। निज स्वरूपकी आराधना करो, परकी आराधना कुछ लाभप्रद नहीं, संसारकी जड़ है।

(आश्विन शु० ९)

वही महान् पुरुष है। जो अपने दोषोंको देखकर पृथक् करनेकी चेष्टा करता है।

(आश्विन शु० १०)

निर्भीक रहो। भयसे आत्मा पतित होजावेगा। मोक्ष-मार्गसे वञ्चित होना पड़ेगा, पाप मत करो। परमेश्वरकी आराधनाकी आवश्यकता नहीं।

(आश्विन शु० ११)

ईश्वरकी उपासनासे ईश्वर नहीं होता और धनादिके व्ययसे आत्मा शान्ति नहीं पाता। आप स्वयं अपनेको अपनाओ, यही शांति और सुखका मार्ग है। आगम पढनेसे आत्मा ज्ञाता व्यवहारमें होजाता है, परन्तु उसमें पारमार्थिक ज्ञानका लाभ नहीं।

(आश्विन शु० १२)

परका सम्बन्ध जबतक है तब तक ही संसार है। परके सम्बन्धका अर्थ यह है जो निज भावसे परको अपना मानना है वही त्यागने योग्य है। अथवा जो भाव हो गया उसका त्याग ही क्या हो सकता है? उसमें उपेक्षा बुद्धि ही श्रेष्ठ है।

(आश्विन शु० १२)

निर्मल परिणामका यह अर्थ है जो आत्मामें कलुषता न आवे। कलुषताका यह अर्थ है जो आपकी परिणतिको क्रोधादि रूप न होने देवे।

(आश्विन शु० १४)

आनन्दसे जीवन यापन करो, विशेष चिन्ता त्यागो। कैसे ही प्रबल उपदेष्टा उपदेश देकर सुधारनेकी चेष्टा करें और तुम उनके मर्मको जान जाओ, परन्तु जबतक परपदार्थोंसे ममत्व न त्यागोगे तबतक आन्धे औंधे रहोगे। पर पदार्थोंका सम्पर्क छूटना ही कल्याणका मार्ग है।

(आश्विन शु० १५)

विरोध आनेपर संतोष करो, बिना विरोधके कार्यसिद्धि नहीं होती। विरुद्ध सामग्रीके समवधान होनेपर जिसके आत्मामें विषाद नहीं होता वही पक्का योद्धा है। समरभूमिमें जिसने पीठ दिखा दी वह शूर नहीं, कायर है। कायरोंसे देशका कल्याण नहीं।

(कार्तिक कृ० १)

बहुत विकल्प करना अपनेको दुःखी बनानेका उपाय है। आपको आप रहने दो, फिर किसी आराधनाकी आवश्यकता नहीं। जो मनुष्य अधिक विकल्प करते हैं वे किसी कार्यके अधिकारी नहीं। क्योंकि सामग्री अल्प विकल्प बहुत, अतः जो सामग्री है वह भी बेकार जाती है।

(कार्तिक कृ० २)

शान्तिमें कउ [illegible]
यानि है। [illegible]
विमुक्त [illegible]
बिना रोकके [illegible]
[illegible]

[illegible]
पाव, [illegible]
देखना [illegible]
हावे हैं [illegible]
[illegible]

[illegible]

तक कह, परमात्माको भी अपना मित्र मत मानो। यह तो वीत राग है।

(कार्तिक कृ० १०)

किसी कार्यकी चिंता मत करो। कार्यकी सिद्धिका मूल कारण उत्साह है। उत्साहहीन मनुष्य कुछ नहीं कर सकता। आत्मामें अनन्त शक्तियाँ हैं। उनके कार्य उत्साहसे ही व्यक्त होते हैं। मोही जीव निरन्तर दुःखी रहते हैं।

(कार्तिक कृ० ११)

किसीसे भी स्नेह न करना। संसारका मूल कारण यही है। बल्कि यह। स्नेह संसार है। इसके सत्त्वमें ही तिल घानीमें पेला जाता है। लोभ भी स्नेहकी पर्याय है। जिन्होंने इसको वश किया धन्य परमेश्वर हैं।

(कार्तिक कृ० १२)

परको प्रसन्न करनेकी अपेक्षा आत्माको आत्मा जानो। इतरको आत्मा मत जानो। सर्व आत्मा आत्मीय परिणामके कर्ता हैं। तुम व्यर्थ कर्ता बनते हो।

(कार्तिक कृ० १३)

प्रतिष्ठा की लिप्सा पतनका कारण है। वैसे तो परको निज मानकर आत्मा फँसा ही है। प्रतिष्ठाका अर्थ है, हम संसारमें उच्च कहलावें। उच्चनीच दोनों ही विकार हैं। इनमें हर्ष विषाद ही संसारका कारण है। संसार दुःखमय है। जो संसारके कारणोंमें रत हैं वह मूढ़ है।

(कार्तिक कृ० १४)

परका संग छोड़ो और एकाकी रहो, इसीमें आनन्द है। परका समागम ही आपत्तिका मूल है। आपत्तिका अर्थ यह है जो परके

समागमसे प्रथम तो उसमें ममता बुद्धि होती है। ममतासे ममताका अभाव होजाता है। तब आत्मा दुखी होता है।

(कार्तिक सु० १)

आत्मा जो कहे, सो करो। यही कल्याणका मार्ग है और जहाँ कल्याण है वहीं शान्ति है। शान्तिके अर्थ सर्व प्रयास हैं। बिना शान्तिके कुछ तत्त्व नहीं। अथवा इसी प्रकार संसारकी यातनाएँ सहन करनी पड़ेंगी। केवल गल्पवादकी प्रवृत्तिसे संसारको बनाना है।

(कार्तिक सु० ५)

संकोचका त्याग करो। कोपीनमात्रकी लालसा आकिंचन भावनाकी बाधिका है। संसारकी चिंतासे कहाँ तक शान्ति मिलेगी? बुद्धिमें नहीं आता। रात-दिन उत्तमसे उत्तम ग्रन्थोंमें विवेचन मिलता है। परन्तु हम वहीं के वहीं हैं।

(कार्तिक सु० ७)

बन्धन ही दुःखका मूल है। बन्धन स्नेहमूलक है। स्नेह मोह मूलक है। बिना पर द्रव्यमें निजत्वकी कल्पनाके राग नहीं। जब हम पर को अपना मानते हैं तब इन विकारोंकी सृष्टि होती।

(कार्तिक सु० ८)

संकोचसे सब प्रकार हानि होती है। प्रथम तो अपना आत्मा भयभीत हो जाता है। तथा यथार्थ बात न करनेसे अन्यका वास्तविक जो कार्य है वह रुक जाता है।

(कार्तिक सु० ९)

प्रकृति नाम स्वभावका है। जिसकी जो प्रकृति है उसे अन्यथा करनेको कोई समर्थ नहीं यह सत्य है, परन्तु ऐसा नियम है, अज्ञानका अभाव कर सकते हैं, क्योंकि वह पर्याय है। पर्याय

क्षणभंगुर है। इसके बाद अन्य पर्याय होती है। यदि मोह मिट जाये तब आत्माका अज्ञान पर्याय मिट सकती है।

(कार्तिक शु० १०)

परमार्थसे विचार किया जाय तो लौकिक प्रतिष्ठा पतनका ही कारण है क्योंकि उसमें हर्ष मानना ही बन्धका जनक है। बन्ध का मूल कारण मोह है।

(कार्तिक शु० ११)

धार्मिक मनुष्योंके सद्‌वाक्योंमें दिन बिताओ। गल्पवादवाले मनुष्योंकी संगति त्यागो। जो त्यागी भी हो, यदि वह लिप्सावान है तब उसका समागम त्यागो। धार्मिक मनुष्योंकी वृत्ति देखकर प्रमोद भावना भाओ।

(कार्तिक शु० १२)

आत्म द्रव्य ज्ञान-दर्शनका पिण्ड है किन्तु अनादिकालसे शरीर का सम्बन्ध है। अतः शरीरके साथ मोह है। उसकी रक्षाके लिए आहारादि विविध उपाय जीव करता है।

(कार्तिक शु० १४)

त्याग उत्तम धर्म है परन्तु उसका स्वरूप समझनेमें कुछ भ्रान्ति है। जैसे स्नान करनेसे शरीरमें स्फूर्ति आती है। शरीरकी निर्मलतासे हम अच्छा कार्य कर सकते हैं।

(कार्तिक शु० १५)

जो मनुष्य उत्तम विचारमें गिरे हैं उनसे न तो इस लोक सम्बन्धी कार्य हो सकता है और न परलोकका हो सकता है? वे इस लोकसे भी पतित हैं और परलोकसे भी वञ्चित हैं। आत्म कल्याणका मार्ग उपेक्षा है। उपेक्षा संसारका नाश करनेवाली है। संसारका कारण मोह राग-द्वेष है। इनमें मोह ही मुख्य है। यही परम निकृष्ट कल्पनाका कारण है।

(मार्गशीर्ष कृ० १-२)

बहुत विवादसे कोई स्वात्मसिद्धि नहीं होती। स्वात्मसिद्धिका मूल कारण पर पदार्थसे सम्बन्ध छोड़ना है। पर पदार्थ कुछ बलात्कार नहीं करता। जो तुझे ग्रहणकर यह आत्मा अपने राग भावसे स्वयं किसीको ग्रहणकरता है और किसीको त्यागता है। जो अनुकूल है उसे ग्रहण करता है, प्रतिकूलका त्याग करता है।

(मार्गशीर्ष कृ० ३)

इस भीषण संसारमें अनादिसे यह जीव पर पदार्थमें निजत्वकी कल्पना करता है। जिसमें निजत्व मानता है उसे अपनानेकी चेष्टा करता है। उसमें अति प्रेम करता है, उसको किसी प्रकार बाधा न पहुँचे ऐसा प्रयत्न सतत करता है। यदि उसके प्रतिकूल हुआ तब उससे पृथक् होनेकी चेष्टा करता है।

(मार्गशीर्ष कृ० ४)

इस संसार अटवीमें अनन्तकाल भ्रमण करते-करते आज यह अलब्ध मनुष्य पर्यायका लाभ हुआ। यह भी कथनमात्र है, अनन्त बार यह पर्याय पायी। पर्याय ही नहीं पायी, अनन्तबार द्रव्यमुनि होकर अनन्तबार ग्रैवेयक तक गया जहाँ इकतीस सागरकी आयु पाई, तत्त्वविचारमें समय गया, किन्तु स्वात्मज्ञानसे वञ्चित रहा। अब अवसर अच्छा है यदि अंतरंगसे परिश्रम किया जावे तब अनायास ज्ञानका लाभ हो सकता है। भेदज्ञान वह वस्तु है जिसके होते ही यह आत्मा अनन्त संसारके बन्धनका छेद करता है। भेदज्ञानके अभावमें जो हमारी दशा हो रही है वह हमको विदित है। उसके बिना हम परको अपना मानते हैं।

(भिण्डके मार्गमें मार्गशीर्ष ६-७)

हम निरन्तर यही प्रयास करते हैं जो यह पदार्थ हमारे अनुकूल रहे। पदार्थ दो तरहके हैं-एक चेतन और एक अचेतन। अचेतन पदार्थ तो जड़ हैं। उनमें न तो राग है और न द्वेष है।

यह न तो किसीका भला करते हैं और न किसीका बुरा करते हैं। हम स्वयं अपना रुचिसे अनुकूल प्रतिकूल द्रव्य कल्पनाकर बुरा-भला मान लेते हैं। इसमें कारण हमारी रुचिभिन्नता है।

(मार्गशीर्ष कृ० ८)

पदार्थकी उत्पत्तिमें केवल उपादान कुछ कर सकता है और निमित्त कुछ कर सकता है। यद्यपि कार्यका महत्व उपादानमें ही होता है।

(मार्गशीर्ष कृ० १०)

सामग्री कार्यकी उत्पत्तिमें सहायक होतीहै। सामग्रीमें एक उपादान और इतर सहकारी अनेक होते हैं। जैसे कुम्भकी उत्पत्तिमें मिट्टी उपादान और कुम्भकार आदि सहकारी होते हैं। इन सहकारियोंमें चेतन भी होते हैं और अचेतन भी होते हैं। अचेतन कारण हों चाहे चेतन हों, बलात्कारसे कार्य उत्पन्न नहीं करते। किन्तु उनकी सहकारिता अति आवश्यक है।

(मार्गशीर्ष शु० ४-६)

गल्पवादसे आत्मा सुमार्गसे च्युत हो जाता है। आत्मामें जो आकुलता होती है उसका एक कारण यह गल्पवाद भी है। पर पदार्थोंका परिणमन होता है। इसमें आपका न लाभ है और न हानि है। तुम व्यर्थ उसे अपना मानकर दुःखके भोक्ता बनते हो।

(कृष्ण मार्गशीर्ष शु० १२)

हे आत्मन्! तुम्हारी शक्ति अचिन्त्य है। अनीक पदार्थोंसे तुम चेतकर संसारकी विभूति दिखाते हो। और जिस दिन उनसे सम्पर्क छोड़ दोगे, आनन्दके पात्र होंगे। व्यर्थ मायाके जालमें पड़कर अपनी परिणतिको कलुषित करते हो।

(कृष्ण मार्गशीर्ष शु० ११)

परिणामोंकी जाति असख्य प्रकारकी है। जहाँतक बने इसे न्यून करो। निरलनाल ही से आकुलता होती है। ज्ञानमें ज्ञेय ज्ञानमें कोई प्रकारकी आकुलता नहीं। आकुलताका उपादान मोह रागद्वेष है, करना कुछ और करना कुछ यही महती अज्ञानता है

(बाबल्तटपर मार्गशीर्ष सु० १५

ज्ञानावरण आत्मासे ज्ञानगुण जिसका प्रकाश प्रकट नहीं होने देता। उसमें मूल कारण मोह परिणाम है जो यह दुदशा कर रहा है। जिन महापुरुषोंने इसपर विजय प्राप्त की व धन्य हैं।

(मार्गमें पौष कृ २

जो स्वाभिमानी है वह इतरको तुच्छ मानता है। इतरके उत्कर्ष न सहना यही महती अज्ञानता है। जहाँ अज्ञानता है वहाँ पर भेदज्ञान होना असम्भव है। सर्व जीव सामान्य रूपसे,समान हैं कर्मकृत भेदसे भिन्न हैं। कोई उत्तम हैं, कोई मध्यम और जघन्य हैं। इन भेदोसे सर्वथा तुच्छ मानना ज्ञानी जीवोंको अच्छा नहीं।

(मार्गमें पौष कृ ३

परमार्थसे देखा जावे तब केवल निजकी परिणतिसे हम च्युत हैं। अत इन लोगोंने चक्रम आजाते हैं।

(पौष कृ० ४

परका समागम सुखद नहीं, क्योंकि परके समागमसे अनेक विकल्प होते हैं। विकल्प ही आकुलताके जनक हैं। आत्मामें ज्ञान है। उसमें वह उस विकल्पके अनेक अर्थ स्वरुचिके अनुकूल ही लगाता है। और कुछ यथाथ भी लगता है तब उनको रखनेकी चेष्टा करता है।

(पौष कृ० ५

परके समागममें अनिष्ट और इष्ट कल्पना मत करो। इष्टानिष्ट कल्पना अतरगसे होती है। अत यदि समागमको नहीं

चाहते हो तब अन्तरंगकी कल्पना त्याग दो। परको इष्ट अनिष्ट माननेकी बातको त्यागो। दोष आपमें देखो, तभी सुमार्ग मिलेगा।

(पौष कृ० ६)

आज मन पूर्ण हुआ और वर्षमें सब बदल जावेगा। संसारका चक्र इसी प्रकार चल रहा है। इसमें हर्ष विषादकी बात नहीं। संसारकी दशा सदा यही रहेगी और हम जैसे हैं वैसे ही रहेंगे। बहुत अभ्यास किया परन्तु शान्तिके उपायमें असफल ही रहे। इसका कारण मोहकी प्रबलता ही पाई गई।

(पौष कृ० ७)

